हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन

(लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत प्रबन्ध)
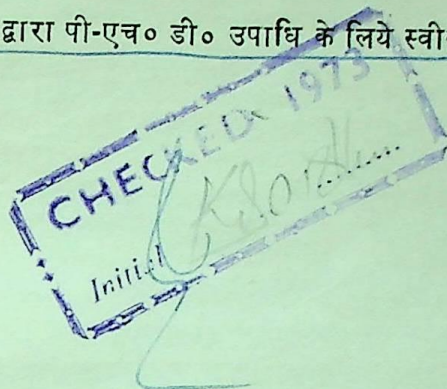
लेखक--डॉ० लक्ष्मीनारायण गुप्त
एम० ए०, पी-एच० डी०

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण
११००

संम्वत् २०१८ विक्रमीय

प्रकाशक—
लखनऊ विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग
लखनऊ

मूल्य १२) बारह रुपये

मुद्रक—
पं० मदन मोहन शुक्ल 'मदनेश'
साहित्य-मन्दिर प्रेस, लखनऊ

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के अवसर पर विसवाँ-शुगर-फ़ैक्ट्री की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्च कोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला' में संग्रंथित होंगे। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी साहित्य के भण्डार की समृद्धि करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय।

उपोद्‌घात

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज का नाम भारतवर्ष में ही नहीं अपितु देश-देशांतरों में व्याप्त है। १९वीं शती के अन्त से आर्यसमाज ने भारतवर्ष में सामाजिक सुधारों के साथ राष्ट्रीय जागरण की शंख-ध्वनि भी की। किसी भी देश की राष्ट्रीयचेतना में राष्ट्र भाषा का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। लार्ड मैकाले ने इस देश में अंग्रेजी भाषा का प्रचार कर भारतीयों को रंगरूप में तो नहीं किन्तु मन और हृदय से अंग्रेज बनाने की चेष्टा की थी। मैकाले अपने इस प्रयास में सफल हुआ। अंग्रेजी भाषा का पठन देशव्यापी हो गया और शिक्षित भारतवासियों की एक बड़ी संख्या, वेशभूषा और भाषा-प्रयोग में अंग्रेजी बन गई। इसमें संदेह नहीं कि यदि स्वामी दयानन्द जैसा क्रान्तिकारी और मेधावी पुरुष सामाजिक और धार्मिक अन्ध विश्वासों में सुधार और समस्त देश में एक राष्ट्रभाषा के प्रचलन का आन्दोलन न करता तो देश की राष्ट्रीय जागृति न जाने कितना पिछड़ गई होती। वास्तव में राष्ट्र भाषा हिन्दी के उत्थान में स्वामी दयानन्द का महत्वपूर्ण योग है।

आर्यसमाज ८५ वर्ष से हिन्दी के प्रचार का आन्दोलन कर रहा है। हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों की उन्नति में आर्यसमाज के विद्वानों ने अथक परिश्रम, लगन और निष्ठा से कार्य किया है। स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के इस महत्वपूर्ण कार्य के विवरण तथा उसके अध्ययन को प्रस्तुत करने की आवश्यकता बहुत समय से थी। आर्यसमाज द्वारा हिन्दी के उत्थान के समस्त कार्य-कलापों का व्यवस्थित विवरण अप्राप्य ही था। इसी आवश्यकता को ध्यान में रख कर मैंने यह कार्य श्री लक्ष्मी नारायण गुप्त को शोध-प्रबन्ध रूप में दिया था। मुझे संतोष है कि प्रस्तुत प्रबन्ध द्वारा इस कार्य की पूर्ति हुई है। यह प्रबन्ध आर्यसमाज के दृष्टिकोण से तो महत्वपूर्ण है ही, हिन्दी आलोचना-साहित्य में भी अनेक ज्ञातव्य तथ्यों, धारणाओं और समीक्षात्मक विचारों के प्रकाशन की दृष्टि से भी विशिष्ट है।

इस प्रबन्ध में चतुर्थ, अष्टम् और नवम् अध्याय विशेष महत्वपूर्ण हैं। चतुर्थ अध्याय में आर्यसमाज के प्रारम्भ से अब तक के दुष्प्राप्य समाचार पत्रों और पत्रिकाओं का वर्णन है। इनमें से अनेक पत्रिकाओं का वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। अष्टम् अध्याय में विदेशों में आर्यसमाज द्वारा किये गये हिन्दी-प्रचार सम्बन्धी कार्यों का वर्णन हैं। आर्यसमाज ने किन विषम परिस्तिथियों में अनेक कठिनाइयों के होते हुये विदेशों में हिन्दी प्रचार किया, इस बात से हिन्दी-संसार अनभिज्ञ था। पूर्व एवं दक्षिण अफ्रीका, मोरिशस, फीजी आदि दूर देशों और द्वीपों में हिन्दी का प्रचार एक प्रशंसनीय और साहस

का कार्य है। सुदूर देशों का हिन्दी-प्रचार सम्बन्धी गतिविधि का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ में सुचारु रूप से दिया गया है।

आर्यसमाज द्वारा हंटर कमीशन के सम्मुख हिन्दी को शिक्षा माध्यम रूप में प्रस्तुत करने के प्रयासों का विवरण लेखक ने नवम् अध्याय में दिया है। स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ महात्मा गाँधी ने हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा घोषित किया था। भाषा नीति के सम्बन्ध में आर्यसमाज के प्रयासों से भी महात्मा जी परिचित थे। उनको अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार के कार्य को अग्रसर करने की प्रबल आशा आर्यसमाज से थी। इस सम्बन्ध में आर्यसमाज से महात्मा जी के सम्पर्क का विवरण भी इस अध्याय में है। न्यायालय और संसद में हिन्दी के हितों की रक्षा और उसके प्रचार के हेतु आर्य समाज द्वारा किये गये कार्यों का विवरण भी लेखक ने दिया है।

डा० लक्ष्मी नारायण गुप्त मेरे प्रिय और सुयोग्य विद्यार्थी रहे हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध उन्होंने मेरे ही निर्देशन में लिखा है। सामग्री-सम्पादन के लिए उन्होंने अनेक स्थानों का भ्रमण किया और दुष्प्राप्य संदर्भों को खोज निकाला है। पी० एच० डी० की परीक्षा में यह मौलिक एवं गवेषणापूर्ण सिद्ध हुआ है। परीक्षकों ने इसकी भूरिभूरि प्रशंसा की है। इस ग्रंथ के प्रकाशन से हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास की बिखरी हुई कड़ियाँ जुड़ेगी, अवसर मिलने पर डा० लक्ष्मी नारायण गुप्त और भी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन करेंगे ऐसी मुझे आशा है। उनके लिए मेरी मंगल कामनाएँ हैं।

डा० दीन दयालु गुप्त
एम० ए०, एलएल० बी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

दीन दयालु गुप्त
९-१२-६१

प्राक्कथन

आर्यसमाज भारतवर्ष की एक जीवित जाग्रत और अग्रगामिनी संस्था है। नवभारत के निर्माण, सामाजिक सुधारों के प्रचार और राष्ट्रीयता के उत्थान में इस संस्था का प्रमुख भाग ही नहीं है अपितु उक्त महत्वपूर्ण कार्यों के श्रीगणेश का श्रेय भी इसे प्राप्त है। भारत की राष्ट्रभाषा का प्रश्न इस शती के प्रारम्भ से एक गम्भीर समस्या के रूप में हमारे सम्मुख रहा है। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सर्वप्रथम १९वीं शती के चौथे चरण में एक राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठाया और इस हेतु उन्होंने गुजराती होते हुये भी, आर्यभाषा (हिन्दी) को ही इस पद के योग्य बताया। अपने जीवन काल में उन्होंने, भाषण, शास्त्रार्थ, ग्रंथ लेखन और उपदेश द्वारा इसका प्रचार किया, हिन्दी के माध्यम द्वारा जनसाधारण को वेद सुलभ किये, हिन्दी भाषा और साहित्य को नये उपादान प्रदान किये और प्रत्येक आर्य समाजी के लिये हिन्दी का पढ़ना अनिवार्य कर दिया। स्वामी जी के दिवंगत होने के पश्चात आर्यसमाज ने स्वामी जी के अधूरे कार्य को आगे बढ़ाया और हिन्दी-प्रचार को भी प्रोत्साहन दिया। इस कार्य में यथा सम्भव सफलता भी मिली। देश और विदेश में आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रचार का जो महत्वपूर्ण कार्य किया उससे हिन्दी जगत अनभिज्ञ सा है। अब तक कोई ऐसा प्रबन्ध अथवा ग्रंथ हिन्दी पठित वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया गया जिससे आर्यसमाज और उसके संस्थापक द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति किये गये कार्यों पर प्रकाश पड़ता। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु लिखा गया है।

इस प्रबन्ध में नव अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में आर्यसमाज की स्थापना के समय राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक दशा पर प्रकाश डाला गया है और तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द सरस्वती का संक्षिप्त जीवन चरित दिया है। दूसरे अध्याय में स्वामी दयानन्द के धार्मिक सिद्धान्त और जिन साधनों द्वारा उन्होंने हिन्दी-प्रचार किया उनका वर्णन है। तीसरे अध्याय में आर्यसमाज और उसकी प्रमुख संस्थाओं द्वारा किये गये हिन्दी कार्यों का वर्णन है। चौथे अध्याय में आर्यसमाज के पत्र और पत्रिकाओं के विषय में लिखा गया है।

पाँचवा अध्याय आर्यसमाज ने गद्य-साहित्य के विषय में लिखा है। इस अध्याय में केवल उसी गद्य-साहित्य का परिचय दिया गया है जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं। षष्ठ अध्याय में आर्यसमाज का पद्य साहित्य वर्णित है। इसमें भी आर्य समाज के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार, स्वामी दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में लिखे

गये प्रबन्ध काव्य एवं कविताओं का आलोचनात्मक उल्लेख है। आर्यसमाजी कवियों द्वारा लिखे गये अन्य साहित्यिक विषयों का वर्णन यहाँ नहीं दिया गया। आर्यसमाज के भजनीकों और साहित्यिक कवियों ने वर्तमान हिन्दी काव्य को किस प्रकार प्रभावित किया है इसकी भी समीक्षा की गई है।

सप्तम अध्याय, साहित्यिक क्षेत्र में प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वानों के रचनात्मक कार्य के विषय में है। इस अध्याय में उच्च कोटि के आर्यसमाजी विद्वानों की अत्यन्त प्रसिद्ध कृतियों से परिचय कराने का प्रयत्न किया गया है जिससे साधारण रूप से यह ज्ञान हो सके कि इन विद्वानों ने केवल धार्मिक साहित्य का ही सृजन नहीं किया अपितु साहित्यिक क्षेत्र में भी वे चोटी के विद्वानों के समकक्ष हैं। इस क्षेत्र में आर्यसमाजी विद्वानों की रचनाओं का परिचयात्मक विवरण ही दिया गया है।

अष्टम अध्याय विदेशों में आर्यसमाज द्वारा किये गये हिन्दी-कार्य के सम्बन्ध में है। भारतवर्ष से दूर, फीजी, मोरिशस, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों में जहाँ जहां भारतीय बस गये हैं वहां वहां आर्यसमाज ने धर्म-प्रचार के साथ साथ हिन्दी भाषा का भी प्रचार किया परिणामस्वरूप उन देशों की महत्वपूर्ण संस्थाओं में आज हिन्दी का पठन-पाठन प्रचलित है। अनेक आपत्तियों, बाधाओं और कठिनाइयों को सहन कर विषम परिस्थिति में आर्यसमाजियों ने वहाँ स्तुत्य कार्य किया है। यह अध्याय विशेषकर 'प्रवासी की आत्म कथा' 'विदेशों में एक वर्ष' 'दक्षिण अफ्रीका में धर्मोदय' और विदेशों के आर्य विद्वानों से प्राप्त पत्रों के आधार पर लिखा गया है। इस प्रकार के दो अत्यन्त प्रसिद्ध पत्र जो ख्याति-प्राप्त आर्यप्रचारक पंडित सत्यपाल जी और पंडित उषर्बुध जी के द्वारा पूर्वी अफ्रीका से प्राप्त हुये हैं, परिशिष्ट में दिये गये हैं।

नवम् अध्याय में आर्यसमाज द्वारा सामूहिक रूप से हंटर कमीशन के सम्मुख हिन्दी के पक्ष-समर्थन का विवरण है। दक्षिण, पंजाब एवं अन्य प्रान्तों में हिन्दी प्रसारार्थ इस संस्था ने प्रतिकूल परिस्थिति में जो कार्य किया उस पर भी विचार किया गया है। पंजाब की परिस्थिति का ज्ञान पंडित रामनारायण जी मिश्र द्वारा नारायण अभिनंदन ग्रंथ में लिखित 'आर्य समाज और हिन्दी' नामक लेख से भी ज्ञात हुआ है। प्रसिद्ध आर्य समाजी स्वर्गीय बाबू मदनमोहन सेठ ने जो उत्तर प्रदेश के विभिन्न नगरों में जज रहे हैं, हिन्दी में बयान लिखने का साहसपूर्ण एवं स्तुत्य कार्य किया। इस सम्बन्ध में उन्हें अनेक बाधाओं से उलझना पड़ा जिसका आभास इसी अध्याय में दिया गया है।

इस ग्रंथ में आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं। आर्यसमाज का संगठनात्मक विवरण अत्यन्त संक्षेप में दिया गया है और जो कुछ दिया गया है वह केवल हिन्दी प्रचार के दृष्टिकोण से दिया है।

पूज्य गुरुवर श्री डाक्टर दीनदयालु जी गुप्त की प्रेरणा, निर्देशन और प्रोत्साहन से ही यह प्रबन्ध लिखा गया है। उनके ऋण से उऋण होना संभव नहीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रसिद्ध कार्य कर्ता स्वर्गीय पंडित रामनारायण जी मिश्र से बड़ी सहायता मिली उन्होंने अनेक निर्देश एवं कुछ आर्यसमाजी विद्वानों से मिलने के लिये परिचय पत्र भी दिये। वे समय समय पर प्रबन्ध पूर्ति के हेतु पत्र द्वारा प्रोत्साहन भी देते रहे। मैं उनका

अत्यन्त ऋणी हूँ। आदरणीय डा० भगीरथ जी मिश्र से इस प्रबंध के विषय में बहुधा विचार विमर्श हुआ है। उन्होंने उचित सुझाव दिये हैं। मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

डा० सरयूप्रसाद जी अग्रवाल और डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने इस प्रबन्ध के मुद्रणार्थ यथा संभव सहायता दी है मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

एक मास के गुरुकुल निवास काल में पंडित शंकर देव जी विद्यालंकार ने सब प्रकार से सहायता दी। पंडित हरिदत्त जी वेदालंकार और श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार की भी मुझ पर कृपा रही है। पूज्य पंडित वागीश्वर जी विद्यालंकार ने अनेक सुझाव दिये और गुरुकुल पुस्तकालय में अध्ययन की सुविधा प्रदान की। उक्त सभी महानुभावों का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। दिल्ली में पंडित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति ने आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखित वैदिक साहित्य से परिचय कराने की कृपा की। पंडित जगदेव सिंह जी सिद्धान्ती 'सम्राट्' पत्र के संस्थापक ने अपने यहाँ आश्रय दिया और मेरे साथ अनेक स्थानों पर गये। उनके साथ एक सप्ताह का निवास अविस्मरणीय है। दोनों सज्जनों के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ। कन्या महाविद्यालय जालंधर में आचार्या लज्जावती जी की कृपा से वहाँ के अतिथि शाला में रहकर कुछ सूचनायें प्राप्त कीं। माता लक्ष्मी देवी जी (पुत्र-वधू स्वर्गीय लाला देवराज जी) मेरे साथ शाखा विद्यालय गईं और 'पाँचाल पंडिता' एवं अन्य पत्रिकाओं की संचिकायें मेरे लिये सुलभ कर दीं। इन पूजनीया देवियों के प्रति श्रद्धावनत हूँ।

मेरे प्रिय मित्र डा० भगवती प्रसाद जी शुक्ल ने इस प्रबन्ध की नामानुक्रमणिका तैयार कराने में बड़ा परिश्रम किया है। उन्हें धन्यवाद देकर घनिष्ठता कम करने का साहस मुझमें नहीं है।

शुद्धि पत्र देने पर भी इस ग्रंथ में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनका निराकरण शीघ्रतावश न हो सका। पाठकगण क्षमा करेंगे भविष्य में सुधार कर दिया जायगा।

सोसाइटी पार्क
नरही लखनऊ

लक्ष्मीनारायण गुप्त

विषयानुक्रमणिका

उपोद्घात १-२

प्राक्कथन ३-५

प्रथम अध्याय

भूमिका

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामीदयानन्द : युग और व्यक्तित्व १-३१

राजनैतिक स्थिति १-४

१८५७ का विद्रोह और स्वामी दयानन्द ।

सामाजिक स्थिति ४-६

कुरीतियाँ—वर्णाश्रम व्यवस्था का विकृत रूप एवं अस्पृश्यता—नारी

धार्मिक स्थिति ७-११

१९वीं शती की धार्मिक कुरीतियाँ और ब्राह्म समाज द्वारा सुधार-प्रयत्न—समवर्ती धार्मिक आन्दोलन—ब्राह्म समाज—थियोसोफीकल सोसायटी ।

साहित्यिक स्थिति ११-१५

आधुनिक हिन्दी-काल और गद्य का विकास—फोर्ट विलियम कालेज और गद्य—ईसाई प्रचारक और हिन्दी-गद्य का प्रचार—एक विशेष घटना और हिन्दी का गतिरोध—हिन्दी गद्य और उसके विरोधी—राजा शिवप्रसाद और हिन्दी गद्य—राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेन्दु, स्वामी दयानन्द एवं हिन्दी गद्य ।

जीवन चरित १५-३१

जन्म और-बाल्यकाल—शिवरात्रि महोत्सव और चूहे की घटना—वैराग्योत्पादक घटना —गृह-त्याग—पिता द्वारा

पकड़ा जाना पुनः बन्धन मुक्त—सन्यास ग्रहण—वन-पर्वतों का भ्रमण और ज्ञान-संचय—गुरू की प्राप्ति और विद्याध्ययन—कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण—हरिद्वार कुंभ में प्रचार—और सर्वस्व त्याग—प्रचार और उसकी विधि—काशी शास्त्रार्थ—कलकत्ता-यात्रा और ब्राह्म समाज से सम्पर्क—हिन्दी का पक्ष—बम्बई यात्रा और आर्य समाज की स्थापना देहली और चांदापुर की यात्रा—पंजाब भ्रमण—पंजाब विश्वविद्यालय और वेद-पाठ्य—उत्तर भारत के नगरों में भ्रमण—राजपूताने की यात्रा का उद्देश्य—उदयपुर और शाहपुरा—जोधपुर—विष-प्रयोग और अन्तिम दिन—रुग्णावस्था में आबू प्रस्थान—परमपद की प्राप्ति ।

द्वितीय अध्याय

स्वामी दयानन्द का हिन्दी कार्य — ३२-१०४

गुरु दक्षिणा रूप में देशोपकार और वेदोद्धार की प्रतिज्ञा—कार्य सम्पन्नता की कठिनता—प्रारम्भिक प्रयत्न — ३२-३४

स्वामी दयानन्द के धार्मिक सिद्धान्त — ३४-३९

नवीन धर्म प्रचार न कर केवल धर्म सुधार ही उनका उद्देश्य था मान्य ग्रन्थ और सत्य-धर्म की कसौटी—ईश्वर जीव-प्रकृति—सृष्टि की उत्पत्ति—मुक्ति—मुक्ति प्राप्ति के साधन—आश्रम—पंच महायज्ञ—मूर्ति-पूजा का विरोध ।

वेद और स्वामी दयानन्द — ३९-५२

वेदों की उत्पत्ति—वेदों के विषय (१) ज्ञान (२) कर्म (३) उपासना और देवता का अर्थ—देवताओं के भेद—उपासना विधि—वेद नित्य हैं—वेद किन पुस्तकों के नाम हैं—ब्राह्मण ग्रंथ वेद नहीं हैं—वेदों में इतिहास—वेदों की शाखायें—वेदों के भारतीय भाष्यकार—वेदों के विदेशी भाष्यकार—विदेशी भाष्यकारों का उद्देश्य और शिक्षित जनता पर प्रभाव—भाष्य-जगत में क्रांति—स्वामी दयानन्द की अन्य मान्य ग्रंथों में आस्था—शास्त्रों के विषय में स्वामी जी के विचार—स्वामी जी के संस्कृत भाषण का कारण—भाषण का प्रभाव—बंगाल की यात्रा—हिन्दी के प्रति प्रेरणा—एक विशेष घटना—घटना का प्रभाव—ब्राह्म समाज से सम्पर्क और उसके परिणाम ।

आर्यसमाज की स्थापना और उसके नियम ५२-५७

सम्प्रदायवाद से हानि—आर्यसमाज की स्थापना और प्रारम्भिक नियम—आर्यसमाज के वर्तमान नियम—उप-नियमों में हिन्दी—स्वामी दयानन्द द्वारा हिन्दी प्रचार और कठिनाइयाँ—मुसलमानों और सर सैयद अहमद खाँ द्वारा विरोध—तासी का पक्षपात—सरकार द्वारा अड़चन—आन्तरिक कठिनाई।

स्वामी जी द्वारा हिन्दी-प्रचार के साधन ५७-७१

व्याख्यान-भाषण शैली—व्याख्यान के विषय में स्वामी श्रद्धानन्द का मत—विष्णु पंत का मत—उत्तरोत्तर उन्नति—व्याख्यानों में दृष्टान्त—स्वामी जी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ—चांदापुर में धर्म चर्चा मौलवी अहमद हुसेन और पादरी स्काट से शास्त्रार्थ—स्वामी जी के पत्र और विज्ञापन—विज्ञापन—राजाओं को उपदेश—स्वामी जी और उदयपुराधीश—महाराणा की भक्ति—महाराजा शाहपुरा से संपर्क—स्वामी जी और जोधपुर नरेश—महाराजा की तटस्थता—पत्रों द्वारा चेतावनी—राजकुमारों को सर्वप्रथम हिन्दी पढ़ाने का आदेश—विष प्रदान और स्वामी जी का बलिदान—हिन्दी छंदों में महाराणा सज्जन सिंह की श्रद्धांजलि।

स्वामी जी के ग्रंथ ७२-८५

सत्यार्थप्रकाश; रचना; प्रथम संस्करण का महत्व; प्रथम संस्करण के विषय; प्रथम संस्करण की भाषा और शैली—सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण; द्वितीय संस्करण की प्रामाणिकता; प्रथम और द्वितीय संस्करण का अन्तर; सत्यार्थ प्रकाश के विषय; सत्यार्थप्रकाश का महत्व; सत्यार्थप्रकाश के संस्करण; सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद—पंच महायज्ञ विधि—वेदान्तिध्वान्त निवारण—वेद विरुद्ध मत-खंडन—शिक्षापत्रीध्वान्त निवारण—आर्याभिविनय—संस्कार विधि—आर्योद्देश्य रत्न माला—भ्रान्ति निवारण—आत्म चरित्र—संस्कृत वाक्य प्रबोध—व्यवहार भानु—भ्रमोच्छेदन—गोकरुणानिधि।

व्याख्या ग्रंथ और अनुवाद ८५-८७

अष्टाध्यायी भाष्य—वेदांगप्रकाश।

वेद भाष्य ८७-९३

वेद भाष्य की आवश्यकता; स्वामी जी कृत वेद भाष्य की

विशेषता इन्द्रादि शब्द ईश्वरवाची है; हिन्दी भाष्य; स्वामी जी कृत वेद भाष्य का अंश; वेद भाष्य के हिन्दी लेखक; भाषा-भाष्य के उदाहरण; ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के विषय।

स्वामी दयानन्द और तत्कालीन प्रसिद्ध गद्य लेखक — ९३-९८

खड़ी भाषा गद्य-काल का प्रारंभ—राजा शिवप्रसाद की नीति—स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु—दोनों महापुरुषों की हिन्दी-सेवा की तुलना—स्वामी जी के ग्रंथों का प्रभाव—भारतेन्दु की उदारता और समाज-सुधार—तत्कालीन गद्य शैली की स्वामी जी की शैली से भिन्नता—नाटक के प्रति स्वामी जी के विचार।

स्वामी जी की गद्य शैली और उसके उदाहरण — ९८-१०४

गंभीर तर्क-शैली—करुणापूर्ण तर्क शैली—इति वृत्तात्मक शैली—हास्य और व्यंग्य की शैली (क) पुराण खंडन (ख) (ख) बाइबिल खंडन (ग) कुरान खंडन—आक्रमणात्मक शैली—खंडन का उद्देश्य और शैली।

तृतीय अध्याय

आर्यसमाज का संगठन और प्रमुख संस्थाओं द्वारा हिन्दी कार्य — १०५-१३५

विभिन्न प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना — १०५-११९

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा—आर्य प्रतिनिधि-सभा पंजाव—आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश—आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा—आर्य प्रतिनिधि सभा विहार—आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ—आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई प्रदेश—आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल व आसाम—आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद—आर्य प्रतिनिधि सभा सिंध—आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, सिंध व बिलोचिस्तान—श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर—भारत-वर्षीय आर्यकुमार परिषद्।

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं द्वारा हिन्दी का प्रचार — ११९-१२८

गुरुकुल शिक्षा और उसकी विशेषतायें—गुरुकुल कांगड़ी—गुरुकुल वृन्दाबन—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर—उत्तर प्रदेश के अन्य गुरुकुल—भारत के अन्य प्रांतों के गुरुकुल—

श्री मद्दयानन्द विद्यापीठ—दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज और स्कूल।

कन्या शिक्षण संस्थाओं द्वारा हिन्दी-सेवा १२९-३५

कन्या महाविद्यालय जालंधर—कन्या गुरुकुल देहरादून—आर्यकन्या महाविद्यालय बड़ौदा—कन्या गुरुकुल सासनी अलीगढ़।

चतुर्थ अध्याय

आर्य समाज के पत्र और पत्रिकायें १३६-१६०

हिन्दी पत्रों का प्रारम्भ और आर्य समाज १३६-१४५

हिन्दी पत्रों का प्रारंभ—पत्रकारिता क्षेत्र में ब्राह्म समाज का नेतृत्व—पत्रों द्वारा खड़ी बोली गद्य का निर्माण—आर्य समाज की पत्रकारिता और ईसाई प्रचारक—पत्रकारिता और आर्यसमाज का उद्देश्य—आर्यसमाज के प्रारंभिक पत्रों के विषय—भारतेन्दु और स्वामी दयानन्द के पत्र द्वारा हिन्दी प्रचार में अन्तर—आर्य सामाजिक पत्रकारिता-इतिहास के तीन उत्थान—प्रथम उत्थान काल के समाचार पत्रों का अस्थायित्व—द्वितीय उत्थान राष्ट्रीयता; शिक्षा; आर्य-कुमार आन्दोलन; पंजाब के उर्दू पत्रों की हिन्दी सेवा; मुसलमानों से विरोध; जन्म शताब्दी महोत्सव। तृतीयोत्थान—स्वामी श्रद्धानंद का बलिदान; स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव; विचार धाराओं में अन्तर; हैदराबाद का सत्याग्रह

आर्य समाज के पत्र और पत्रिकायें १४५-१६०

आर्य-दर्पण, आर्य-भूषण, भारत सुदशा प्रवर्तक, वेदप्रकाश, आर्यपत्र, आर्य समाचार, आर्य विनय, आर्य सिद्धान्त, आर्यावर्त, भारत भगिनी, राजस्थान समाचार, पदोपकारी, तिमिर नाशक, ब्रह्मावर्त, आर्यमित्र, पांचाल पंडिता, सद्धर्म प्रचारक, आर्य सेवक, दयानन्द पत्रिका, भारतोदय उषा, नव जीवन, सत्य सनातन धर्म, आर्य, ब्रह्मर्षि, धर्मवीर, आर्यकुमार, वैदिक मार्तण्ड, भारती, श्रद्धा, वैदिक सन्देश, हिन्दी जलविद सखा, अर्जुन, सत्यवादी आर्य मातण्ड, अलंकार, आर्य जगत, आर्य गजट, आर्य जीवन, गुरुकुल समाचार, सत्यवादी प्रकाश, सार्वदेशिक, हिन्दी विलाप, वेदोदय, गुरुकुल, आर्य संदेश, जागृति, सम्राट, गुरुकुल पत्रिका, वेदवाणी, वेदपथ, मानव पथ, आर्य शक्ति।

पंचम अध्याय

आर्य समाज का गद्य साहित्य १६१-१८३

आर्य समाज और गद्य साहित्य १६१-१६३

आर्य समाज का गद्य साहित्य और स्वामीजी का नेतृत्व; १९वीं शती का आर्य सामाजिक गद्य साहित्य; २०वीं शती के ग्रंथ खंडन मंडनात्मक साहित्य, अनुवाद ग्रंथ, मौलिक ग्रंथ, जीवन चरित।

आर्य समाज और विविध प्रकार के हिन्दी-साहित्य की समृद्धि में उसका योगदान १६३-१८३

पाठ्य पुस्तकें—नाटक—उपन्यास और कहानियाँ—जीवन चरित—स्वामी दयानन्द कृत 'दयानन्द प्रकाश' श्री देवेन्द्र नाथ कृत 'दयानन्द चरित'; पं० घासीराम द्वारा संपादित बृहत् जीवन चरित—अन्य आर्य नेताओं के जीवन चरित और आत्मकथा—वेद भाष्य एवं अन्य वैदिक साहित्य का अनुवाद—प्रसिद्ध विद्वानों की रचनायें—वैदिक विनय; स्वाध्याय सुमन; वरुण की नौका; आर्य सिद्धान्त विमर्श; नारायण स्वामी द्वारा रचित वैदिक साहित्य; वैदिक वाङ्-मय का इतिहास, यजुर्वेद अनुभाष्य; सातवलेकर का वैदिक साहित्य; वैदिक सम्पत्ति; अन्य ग्रंथ—मौलिक दार्शनिक ग्रंथ और लेख—गुरुदत्त लेखावली; उस ज्योति प्रथमज; आत्म दर्शन; मृत्यु और परलोक; कर्म रहस्य, आस्तिकवाद; जीवात्मा; अद्वैतवाद; पुरुषार्थ प्रकाश—लाला दीवानचंद के दार्शनिक ग्रंथ—आर्य धर्म—आर्य समाज का इतिहास, पं० नरदेव कृत; आर्य समाज का इतिहास, पं० इन्द्र कृत; आर्य समाज; आर्य समाज का इतिहास—कहानी उपन्यास और नाटक—प्रहसन; स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी; कंठी जनेऊ का विवाह; आर्यमत मार्तण्ड—लघु पुस्तिकायें (ट्रैक्ट) आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित ट्रैक्ट; उपाध्याय जी के ट्रैक्ट—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन।

षष्ठ अध्याय

आर्य समाज और हिन्दी पद्य-साहित्य १८४-२१८

आर्य समाज का पद्य-साहित्य और भजनोपदेशक १८४-१९८

आर्यसमाज के प्रादुर्भावकाल में प्रचलित काव्य धारा—काव्य विषय परिवर्तन—आर्य समाज और विषय की विविधता—

भारतेन्दु आर्य समाज काव्य-विषय—आर्य समाज और भजन—भजनीकों का काव्य-स्तर—भजनीकों के प्रचार कार्य का औचित्य—आर्य समाजी भजनीकों का हिन्दी-काव्य पर भजनीकों द्वारा समाज की कुरीतियों का चित्रण—बाल प्रोत्साहन; नारी जागरण; अन्ध विश्वास; शुद्धि का भजनों द्वारा प्रचार।

आर्य समाज के साहित्यिक कवि १९८-२१५

साहित्यिक कवियों के काव्य के रूप—स्फुट कवितायें और उनके विषय—ईश्वर; स्वामी दयानन्द के जीवन चरित संबंधी कविता; प्रशस्ति; शोकगीत—समाज सुधार—बाल विवाह; विधवा; अस्पृश्यता—धार्मिक खंडन मंडन—सत्यार्थ प्रकाश—उद्बोधन।

प्रबन्ध काव्य-और पद्यानुवाद २१६-२१८

आर्य समाज में प्रबन्ध काव्य का अभाव—दयानन्दायन पद्यानुवाद; वेद मंत्रों के पद्यानुवाद।

सप्तम अध्याय

साहित्यिक क्षेत्र में प्रसिद्ध आर्य समाजी विद्वानों के रचनात्मक कार्य २१९-२३३

भाषा विज्ञान २१९-२२१

हिन्दी भाषा का इतिहास; सामान्य भाषा-विज्ञान; तुलनात्मक भाषा शास्त्र अथवा भाषा विज्ञान; प्राकृत विमर्श।

रस और अलंकार २२१-२२३

रस रत्नाकर; हिन्दी ध्वन्यालोक; हिन्दी काव्यालंकार सूत्र; वक्रोक्ति जीवित।

काव्य व्याख्या २२३-२२४

पदमावत।

समालोचना २२४

बिहारी सतसई का भाष्य।

प्रबन्ध और काव्य अध्ययन २२४-२२६

ब्रजभाषा—भारतीय साधना और सूर साहित्य—अकबरी—दरबार के हिन्दी कवि—सूर सौरभ।

कथा साहित्य २२६-२३०

आर्यसमाज और प्रेमचंद—प्रेमचंद के उपन्यासों पर आर्यसमाज का प्रभाव—अन्य आर्य समाजी उपन्यास और कहानी लेखक।

साहित्यिक निबन्ध २३०-२३३

पद्मपराग—हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी—विचारधारा।

अष्टम अध्याय

आर्य समाज द्वारा विदेशों में हिन्दी कार्य २३४-२५१

दक्षिण अफ्रीका २३४-२४०

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के आगमन के कारण—प्रारंभिक दशा—विदेश में सामाजिक और धार्मिक स्थिति—भाषा की समस्या—प्रथम आर्य-प्रचारक भाई परमानंद का आगमन द्वितीय आर्य प्रचारक स्वामी शंकरानन्द—श्री भवानीदयाल सन्यासी का हिन्दी कार्य—'धर्मवीर' का संपादन—हिन्दी आर्य प्रतिनिधि सभा नेटाल की स्थापना और हिंदी कार्य—हिन्दी सम्मेलन और हिन्दी संघ की स्थापना।

पूर्वी अफ्रीका २४०-२४४

भारतीयों का आगमन—प्रारंभिक दशा—आर्य प्रचारक।

केनिया २४१-२४३

आर्य समाज और अन्तर्गत संस्थायें—पत्र पत्रिकायें आर्य समाज किसिमु—आर्य समाज मुम्बासा युगांडा—आर्य समाज कम्पाला—उपदेशकों द्वारा प्रचार—आर्य समाज जंजीवार और हिन्दी की स्थिति।

टाँगानिका—आर्यसमाज दारुस्सलम—आर्य प्रतिनिधि सभा और अन्य संस्थायें।

मौरिशस २४४-२४७

प्रारंभिक दशा—आर्य समाज का प्रारम्भ—आर्य समाज का संगठन और हिन्दी—आर्य प्रचारक—आर्य समाज द्वारा हिंदी—प्रचार का एक अन्य रूप—संस्थायें—पत्र—अन्य सहित्य।

फीजी २४७-२४९

प्रारंभिक दशा—आर्य समाज की स्थापना—आर्य प्रचारक—और हिन्दी—संस्थायें और हिंदी—पत्र

डच गायना (सुरीनाम) २४९-२५०

प्रारम्भिक दशा—आर्य प्रचारक और संस्थायें—हिंदी कार्य।

ट्रिनिडाड २५०-२५१

प्रारम्भिक दशा—आर्य प्रचारक संस्थायें—और हिंदी कार्य

ब्रिटिश गायना २५१

प्रारम्भिक दशा और संस्थायें—हिंदी कार्य।

लंदन २५१

नवम् अध्याय

आर्यसमाज और हिन्दी—प्रसार २५२-२६५

हंटर कमीशन और स्वामी जी २५२-२५४

हंटर कमीशन और आर्य समाजों के प्रयत्न

आर्यसमाज द्वारा दक्षिण में हिन्दी-प्रचार २५४-२५६

स्वामी श्रद्धानंद द्वारा दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का प्रयत्न आर्य प्रचारकों द्वारा दक्षिण के विभिन्न स्थानों में हिन्दी-प्रचार

आर्यसमाज और पंजाब में हिन्दी-प्रचार २५६-२६०

आर्यसमाज के पूर्व पंजाब में हिंदी की दशा—क्या पंजाब अहिन्दी प्रान्त है—पंजाब में आर्यसमाज द्वारा हिन्दी कार्य हिन्दी प्रसार-क्षेत्र में आर्यसमाज की त्रिमूर्ति (१) स्वामी श्रद्धानंद (२) लाला हंसराज (३) लाला देवराज।

अन्य प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार २५९-२६०

अन्य प्रान्तों में हिन्दी प्रचार के कार्य—आसाम में हिंदी-प्रचार और पूज्य बापू का पत्र

न्यायालय संसद और हिंदी २६०

महात्मा मुंशीराम का प्रयत्न—श्री सदन मोहन सेठ और न्यायालय में हिन्दी का प्रयोग—श्री प्रकाश वीर शास्त्री और हिन्दी।

आर्यसमाज और हिन्दी प्रसार के अन्य साधन २६२-२६५

आर्य समाज द्वारा हिन्दी के आन्दोलन—हिन्दी-ग्रंन्थ—रचना का पुरस्कार एवं अन्य हिन्दी कार्य—आर्य समाज के अन्तर्गत हिन्दी-प्रसार-संस्थायें—जन भावना और हिन्दी—आर्यसमाजी विद्वान और मंगला प्रसाद पारितोषिक।

परिशिष्ट क

पूर्वी अफ्रीका में आर्य समाज का हिन्दी कार्य २६६-२६९
लेखक—श्री सत्यपाल जी

परिशिष्ट ख

पूर्वी अफ्रीका में हिन्दी प्रचार २७०-२७१
लेखक—श्री उषर्बुध आर्य

१

भूमिका

आर्य्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द : युग और व्यक्तित्व

× [ईसा की आठवीं शताब्दि से भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हुये। शनैः शनैः लगभग समस्त देश उन्होंने अपने अधिकृत कर लिया। इस देश में यवन-राज्य-स्थापन से हिन्दुओं में विवशता के भाव वद्धमूल हुये। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से कतिपय स्वाधीनता-प्रेमी राजपूत-नरेशों ने अपने देश की रक्षा का प्रयत्न किया, परन्तु उनकी महत्वाकांक्षा नष्ट हो चुकी थी, अतः समस्त भारत निराशान्धकार से ही आच्छादित रहा। देश की विवशतायुक्त परिस्थिति ने ही भक्त-कवियों को जन्म दिया। "इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[१] ईश्वर के शरणागत होकर उन्होंने जो काव्य-रस-धारा प्रवाहित की उसमें अपनी हीनता ही प्रकट की और पूर्ण रूप से अपने को भगवान के अर्पण कर दिया। क्रमशः भक्ति सम्बन्धी कविताओं का प्रचलन कम होने लगा। १८वीं और १९वीं शती के हिन्दू राजाओं में विलासिता के भाव उत्पन्न हुये और उन्हें श्रृंगारिक कविताओं से प्रेम हुआ। तत्कालीन कवियों (अपवाद को छोड़कर) के श्रृंगारिक काव्य से साहित्य परिप्लावित है। देश की स्थिति निम्नतर होती ही गई। विलासिता ने मुसलमान सम्राटों को भी आक्रान्त किया और उनका भी घोर पतन हुआ। फलतः एक तीसरी विदेशी जाति को स्थिति से लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हुआ और कालान्तर में अंग्रेजों ने समस्त भारतवर्ष पर अपना राज्य स्थापित किया।

प्रारम्भ में अंगरेज यहाँ व्यापारी होकर आये। सर्वप्रथम उन्होंने कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में अपनी कोठियाँ बनाईं और व्यापार आरम्भ किया। मुगल सम्राटों के शासन-काल में उन्होंने अपने माल पर कर न लगाने की प्रार्थना की और यहाँ की भूमि पर केवल आत्मरक्षार्थ गढ़-निर्माण की आज्ञा मांगी। १६०० ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्था-

---

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६०

पना हुई। तत्पश्चात् इंगलैंड के राजा जेम्स प्रथम का दूत मुगल सम्राट जहाँगीर से मिला और "अंग्रेजों को भारत में व्यापार करने की इजाजत तो मिली ही, साथ ही अपनी अपनी बस्तियों में अपने कानून के अनुसार स्वयं शासन करने का अधिकार भी उन्हें मिल गया।"[१]

शनैः शनैः अंगरेजों की स्थल और सामुद्रिक शक्ति विकसित होती गई। मुगल-वंश की अवनति, नवाबों और राजाओं की पारस्परिक फूट तथा अपनी कुटिल नीति के द्वारा तत्कालीन परिस्थिति से लाभ उठा कर अंगरेजों ने भारत में अपना राज्य सुदृढ़ कर लिया।

सन् १८५७ ई० के विद्रोह द्वारा भारतवासियों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति का अन्तिम प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में वे असफल रहे। असफलता के अन्य कारणों के अतिरिक्त मुख्य कारण संगठनहीनता, योग्य-शिक्षित नेता का अभाव, ऊंच-नीच के भाव आदि थे। उत्तर विद्रोह-काल में भारत का घोर पतन हुआ। विदेशी राज्य की दृढ़ता के लिए यह आवश्यक था कि शासक यहाँ के लोगों में फूट, देश-द्रोहिता, दरिद्रता और अज्ञानता फैला कर अपने राज्य को स्थायित्व प्रदान करे। उसे इसमें सफलता प्राप्त हुई। भारतवासी केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु सामाजिक, नैतिक और धार्मिक दृष्टि से भी पतित हुये।

राजनैतिक स्थिति

१८५७ ई० का विद्रोह और स्वामी दयानंद

महारानी विक्टोरिया की घोषणा के पश्चात् यद्यपि भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से ब्रिटिश सरकार ने ले लिया था तथापि भारतवासियों को इससे कुछ भी लाभ न हुआ। वे परमुखापेक्षी ही बने रहे। तत्कालीन स्थिति में स्वराज्य, स्वदेश, और मातृ-भाषा का नाम लेना राजद्रोह समझा जाता था। १८५७ ई० के स्वाधीनता युद्ध के पश्चात् यद्यपि दो मुख्य राजनैतिक आन्दोलन वलीउल्लाहियों और नामधारी सिक्खों के हुये, परन्तु वे सरलतापूर्वक भूमिसात कर दिये गये। उस समय राष्ट्रीय जागरण अथवा देश-स्वातंत्र्य-हित प्रकट रूप से प्रयत्न करना असाधारण कार्य था। जिस निर्ममता और निरं-कुशता से उपर्युक्त दोनों आन्दोलन दबा दिये गये, उससे विषम स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में स्वामी दयानन्द भारत के रंगमंच पर आये। तीक्ष्ण दृष्टि द्वारा स्थिति को हृदयंगम कर उन्होंने धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रण किया और उद्देश्य पूर्त्यर्थ आर्य-समाज की स्थापना की।

आर्य-समाज आन्दोलन मुख्यतः धार्मिक होते हुये भी परोक्षरूप से राजनीति से अभिन्न रहा। कुछ विद्वानों ने तो इस विषय में अतिरंजना से काम लिया है और स्वामी

१—इतिहास प्रवेश, पृष्ठ ४१५

दयानन्द को एक मात्र राजनैतिक नेता के रूप में चित्रित किया है। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार लिखते हैं :—

"यों क्रान्तिकारी भावना १८५९-६० ई० के बाद भी बुझी नहीं उसे फिर से जगाने व्यापक रूप देने और साथ ही सन् १८५७, ५९ की हार के कारणों को समझ कर ठीक उपाय करने का पहला दृढ़ प्रयत्न काठियावाड के दयानन्द सरस्वती (१८२४–८३) ने किया।.....पर गढ़वाल से उतर कर दयानंद मथुरा के बजाय कानपुर चला गया और दस मास उसके आस पास घूमने के बाद मार्च १८५७ में नर्मदा प्रदेश को रवाना हुआ। अगले तीन वर्षों का अपने काम का ब्यौरा उसने कभी किसी को नहीं दिया, पर जान पड़ता है वह १८५५ में ही क्रान्ति संघटन के सम्पर्क में आ चुका था और उसके काम से रामेश्वर तक घूमा। क्रान्ति युद्ध की समाप्ति पर अक्टूबर १८६० में वह विरजानन्द के पास मथुरा पहुंचा।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि स्वामी दयादन्द क्रान्ति को पुनः संगठित कर उसे व्यापक रूप देना चाहते थे, और वे १८५५ ई० से ही संगठन-कार्य में संलग्न थे, तथा इस कार्य के लिए वे रामेश्वर तक हो आये। परन्तु उनकी आत्मकथा एवं अन्य जीवनचरित्रों के देखते हुये ऐसा प्रतीत नहीं होता। अपने भ्रमण-काल (१८४५-६०ई०) तक वे सदैव सच्चे गुरू की खोज में रहे। विद्वज्जनों से विद्या पढ़ना तथा योगियों से योग सीखना इन कार्यों में वे निरंतर रत रहे और जब तक अन्तिम श्रेष्ठ गुरु विरजानंद से विद्या प्राप्त कर अध्ययन समाप्त न किया, तब तक किसी सार्वजनिक कार्य में सहयोग न दिया।

स्वामी जी देश-भाषा में शिक्षा का राष्ट्रीयकरण करना चाहते थे, और विज्ञान तथा कला-कौशल द्वारा देश को समृद्धि बनाने की उन्हें चिन्ता थी, परन्तु उनका उद्देश्य राजनैतिक आन्दोलन करना न था। उनका मुख्य उद्देश्य तो धार्मिक क्रान्ति करना था। सहस्रों वर्षों से वैदिक धर्म में जो विकार उत्पन्न हो गया था, उसे दूर कर सत्य वैदिक धर्म की स्थापना ही उन्हें अभीष्ट थी। उनका मूल मंत्र था "वेदों की ओर लौटो।"

"देश गहरा सोया हुआ और अन्ध रूढ़ियों से ग्रस्त था"—[२]स्वामी जी ने इस समस्या का सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। ऐसी विषम स्थिति में भारत के महारोग को दूर करने का एक मात्र निदान और श्रेष्ठ उपाय यही था जो स्वामी दयानंद ने स्थिर किया। भारत का यह अद्वितीय मेधावी पुरुष अनुभव और निरोक्षण द्वारा इस तथ्य पर पहुँचा कि तत्कालीन परिस्थितियों में किसी प्रकार का भी राजनैतिक आन्दोलन पनप नहीं सकता था, सन् १८५७ ई० के स्वातंत्र्य संग्राम की असफलता के कारणों पर भी उसने अवश्य ही विचार किया होगा। भारतीयों के संकीर्ण विचार, ऊँच-नीच के भाव, जाति-भेद, संगठनहीनता आदि असफलता के मुख्य कारण थे। भारत में प्रचलित सहस्त्रों मतमतान्तरों ने समूह शक्ति को खोखला कर दिया था। अतः धार्मिक अनाचारों, सामाजिक कुप्रथाओं और

१—इतिहास प्रवेश, जयचन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ ७१६, १७
२—वही, पृष्ठ ७१८

मिथ्या भेद-भावों को दूर कर एक सर्वमान्य और सार्वभौम वैदिक धर्म की स्थापना करके देश को जागृत करना उनका मुख्य उद्देश्य था।

आर्य-समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्री हरविलास शारदा ने लिखा है—"स्वामी दयानंद ने भारतीयों को अकस्मात् ही स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये लड़ने को नहीं कहा, क्योंकि वे उनके असंगठन और निर्बलता से पूर्णतया परिचित थे। वास्तविक उन्नति एकता से ही है। कोई भी जाति सामाजिक और आध्यात्मिक बुराइयों में लिप्त रह कर राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकती। दासता की शृंखलाओं से पूर्व बुराइयों और कुप्रथाओं का बन्धन काटना आवश्यक है।"[1]

अतः स्वामी दयानंद का उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार के साथ भारतीयों में राष्ट्रीय भावोद्दीपन भी था। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जनभाषा में ही प्रचार-कार्य सफल हो सकता है। बौद्ध-मत के प्रचलन के मुख्य कारणों में से एक यह भी है। राष्ट्र को एक सूत्र में आवद्ध करने के लिये एक भाषा का होना अनिवार्य है। स्वामी दयानंद की पैनी दृष्टि ने इस आवश्यकता का अनुभव किया। जनभाषा की एक मात्र अधिकारिणी हिन्दी थी, उसे उन्होंने आर्य-भाषा नाम दिया, राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर प्रस्थापित किया और व्याख्यान, पुस्तकों तथा समाचार-पत्रों द्वारा व्यापक प्रचार करने का आधुनिक युग में सर्वप्रथम श्रेय प्राप्त किया।

सामाजिक स्थिति

उन्नीसवीं शती में भारत की सामाजिक दशा हीनावस्था की पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। हिन्दू जाति का प्रत्येक अंग विकृत हो चुका था। समय की प्रगति के अनुसार समाज में आवश्यक सुधार और परिवर्तन करने के स्थान पर हिन्दू परम्परा की लीक पीट रहे थे। गतानुगतिकता और रूढ़िवाद के अन्ध भक्त बन बैठे थे। आपद्धर्मवश समयानुसार अस्थायी रूप से यदि कभी कोई प्रथा समाज में प्रचलित की गई, तो उसे सर्वकालीन मानकर बुद्धि-प्रयोग किये बिना मानते चले आ रहे थे। फलतः "अष्ट वर्षा भवेद् गौरी," "स्त्रीशूद्रौ नाऽधीयताम्" आदि वाक्य इनके अटल सिद्धान्त बन चुके थे।

कुरीतियाँ

तत्कालीन भारत में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह, जाति-पाँति का ढोंग,

---

1. He did not ask them at once to start fighting for their political liberty, knowing full well that they were weak and disunited. Progress, he knew well was unity. A people cannot gain political freedom and remain slave socially and spiritually. The chains of evil and debaring customs. and observances must be broken before a people can acquire strength to break political chains...."

Life of Swami Dayanand (Introduction P. LXI) by H. V. Sharda

बालक-बालिकाओं का वध आदि कुप्रथायें प्रचलित थीं। अछूतों की दयनीय अवस्था थी, उन्हें सामाजिक अधिकार प्राप्त न थे, विधवाओं का करुण क्रन्दन असह्य था। उन्हें विवाह का अधिकार न था। इसका परिणाम स्पष्ट था। बाल, वृद्ध और अनमेल विवाह के कारण दिन प्रतिदिन विधवाओं की संख्या बढ़ती जा रही थी, परन्तु पुनर्विवाह द्वारा जीवनयापन की सुविधायें न होने से वे विधर्मियों के चंगुल में फँसती जा रही थीं। दूसरी ओर अछूतों को मुसलमान और ईसाइयों का समता-व्यवहार आकर्षित कर रहा था। और वे अधिकाधिक संख्या में उन मतों को स्वीकार कर रहे थे। हिन्दू-समाज से स्त्री और पुरुषों की संख्या अबाध गति से निकल रही थी और हिन्दू-शरीर को जर्जरित कर रही थी, परन्तु हिन्दुओं को संख्या-क्षीणता से रोकने का कोई उपाय न था।

मध्यकाल में जाति-पाँति के विभाजन ने सम्भव है हिन्दुओं को पूर्णतया नष्ट होने से बचाया हो परन्तु आधुनिक काल में इससे बड़ी हानि हुई। अनेक बुराइयाँ केवल जाति-पांति के कारण उत्पन्न हो गई। अनमेल और वृद्ध-विवाह के साथ ही दहेज की प्रथा भी चल पड़ी। सीमित क्षेत्र में अच्छा वर न मिलने से कन्या के अभिभावकों को दहेजस्वरूप मुँह माँगा धन देने को बाध्य होना पड़ता था। "मध्य तथा पश्चिमी भारत के राजपूतों, जाटों, मेवातों में कन्या का जन्म होते ही उसे अफीम आदि देकर या अन्य उपायों से मार दिया जाता था, ताकि कन्या के विवाह के समय दहेज आदि के कारण जो अपमान सहन करना पड़ता है, तथा परेशान होना पड़ता है, उससे मुक्ति हो जाय।"[1]

वर्णाश्रम-व्यवस्था का विकृत रूप एवं अस्पृश्यता

अछूतों को दशा भी बड़ी ही दयनीय थी। उच्चवर्गीय हिन्दुओं के बीच वे नहीं रह सकते थे। सवर्ण कहे जाने वाले हिन्दुओं के कुओं से वे पानी नहीं भर सकते थे और न वे मंदिरों में शुद्ध और पवित्र होकर देवता के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित कर सकते थे। उत्तर प्रदेश के कुछ पर्वतीय भागों में निम्न जातियों को विवाह आदि के अवसर पर पालकी-आरोहण का अधिकार न था। दक्षिण भारत में इससे भी हीन दशा थी। "वहाँ उच्च जातियाँ नीच जातियों के स्पर्श ही नहीं छाया तक से अपवित्र हो जाती थीं। कोचीन की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मण नायर के स्पर्श से दूषित समझे जाते थे किन्तु कम्मलन (राज, बढ़ई, लुहार, चमार) ब्राह्मणों को २४ फीट की दूरी से अपवित्र कर देता था, ताड़ी निकालने वाला ३६ फीट से चेरूमन कृषक ४८ फीट की दूरी से और परैमन (गोमांस भक्षक परिहा) ६४ फीट से।"[2] अछूतों के प्रति इस विचित्र दुर्व्यवहार से यह स्पष्ट था कि निम्न जातियाँ ईसाई और मुसलमानों की ओर आकृष्ट होतीं, फलतः विधर्मियों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी। आर्य-समाज ने ही उन्हें सर्वप्रथम अपनाया। पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय ने लिखा है, "हिन्दुओं के समाज सुधार क्षेत्र में पतित और अछूतों के अधि-

---

१—भारत का सांस्कृतिक इतिहास, हरिदत्त वेदालंकार, पृष्ठ २७३

२—वही, पृष्ठ २७७

कारों की रक्षा तथा आर्य-समाज में उच्च वर्ग के समान ही उन्हें भी सम्मिलित किये जाने का कार्य आर्य-समाज के महत्तम कार्यों में से है।"[1]

नारी

१९ वीं शती में स्त्रियों की अवस्था निकृष्टतम थी। भारतीय नारी दया की पात्र थी। बाल्यावस्था से वृद्धावस्थापर्यन्त उन्हें कष्ट की अनेक भट्ठियों से पार होना पड़ता था। कोमल आयु में वयस्कों और वृद्धों के साथ उन्हें परिणय-सूत्र में आवद्ध कर दिया जाता था। अधिक संख्या में विधवा हो जाती थीं और अनेक को अनिच्छापूर्वक सती-प्रथा का पालन कर पति-शव के साथ ही चिता में जलना पड़ता था। आवश्यक शिक्षा और पठन-पाठन उनके लिए वर्जित था। परदे की प्रथा-वश क्षय से आक्रान्त हो कितनी ही युवतियों को अकाल में ही काल-कवलित होना पड़ता था। इस शती में सर्वप्रथम ईसाइयों ने धर्म-प्रचार की दृष्टि से बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध किया। इसके पश्चात् आर्य-समाज ने ही धर्म और संस्कृति की रक्षा करते हुए कन्याओं के शिक्षार्थ स्तुत्य कार्य किया।

आर्य-समाज से पूर्व बंगाल के दो प्रसिद्ध महापुरुषों ने समाज-सुधार का कार्य किया था। प्रथम राजा राममोहन राय जिन्होंने अथक परिश्रम करके सन् १८२९ ई० में सती-प्रथा के विरुद्ध कानून पास करवाने में सफलता प्राप्त की और द्वितीय श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर जिनके प्रयत्न से १८५६ में ई० विधवा-विवाह जायज का कानून भारत सरकार द्वारा पास हुआ, परन्तु इन महानुभावों को अन्य सुधारों में विशेष सफलता न मिली। उनका प्रचार-क्षेत्र केवल बंगाल तक ही सीमित रह गया। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द की भांति उनका आन्दोलन इतना देशव्यापी और प्रभावशाली न था जोकि बुराइयों के गढ़ पर वज्रवत प्रहार करता। आर्यसमाज ने व्यापक आन्दोलन द्वारा बुराइयों के मूल पर कुठाराघात करके सामाजिक क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति उपस्थित की।

किसी समाज-सुधारक और उसकी संस्था के लिए उसके प्रचारात्मक साहित्य में तत्कालीन सामाजिक बुराइयों का उल्लेख और उनके निराकरण का उपाय अनिवार्य है। आर्यसमाजी विद्वान इन विषयों पर १९वीं शती के चौथे चरण से ही लिखने लगे थे। उन्होंने साहित्य के इस अंग की पूर्ति तो की ही परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि परवर्ती साहित्य और आर्य समाजेत्तर लेखकों और कवियों पर भी आर्य-समाज की विचाराधारा ने गहरा प्रभाव डाला है। उन्नीसवीं शती के अन्तिम दो दशकों और वीसवीं शती के प्रारम्भ से निर्मित होने वाले सामाजिक उपन्यासों पर इस धारा को हम स्पष्ट रूप से प्रभावित देखते हैं।

---

1. "One of the greatest services rendered by the Arya Samaj to the cause of social reforms among Hindus is its championship of the rights of the depressed and untouchable classes of Hindus to be admitted into the Arya Samaj on an equal footing with persons of highest castes."

The Arya Samaj, Lajpat Rai, page. 157

धार्मिक स्थिति

१९वीं शती की धार्मिक कुरीतियाँ और ब्राह्म-समाज द्वारा सुधार-प्रयत्न

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। देश की धार्मिक अधोगति एवं ह्रास होने पर यहाँ महापुरुषों ने समयानुकूल जन्म लेकर धर्मोद्धार किया है। १९वीं शती में धर्म-पतन की चरम सीमा को प्राप्त होकर अनेक प्रकार की कुप्रथाओं अन्ध-परम्परा और माया-जाल में ग्रस्त हो रहा था, कुरीतियों को धर्म का रूप दे दिया गया था। एकेश्वरवाद के स्थान पर अनेक कल्पित देवी-देवता ही नहीं अपितु कब्र-परस्ती और गाजी मियाँ की पूजा भी हिन्दुओं में प्रचलित हो गई थी, ईसाई मिश्नरियों का आन्दोलन प्रबल वेग से चल रहा था और राजनैतिक कारणों से भी अँगरेज-शासक पूर्णरूपेण इन संस्थाओं की सहायता कर रहे थे। फलतः हिन्दू अपने धर्म को निकृष्ट समझने लगे और उनमें हीनता के भाव उत्पन्न हुये। अविद्यान्धकारवश अपनी बुद्धि-प्रयोग में असमर्थ हिन्दू मूढ़ और पथ-भ्रष्ट हो रहे थे, ऐसे समय में बंगाल में एक प्रकाश की रेखा दृष्टिगोचर हुई। राजा राममोहन राय ने १८२८ ई० में ब्राह्म-समाज की स्थापना द्वारा हिन्दुओं के प्रचलित धर्माडम्बरों के गढ़ पर आक्रमण किया। नवजागरण के इस अग्रदूत ने सती प्रथा, जाति भेद, मूर्तिपूजन आदि का विरोध करके एकेश्वरवाद की नींव डाली। राजा राम मोहन राय के विचारकों पर उपनिषदों का बहुत प्रभाव पड़ा। ब्राह्म-समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में बहुधा उपनिषदों के बंगला अनुवाद सुनाये जाते थे। श्री ठा० देवेन्द्र नाथ ने ब्राह्म-समाज को संगठित किया और वेदों को प्रामाणिक मानना छोड़ दिया। श्री केशवचन्द्र सेन ईसाइयत से अधिक प्रभावित हुये और यज्ञोपवीत को भी तिलांजलि दे दी। सेन महोदय संस्कृत न जानते थे। अतः संस्कृत की आधारशिला पर स्थापित हिन्दू-धर्म उन्हें ग्राह्य न हो सका। आंग्ल-भाषा-विज्ञ होने से स्वभावतः वे ख्रीष्टीय मत की ओर आकर्षित हुये। केशवचन्द्र सेन के समय से ही ब्राह्म-समाज के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हुआ। अतएव संस्था का प्रभाव अत्यन्त सीमित रहा। बंगाल प्रान्तान्तर्गत कुछ पठित बंगालियों को ही आकृष्ट कर सका। इस प्रकार जो धार्मिक सुधार की अग्नि राजा राममोहन राय ने प्रज्वलित की थी वह उपयुक्त ईंधन के अभाव में टिमटिमाती ही रही।

समवर्त्ती सामाजिक आन्दोलन

१९वीं शती के अन्तिम दशकों में अनेक धार्मिक सुधार-आन्दोलनों ने जन्म लिये जिनमें से मुख्य प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण-मिशन और थियोसोफिकल सोसाइटी हैं। प्रार्थना-समाज की स्थापना १८६७ ई० में बम्बई में हुई। इसके नेताओं में महादेव गोविन्द रानाडे, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर आदि थे। इसके नियम भी लगभग ब्राह्म-समाज के समान थे। रामकृष्ण मिशन अथवा सेवाश्रम वेदान्त के सिद्धान्तानुसार आध्यात्मिक उन्नति की पुष्टि करता है। यह संस्था उग्र नहीं है और अन्य धर्मों की सत्यता में विश्वास रखती हैं। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना १८७५ ई० में अमेरिका में हुई। भारत में १८८६ ई० में मद्रास के निकट अडयार में उसके संस्थापकों (कर्नल अल्काट और मैडम

ब्लैवटस्की) ने अपना केन्द्र बनाया। भारतवर्ष जैसे अन्धविश्वास और श्रद्धा-भक्ति के देश में इस आन्दोलन को बड़ा प्रश्रय मिला। थियोसोफी-आन्दोलन ने हिन्दू-धर्म की प्राचीन रूढ़ियों, विश्वासों और कर्मकांड का बड़ा प्रबल वैज्ञानिक समर्थन किया। इसका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करना था·········प्राचीन संस्कृति पर बल देने के कारण यह आन्दोलन हिन्दू समाज में बड़ा लोकप्रिय हुआ, किन्तु पुरानी रूढ़ियों और विश्वासों के समर्थन तथा रहस्यमय कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद पर बल देने से शिक्षित समुदाय में इसके प्रति आकर्षण घट गया।"[१] वस्तुतः एनी वीसेन्ट के इस आन्दोलन में सम्मिलित होने और शिक्षासम्बन्धी कार्यों के प्रचार से यह अधिक लोकप्रिय हुआ।

यद्यपि उपर्युक्त धर्मान्दोलनों की नींव लगभग एक ही समय पड़ी परन्तु उनमें से कोई व्यापक न हो सका। प्रत्येक आन्दोलन सीमित क्षेत्र में ही अपना प्रभाव दिखाकर अपने संस्थापकों अथवा नेताओं की मृत्यु के पश्चात् निष्क्रिय सा हो गया। इनके कारण विचारणीय हैं।

१—ब्राह्म-समाज

ब्राह्म-समाज ने हिन्दू-जाति में जाग्रत उत्पन्न करने का प्रयास किया परन्तु केशव चन्द्र सेन के समय से ख्रीष्टीय मत की ओर आकृष्ट हुआ और अपने धार्मिक सिद्धान्तों का सामंजस्य वेद-शास्त्रों के साथ स्थापित करने में असमर्थ रहा। हिन्दू-समाज के निम्न स्तर को ब्राह्म समाज प्रभावित न कर सका। निम्न श्रेणी के हिन्दू जहाँ उच्च वर्ण के हिन्दुओं के असमान व्यवहार से खिन्न होकर ईसाई हो रहे थे वहाँ अपने ही धर्म में स्थित कथित निम्न-वर्ग प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में श्रद्धान्वित था। यदि वेदादि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का सम्मान करते हुए ब्राह्म-समाज निम्न वर्ग से समता का व्यवहार करता तो आज वह अधिक सफल हुआ होता। ब्राह्म-समाज के उच्च पठित वर्ग ने हिन्दू समाज के इस महत्वपूर्ण अंग की ओर ध्यान नहीं दिया और हिन्दू-शास्त्र-प्रेमी निम्न वर्गों में ईसाई और ब्राह्म-समाज को समान समझा। इसके विपरीत आर्य-समाज की उन्नति का एक यह भी कारण था कि उसने निम्न वर्णस्थ जनों से समता-व्यवहार कर अपनी ओर आकृष्ट किया और जन्मतः वर्ण-व्यवस्था का खंडन कर गुण, कर्म स्वभावानुसार वर्ण-परिवर्तन की नीति का प्रचार किया। उपर्युक्त आन्दोलनों में रामकृष्ण सेवाश्रम को छोड़कर जिससे आर्यसमाज का मूर्ति-पूजादि के कारण मौलिक मतभेद था, अन्य धर्म-संस्थाओं से एकीकरण सम्बन्धी चर्चा भी चली।

ब्राह्म-समाज और आर्य-समाज के एक सूत्र में आबद्ध होने में मुख्य बाधा इस बात की हुई कि प्रथम संस्था को वेद मान्य न थे। स्वामी दयानन्द ने वेद को मूलाधार मानकर वैदिक धर्म का विकसित, मान्य और सामयिक रूप जनता के समक्ष रक्खा। योगी अरविन्द

१—भारत का सांस्कृतिक इतिहास, हरिदत्त वेदालंकार, पृष्ठ २६८

के कथनानुसार, राजा राममोहन राय केवल उपनिषदों तक ही पहुँच पाये परन्तु स्वामी दयानन्द ने उससे भी आगे बढ़कर वेद-धर्म का प्रतिपादन किया।[1]

यह तथ्य निर्विवाद और सन्देहरहित है कि स्वामी दयानन्द अपने समय के वेदों के सर्वोच्च विद्वान थे। सायण और महीधर के वेद भाष्यों ने प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों में बड़ी भ्रांति उत्पन्न की। अन्य प्रामाणिक भाष्यों के अभाव में इन्हीं भाष्यों के आधार पर विद्वानों ने वेदाध्ययन किया। पाश्चात्यों का एकमात्र निष्कर्ष था कि वेद गड़रियों के गीत हैं। स्वामी दयानन्द के भाष्य ने वैदिक जगत में क्रान्ति उत्पन्न कर दी जिससे मैक्समूलर जैसे पश्चिमी विद्वान को भी प्रभावित होना पड़ा। अस्तु ऋषि दयानन्द वेदों का त्याग कैसे कर सकते थे ? फलतः दोनों संस्थायें बद्ध-सूत्र न हो सकीं। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानंद ने लिखा है "भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न-जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं, अपने माता-पिता पितामहादि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना ब्राह्म समाजी और प्रार्थना समाजियों को एतदेशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान प्रकाशित करते हैं। इंगलिश भाषा पढ़ के पंडिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बुद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्वामी जी का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि अपने वेद शास्त्रादि धर्म-ग्रन्थों का बिना सम्यग् अध्ययन किये अन्य मत की ओर आकर्षित होना सर्वथा अनुचित है। वैदिक धर्म इतना व्यापक है कि संसार के समस्त धर्मों के उपादेय, ग्राह्य और कल्याणकारी सिद्धान्त इसमें सन्निहित हैं। अन्य धर्मों का प्रादुर्भाव वेद-ज्ञान के अभाव में देश-काल और परिस्थिति के अनुसार तत्कालीन प्रचलित कुप्रथाओं और कुरीतियों एवं अन्ध परम्पराओं के नाशकारक प्रभाववश मनुष्यमात्र के हितार्थ हुआ। भारतवर्ष के ही नहीं अपितु ईसा और मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित संसार के महान् आर्येतर धर्मों के इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से भी इस तथ्य का स्पष्टीकरण होता है। अतः विशेष स्थिति में स्थापित धर्मों के समस्त सिद्धान्तों को आँख बन्द करके सर्वकालीन, चिरंतन और अपरिवर्तनीय समझकर प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में यथातथ्य मानते जाना

---

1. Ram mohan Roy that other great soul and puissant worker who laid his hand on Bengal and shook her-to what mighty issues-out of her long, indolent sleep by her rivers and rice fields-Ram Mohan Roy stopped short at the Upnishads. Dayanand looked beyond and perceived that our true original seed was the Veda. He had the national instinct and he was able to make it luminous an institution in place of an instinct. Therefore the works that derive From him, however they depart from received tradition must need be profoundly national.

"Bankim Tilak and Dayanand" 2nd Ed. by Arvind Ghose, P. 45

२—सत्यार्थ प्रकाश, २२ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २४५, २४६

बुद्धि-संगत नहीं हैं उदाहरणार्थ यवन राज्य काल में विशेष अत्याचारी शासकों के आधीन आपद्धर्म में प्रजा यदि बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा को धार्मिक रूप दे दे तो आश्चर्य नहीं परन्तु उसे स्थायित्व प्रदान करना मूर्खता ही है। अस्तु।

२—थियोसोफिकल सोसाइटी

थियोसोफिकल सोसाइटी की कथा इससे भिन्न है। कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवटस्की ने अमेरिका में १८७५ ई० में इस संस्था की नींव डाली थी। मैडम ब्लैवटस्की प्रेत-विद्या और चमत्कारों में विश्वास रखने वाली स्त्री थीं और यही उसकी जीविका के साधन थे। जब अमरीका में उसकी धूर्तता अधिक न चल सकी तो उसने भारत आने का विचार किया। स्वामी दयानन्द और उनकी योग-विद्या के विषय में उसने सुन रक्खा था अतः उनसे पत्र-व्यवहार प्रारम्भ हुआ। पत्र-व्यवहार में कर्नल और मैडम ने वैदिक-धर्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट की और प्रचलित ईसाई धर्म के अनाचारों की निन्दा करके थियोसोफिकल सोसाइटी को आर्यसमाज की शाखा बनाना स्वीकार किया।[1] तत्पश्चात दोनों व्यक्ति भारत आये और १ मई सन् १८७९ ई० को स्वामी दयानन्द से सहारनपुर में भेंट हुई। ४ और ५ मई को क्रमशः स्वामी जी और कर्नल का मेरठ में व्याख्यान हुआ। भारतवर्ष के निवासियों को अन्धविश्वास और अविद्याग्रस्त देख कर्नल और मैडम को अपने अनुकूल उपयुक्त क्षेत्र मिला। उन्हें इसका निश्चय हो गया कि स्वामी दयानन्द की सहायता के बिना ही वे अपना जाल फैला सकते हैं। १० सितम्बर १८८० ई० को स्वामी जी का मेरठ में दोनों व्यक्तियों से साक्षात्कार होने पर उन्हें प्रतीत हुआ कि इन लोगों का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं है।[2] स्वामी जी की युक्तियों का उन्होंने कोई उत्तर न दिया और भविष्य में विचार विनिमय का अवसर टालते रहे। अन्त में विवश होकर स्वामी दयानन्द ने २८ मार्च सन् १८८२ मंगलवार को फ्रामजी काउसजी हाल में एक भाषण द्वारा स्थिति स्पष्ट करके आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी का सम्बन्ध-विच्छेद घोषित कर दिया।[3] और स्पष्टीकरण सम्बन्धी विज्ञापन प्रकाशित करवा दिये एवं समस्त आर्य समाज के मंत्रियों को पत्र द्वारा सूचना भिजवा दी।

स्वामी जी ने जो विज्ञापन छपवाया था उसका शीर्षक था "थियोसोफिस्टों की गोलमाल पोलपाल"[4] इसमें मैडम और कर्नल के समस्त मिथ्या कथनों का भंडाफोड़ किया है जिससे जनता को वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाय। इसके अतिरिक्त समस्त आर्यसमाज के मंत्रियों को निम्नलिखित सूचना भिजवाई।

---

१. मैडम और कर्नल का पत्र महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र, देवेन्द्रनाथ, दूसरा भाग, परिशिष्ट, पृष्ठ ३८२, ३८४ और ३८७, ३९२

२. वही, पृष्ठ ४०७

३. वही, पृष्ठ ४०९

४. ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भगवद्दत्त, पृष्ठ ३१६

"मंत्री आर्यसमाज आनन्दित रहो।

थियोसोफिकल सोसाइटी के विषय में हमने यहां पत्र छपवाया है। तुमको भेजते हैं, तुम इनको छोटी छोटी समाजों में भेज देना। और जब यह पत्र पहुँचे तो उसका एक व्याख्यान दे दो कि स्वामी जी ने थियोसिफिस्टों से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया है।"

मार्च मुम्बई।[1]

स्वामी दयानन्द के जीवन-काल में यह सम्बन्ध-विच्छेद अत्यन्त हितकर हुआ और आर्यसमाज अपने को भावी निरर्थक विवाद-झंझावात से सुरक्षित रखकर अधिक कार्यक्षम सिद्ध कर सका। मैक्समुलर ने लिखा है "............मैडम ब्लैवटस्की द्वारा विस्तारित जाल में पड़ने के समय से उनकी (स्वामी दयानन्द) प्रसिद्धि यूरोप में भी हो गई परन्तु मैडम का मायाजाल क्षणिक रहा उसके मूल उद्देशों को जानते ही सन्यासी का उससे कुछ भी सम्बन्ध न रहा। वह मैत्रेयी न थी जिसकी उन्होंने आशा की थी। उसे बँगला अथवा संस्कृत न आती थी और स्वामी जी अँगरेजी से अनभिज्ञ थे। अतः प्रथम एक दूसरे को समझ न सके। तदनन्तर जैसा लोगों का कथन है एक दूसरे को अच्छी तरह समझ गये।"[3]

१९वीं शती में अनेक प्रचलित मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों और विभिन्न धर्म संस्थाओं के सिद्धान्तों को लेकर आर्यसमाज ने तुलनात्मक अध्ययन किया और खंडन-मंडनात्मक साहित्य का सृजन किया। स्वामी दयानन्द रचित सत्यार्थ प्रकाश इस विषय का अद्वितीय और मौलिक ग्रन्थ हैं। इसकी विशेषताओं का अध्ययन हम अन्यत्र करेंगे। आगामी शती में स्वामी जी के अनुयायियों ने इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों की रचना की और तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देकर हिन्दी-साहित्य में नवीनता का संचार किया।

साहित्यिक स्थिति

आधुनिक हिन्दी-काल और गद्य का विकास

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ सम्वत् १९०० विक्रमी अर्थात् ईसा की १९वीं शती के लगभग मध्य से होता है। इस काल की मुख्य देन खड़ी बोली हिन्दी

---

१. वही, पृष्ठ ३२३

3. His name became better known in Europe also, from the time that he fell into the net spread for him by Madam Blavatesky. But this lasted for a short time only and when he perceived what her real objects were the Sanyasi would have nothing more to say to her. She was not quite the Maitreyi he had expected. He did not know English, she did not know Bengali or Sanskrit, hence they did not understand each other at first, while later on, as some people said, they understood each other but too well. Collected works of F. Maxmuller (Ram Krishna, His life and Sayings), p. 13.

गद्य का विकास है। इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य में व्रजभाषा-गद्य की अत्यन्त क्षीण परन्तु स्पष्ट धारा विक्रम की पन्द्रहवीं शती से ही प्रवाहित होती आई है। अकबर के शासनकाल में महाकवि गंग ने "चन्द छन्द वरनन की महिमा" नामक एक गद्य पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी किन्तु नियमित रूप से खड़ी बोली गद्य का विकास और प्रादुर्भाव ईसा की १९वीं शती से प्रारम्भ से हुआ। इस समय दो मुख्य लेखक जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से रचनायें कीं मुंशी सदासुखलाल और इन्शाअल्ला खां हैं। उनसे भी पूर्व श्री रामप्रसाद निरंजनी, विक्रमी १७९८ में "योग वाशिष्ठ" नाम की पुस्तक लिख चुके थे। श्री रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार इन लेखकों की रचनाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा की उन्नीसवीं शताब्दि में उत्तरी भारत के जन समुदाय में हिन्दी और उर्दू दो खड़ी भाषाओं का स्वतन्त्र विकास हो रहा था। उन्होंने लिखा है "जिस प्रकार उसके उर्दू कहलाने वाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी, मुंशी आदि फारसी तालीम पाये हुये कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिन्दू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे जो संस्कृत पढ़े लिखे या विद्वान होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।"[1]

फोर्ट विलियम कालेज और गद्य

सन् १८०० ई० में जब हिन्दी और उर्दू की दो धारायें चल रही थीं कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। इस कालेज का मुख्य उद्देश्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी में इंगलैंड के नवागत अँगरेजों को देशी भाषाओं से परिचित कराना था। इस कालेज के प्रथम प्रधानाध्यापक जान गिल क्राइष्ट साहब थे। उन्हें फारसी पसन्द थी और वे रोमन लिपि के पक्षपाती थे। इस मनोवृत्ति के प्रधानाध्यापक के अन्तर्गत हिन्दी को कहां तक प्रश्रय मिल सकता था यह बात विचारणीय है। गिलक्राइस्ट साहब उर्दू के पृष्ठ पोषक होते हुए भी हिन्दी की अवहेलना न कर सके क्योंकि शिष्ट समुदाय में शुद्ध हिन्दी की स्वाभाविक धारा प्रवाहित हो रही थी और जनसाधारण में भी सामान्य हिन्दी का प्रचलन था। उर्दू का प्रयोग तो नवाबों की सेवा में लीन और फारसी पठित कतिपय व्यक्ति ही कर रहे थे। अँगरेजों को दोनों से सम्पर्क स्थापित करना था अतः उन्हें कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों धाराओं को प्रोत्साहन देना ही पड़ा। परिणामस्वरूप फोर्ट विलियम कालेज की ओर से लल्लू लाल ने सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल, राजनीति प्रेमसागर आदि ग्रन्थों की और सदल मिश्र ने "चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान" नामक ग्रन्थ की रचनायें प्रस्तुत कीं। उक्त रचनायें स्वतन्त्र न होकर पूर्व प्रचलित व्रजभाषा काव्य-ग्रन्थों और संस्कृत की पुस्तकों पर आधारित हैं। भाषा की दृष्टि से शुद्ध और परिमार्जित खड़ी भाषा किसी में नहीं है। यद्यपि सदल मिश्र की भाषा लल्लूलाल की अपेक्षा अधिक पुष्ट है।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४१३

ईसाई प्रचारक और हिन्दी-गद्य का प्रचार

खड़ी बोली हिन्दी गद्य के प्रचार में दूसरा प्रयास ईसाई प्रचारकों का रहा है। इन लोगों ने सिरामपुर में एक मिशन स्थापित किया। इन मिश्नरियों का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था। अपनी कार्य-सिद्धि के लिये उनको यहाँ की भाषा का आश्रय लेना अनिवार्य था अतः पादरियोंने इस देश की अन्य भाषाओं के साथ हिन्दी में भी बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके पश्चात अनेक पुस्तकें और विज्ञापन आदि भी हिन्दी में प्रकाशित किये। धर्म-प्रचारार्थ शिक्षा देने के लिये प्रारम्भिक पाठशालाओं की स्थापना की और आवश्यकतानुसार पाठ्य-पुस्तकें भीं रचीं। तदनन्तर अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई और १९वीं शती के पूर्वार्द्ध के अन्तिम दशक में ईसाइयों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी पाठ्य-पुस्तकों की रचना, अनुवाद और संग्रह का कार्य किया। इन पुस्तकों की भाषा संस्कृत शब्दों से युक्त खड़ी बोली में हैं। अंगरेजी भाषा के सम्पर्क में आने से हिन्दी को ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी नवीनतायें मिलीं और हिन्दी का परम्परागत प्राचीनत्व मिटकर नया रूप निखरने लगा। इस नये रूप के साथ ही हिन्दी में समाचार पत्रों ने भी प्रवेश करना प्रारम्भ किया।

एक विशेष घटना और हिन्दी का गतिरोध

इस बीच में एक विशेष घटना हुई जिसने हिन्दी भाषा के स्वाभाविक विकास को असाधारण रूप से प्रभावित किया और अबाधगति से प्रवाहित हिन्दी की स्वाभाविक धारा में एक महान विघ्न उपस्थित हुआ। अब तक कम्पनी सरकार हिन्दी के व्यापक प्रभाव से अभिज्ञ थी। अंगरेज पादरियों ने सदैव हिन्दी के माध्यम द्वारा विशेष रूप से धर्म-प्रचार किया इसलिये सन् १८३६ ई० में सरकार ने भारतवासियों की सुविधा के लिये दफ्तरों की भाषा हिन्दी कर दी परन्तु यह सुविधा चिरस्थायी न रह सकी और मुसलमानों के घोर परिश्रम के फलस्वरूप सरकार ने बिना समुचित विचार किये एक वर्ष पश्चात सन् १८३७ ई० में दफ्तरों की भाषा उर्दू कर दी।

हिन्दी-गद्य और उसके विरोधी

दफ्तरों में उर्दू भाषा के प्रचलित हो जाने से हिन्दी की उन्नति में बड़ी बाधा पड़ी। साधारण जनता को बाध्य होकर जीवन निर्वाहार्थ उर्दू पढ़ना ही पड़ता था, उर्दू पठित व्यक्ति समाज में आदर के पात्र समझे जाते थे। इसके पश्चात पाठशालाओं के खुलने पर जब हिन्दी को अनिवार्य विषय बनाने का प्रश्न उठा तो मुसलमानों ने पुनः विरोध किया और सरकार को बाध्य किया कि हिन्दी अनिवार्य विषय न बने। आगे चलकर इस विरोध में मुसलमानों के साथ गार्सां द तासी ने भी जो पेरिस विश्वविद्यालय में हिन्दी और उर्दू के प्राध्यापक थे, धर्मान्धता का परिचय दिया और हिन्दी उर्दू के प्रश्न पर कहा, "हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी, संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी "सामी, मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसलिये इस्लामी

तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषतायें पाई जाती हैं[1] मुसलमानों की ओर से हिन्दी-विरोधी प्रयत्न बराबर होते रहे परन्तु स्वाभाविक रीति से फली फूली हिन्दी भाषा को जो जनसाधारण के हृदयस्थ हो चुकी थी इस प्रकार निकालना असम्भव था। फलत: पाठशालाओं में उर्दू के साथ-साथ हिन्दी प्रचलित रही तथा इसके अतिरिक्त समाचार पत्रों और धार्मिक प्रचारकों के द्वारा हिन्दी को महदवलम्बन प्राप्त हुआ।

राजा शिवप्रसाद और हिन्दी-गद्य

हिन्दी उर्दू के संघर्ष-काल में राजा शिवप्रसाद सितारे हिंदी रंगमंच पर आये। उन्होंने संकट काल में अंगरेजों की सहायता की थी अत: शासकों की ओर से उन्हें सम्मान प्राप्त हुआ। पद और उपाधि द्वारा अंगरेजों ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। वे विद्यालयों के निरीक्षक नियुक्त हुये। यदि वे साहस, दृढ़ता और निस्वार्थता से काम लेते तो हिन्दी-भाषा को अधिक लाभ पहुँचा सकते थे तथापि उन्हें इतना श्रेय तो है ही कि घोर संकट काल में उन्होंने देवनागरी लिपि की रक्षा की। प्रतीत होता है कि अंगरेजों के आश्रित होने के कारण वे उनकी गति-विधि देखकर पग उठाते थे। उन्हें हिन्दी की रक्षा की अपेक्षा अंगरेजों की प्रसन्नता का अधिक ध्यान था। अन्यथा वे भाषा की उर्दूमयता दूर कर शुद्धत्व प्रदान कर सकते थे। इस विषय में हेनरी पिनकाट का पत्र जो १ जनवरी सन् १८८४ को भारतेन्दु को लिखा था; उल्लेखनीय है।

"......राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है २० वर्ष हुए उसने सोचा कि अँग्रेजी-साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं। उन बातों का प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिये बड़े चाल से उसने काव्य को और अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया....राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सबसे भारी बात है।[2]

राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु, स्वामी दयानन्द एवं हिन्दी गद्य

राजा लक्ष्मण सिंह भी राजा शिवप्रसाद के समसामयिक थे। वे सरकारी सेवा में डिप्टी कलक्टर थे, यद्यपि इन्हें भी सरकार की ओर से राजा की उपाधि मिली थी परन्तु इनके विचार राजा शिवप्रसाद से भिन्न थे, राजा लक्ष्मण सिंह के कथनानुसार संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी हिन्दुओं की भाषा थी और अरबी-फारसी मय उर्दू मुसलमानों की। अत: उन्होंने संस्कृत-युक्त भाषा में अपनी पुस्तकें रचीं।

इसी समय हिन्दी के रंग-मंच पर दो और महापुरुषों का आगमन हुआ, जिन्होंने हिन्दू-समाज तथा हिन्दी-साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन किया, स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने हिन्दू समाज में युगान्तर उपस्थित किया और हिन्दी-भाषा की अनन्य सेवा कर उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जिन्होंने हिन्दी को शुद्ध परिष्कृत और परिमार्जित कर नये साँचे में ढालने का प्रयत्न किया।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४३५
२, आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १३०.१३१

स्वामी दयानन्द ने हिन्दी के लिये जो कार्य किया उस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने उन्हें प्रमुखता नहीं दी। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हिन्दी-साहित्य को नये साँचे में ढालने वाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से उनका कार्य कम न था अपितु अनेक अर्थों में अधिक ही था। वस्तुतः ऋषि के जीवन काल में साधारण जनता उनके कार्यों के महत्त्व को न समझ सकी। उनके कार्यों का समुचित विकास उनके दिवंगत होने के पश्चात हुआ। परन्तु यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने (१) हिन्दी भाषा भाषियों के लिये वेद-सुलभ कर दिया (२) खंडन-मंडनात्मक साहित्य का सृजन किया (३) हिन्दी में व्याख्यान द्वारा प्रचार किया (४) आर्यसमाज द्वारा संगठित रूप से हिन्दी-प्रचार पर बल दिया। अगले अध्यायों में हम इन विषयों पर विचार करेंगे।

जीवन-चरित

जन्म और बाल्य काल

स्वामी दयानन्द का जन्म सन् १८२४ ई० में काठियावाड़ प्रान्त में मौरवी राज्य के अन्तर्गत टंकारा नामक नगर के जीवापुर मुहल्ले में जो राजमहल के निकट स्थित है हुआ था।[1] उनके पिता कर्षन जी औदीच्य ब्राह्मण थे उनके बाल्यकाल का नाम दयाल जी था।[2] उनके पिता समृद्ध और सुसम्पन्न व्यक्ति थे। वे लेन-देन करते थे, जमींदारी और भूमि कर वसूल करने का भी राज्य की ओर से उन्हें अधिकार मिला था। कर्षन जी शिव के उपासक थे। पाँच वर्ष की अवस्था से बालक दयाल जी ने नागरी अक्षरों का सीखना प्रारंभ किया। ८वें वर्ष में उनका यज्ञोपवीत हुआ और १४ वर्ष की आयु तक उन्होंने यजुर्वेद संहिता सम्पूर्ण तथा अन्य वेदों के भी कुछ मंत्र याद कर लिये थे और व्याकरण शब्द रूपावली आदि भी पढ़ लिया था।

शिवरात्रि महोत्सव और चूहे की घटना

तेरहवें वर्ष में घटित एक विशेष जीवन-घटना उनके बाल मस्तिष्क पर अपूर्व प्रभावोत्पादन कर भविष्य जीवन की मार्ग निर्द्धारिणी सिद्ध हुई। शिवोपासक कर्षन जी प्रत्येक वर्ष शिवरात्रि के अवसर पर मंदिर में शिव की पूजा बड़े समारोह से करते थे और उपवास भी करते थे। वंश परम्परानुसार दयाल जी को योग्य समझ कर पिता ने उन्हें भी शिव-पूजा और व्रत तथा उपवास में सम्मिलित होने की आज्ञा दी। कर्षन जी बड़े ही धर्म-निष्ठ तथा व्रत, उपवास, पूजा, उपासनादि के नियमानुसार सम्पन्न कर्ता थे। इन धार्मिक-कृत्यों का पालन वे स्वयं कठोरता से करते तथा दूसरों से भी करवाते थे। बालक दयानन्द से भी उन्होंने आशा की कि वह इन शास्त्र-विहित कार्यों का निर्वाह दृढ़ता से करेगा और समय के पूर्व कुछ भी न खाएगा। शिव-रात्रि की रात्रि में जागरण कर शिव का गुणगान उपवास करके करना पड़ता है। उस पुण्य-रात्रि में दयानन्द जगते रहे परन्तु शनैः-शनैः सभी भक्त

---

1. Life of Dayanand Saraswati by H. B. Sarda, page 1
2. ,, ..

गणों ने ऊँघना और सोना प्रारम्भ कर दिया। अर्द्धरात्रि के पश्चात दयानन्द ने एक विचित्र बात देखी। महापराक्रमी, अट्टहास मात्र से संसार में प्रलय करनेवाले प्रलयंकर शंकर की मूर्ति पर एक तुच्छ चूहा आरुढ़ होकर उन पर अर्पित नैवेद्य आदि पदार्थों का भक्षण कर रहा है। जिस परम शक्तिशाली शिव की उसने कथा पढ़ी थी वे इस साधारण चूहे को अपने ऊपर से न हटा सके? इस प्रश्न ने बालक के मस्तिष्क में संभ्रम उत्पन्न कर दिया और उसने बड़ी अशांति का अनुभव किया। निरंतर चिंतन करने पर भी जब उसे समाधान न हुआ तो अंत में पिता को जगाकर उसे पूँछना ही पड़ा। पिता के उत्तरों से भी उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त न हुई और सन्देह यथापूर्व बना रहा। वाध्य हो बालक मूलशंकर मंदिर से उठकर घर गया और क्षुधार्थ होने के कारण माता से भोजन मांग कर खा लिया और व्रत भंग कर दिया। इसी समय से मूलशंकर के स्वतन्त्र विचारों का आभास मिलता है।

वैराग्योत्पादक घटना

इस घटना के पश्चात् हम मूल शंकर को स्वतन्त्र चिंतन में तल्लीन और अध्ययत-निमग्न पाते हैं। ५ वर्ष के अन्तर्गत दो और घटनायें होती हैं जो उसके जीवन की धारा को ही परिवर्तित कर देती हैं। पहिली घटना १६ वर्ष की आयु में १४ वर्षीया भगिनी की मृत्यु और दूसरी १९ वर्ष की आयु में चाचा की मृत्यु है। पहिली मृत्यु के अवसर पर स्वामी जी ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है, "जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही प्रथम बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ। सब लोग रोने लगे। मुझको रोना तो नहीं आया परन्तु मेरे मन में भाव उत्पन्न हुआ कि देखो संसार में कुछ भी नहीं, इसी प्रकार किसी दिन मैं भी मर जाऊँगा। इसलिए ऐसा कुछ उपाय करना चाहिए जिससे मरण, जन्म सभी दुखों से छूट कर मुक्ति हो। यह विचार मन में रखा। किसी से कुछ कहा नहीं।"

"इतने में १९ वर्ष की अवस्था हो गई। तब जो मुझसे अति प्रेम रखने वाले बड़े धर्मात्मा विद्वान मेरे चाचा थे। उनको विशूचिका ने आ घेरा। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे, मैं भी समीप ही बैठा हुआ था। मेरी ओर देखते ही उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगा, मुझे भी उस समय बहुत रोना आया...... उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं। परन्तु यह बात माता-पिता से तो नहीं कही। अपने मित्रों और विद्वान पंडितों से पूछने लगा कि अमर होने का कोई उपाय मुझे बताओ। उन्होंने योगाभ्यास करने के लिए कहा। तब मेरे मन में आया कि अब गृह त्याग कर कहीं चला जाऊँ, किन्तु अन्य मित्र लोगों से कहा कि मेरा मन गृहाश्रम करना नहीं चाहता। मुझे निश्चय हो गया है कि इस असार संसार में कोई पदार्थ नहीं जिसके अर्थ जीने की इच्छा की जाय या किसी पर मन लगाया जावे।"[1]

---

१. ऋषि दयानंद स्वरचित जन्म चरित्र सम्पादक पं० भगवदत्त पृ० १४, १५, १६

उपर्युक्त उद्धरण से सम्यक् प्रकार बोध होता है कि मृत्यु की इन घटनाओं ने उनके हृदय पर असाधारण प्रभाव डाला और वे निरंतर अमर होने अथवा मुक्ति के उपाय सोचने में निमग्न रहने लगे। मूल शंकर की अन्य-मनस्कता और चिंतनशीलता माता-पिता से छिपी न रही और उन्होंने इस वैराग्य-प्रवृत्ति को दूर करने का एकमात्र उपाय उसे विवाह बन्धन में बांधना ही निश्चित किया। मूल शंकर ने बड़ा प्रयत्न किया कि किसी प्रकार विवाह टल जाय, और अपने पिता को अनेक भांति से समझाया अतः पिता ने एक साल के लिए विवाह स्थगित कर दिया। इस बीच में उन्होंने माता-पिता से यह भी प्रार्थना की कि उन्हें काशी जाकर विद्याध्ययन करने दिया जाय, परन्तु यह आज्ञा प्राप्त न हो सकी, अनुनय विनय के पश्चात् पिता ने ३ कोस दूर अपनी जमीदारी के अन्तर्गत एक विद्वान पंडित के पास पढ़ने की आज्ञा प्रदान की। मूल शंकर वहाँ नियमित रूप से अध्ययनार्थ जाने लगे। एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने विवाह न करने की धारणा उक्त विद्वान पंडित के सम्मुख प्रकट की। किसी प्रकार यह उनके पिता को ज्ञात हो गई और उन्होंने तुरन्त वापस बुला लिया और विवाह का प्रबन्ध होने लगा।

गृह त्याग

जेष्ठ पुत्र के विवाह का समस्त प्रबन्ध हो चुका था। माता-पिता हर्षोत्फुल्ल हो रहे थे और मूल शंकर ने गृह-त्याग का पूर्ण निश्चय कर लिया था क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई उपाय था ही नहीं जो उन्हें विवाह-बन्धन से मुक्त कर सकता। अन्त में सन् १८४६ की एक संध्या को घर से एक धोती लेकर शौच के बहाने निकल गए। चार कोस चलकर एक गाँव में रात्रि व्यतीत की और दूसरे दिन प्रातः अन्धेरे में ही उठकर १५ कोस और आगे बढ़ गए। कई दिनों के अनन्तर सामले शहर में लाला भगत के स्थान पर पहुँचे यहाँ ब्रह्म-धर्म की दीक्षा ली और शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी नाम रक्खा गया। कषाय-वस्त्र और तूम्बा धारण किया और साधुओं के साथ योग-साधन करने लगे। इसके पश्चात् सिद्धपुर पहुँचे। सिद्धपुर में कार्तिक का मेला होता है, यहाँ बहुत से साधु-सन्यासी आते हैं। मूल शंकर को आशा थी कि यहां कोई सिद्ध साधु या योगी अवश्य मिलेगा जिससे मिलकर अमर होने का साधन प्राप्त कर वह अपना जीवन सफल कर सकेगा।

पिता द्वारा पकड़ा जाना

सिद्धपुर आने से पूर्व कोट गांगणा नामक स्थान पर उसे एक परिचित वैरागी मिला जिसने मूल शंकर के पिता को पत्र लिख दिया था कि तुम्हारा पुत्र भागकर यहाँ आया है और सिद्धपुर कार्तिकी मेले में जा रहा है। पत्र पाते ही उनके पिता चार सिपाहियों को लेकर मेले में आ धमके और पंडितों के बीच में जहाँ शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी मृत्युंजय-मंत्र प्राप्त करने की आशा से बैठा था अकस्मात् पहुँचकर फटकारने लगे। उन्होंने कहा कि तू हमारे कुल में कलंक लगाने वाला हुआ है तू अपनी माता की हत्या करना चाहता है, इत्यादि। ब्रह्मचारी ने उठकर अपने पिता से क्षमा माँगी और कहा मैं किसी के बहकाने से आ गया था अवश्य आपके साथ चलूँगा। तथापि पिता ने दो सिपाहियों को साथ कर दिया कि उस पर बराबर दृष्टि रक्खें और एक क्षण को भी पृथक न हों। यद्यपि मूलशंकर ने पिता से

घर चलने की बात कह दी थी परन्तु उनके हृदय में जो धारणा बन चुकी थी उसे न निकाल सके और इसी प्रयत्न में रहे कि अवसर पाकर पुनः पिता के बन्धन से मुक्त हो जाँय।

वस्तुतः मूलशंकर के हृदय में १४ वर्ष की आयु से ही, जब शिवलिंग पर चूहे के चढ़ने की घटना हुई थी, उथल-पुथल हो रहा था। भगिनी और चाचा की मृत्यु ने उन्हें मृत्यु-औषधि ढूंढ़ने को वाध्य किया। विद्या-प्रचार और योग-अभ्यास ये साधन थे जिनके द्वारा वे कुछ प्राप्त कर सकते थे। अपने घर में माता-पिता विद्या पढ़ने के लिए सुविधायें नहीं देना चाहते थे, योगाभ्यास तो दूर की वस्तु थी। इसके विपरीत उनको विवाह-शृंखला से आवद्ध करना चाहते थे। घर में रहकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था अतः पिता के प्रेम, माँ की ममता और घर के मोह को त्यागना ही पड़ा। किसी युवक के लिये यह कार्य कितना कठिन है। धन-धान्य से सम्पन्न घर, माँ का प्यार और सांसारिक दृष्टि से उज्ज्वल भविष्य को ठुकराकर मृत्यु की औषधि ढूंढ़ने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ होकर घर से निकल जाना निस्संदेह गौतम और दयानन्द जैसे विलक्षण पुरुषों का ही काम है। अस्तु।

पुनः वन्धन-मुक्त

निरन्तर सिपाहियों की रक्षा में रहते हुए मूलशंकर भागने का उपाय सोच रहे थे, तीसरी रात्रि को सिपाही को नींद आई और मूलशंकर जागरुक थे, केवल नींद का बहाना कर खुर्राटे भर रहे थे, और अवसर की ताक में थे, एक लोटा उठाकर लघुशंका के बहाने भाग निकले। आध मील पर एक वाटिका के मंदिर के शिखर पर वृक्ष के सहारे छिपकर बैठ गये। प्रातः चार बजे के लगभग वही सिपाही ढूंढ़ता हुआ आया और वहाँ के माली से पूंछकर निराश हो लौट गया। दिन भर मंदिर के शिखर पर रहने के बाद सायंकाल लगभग सात बजे दो कोस पर स्थित एक गाँव की ओर गये, और वहाँ रात भर रहकर प्रातः आगे बढ़े। पिता से यह उनकी अंतिम भेंट थी। इसके पश्चात् बड़ौदे शहर में चेतन मठ में ठहरे। यहाँ ब्रह्मानन्द तथा अन्य ब्रह्मचारियों से वेदान्त चर्चा हुई। बड़ौदे में ही बनारसी बाई वैरागी के स्थान पर जाकर सच्चिदानन्द परम हंस से भेंट की और शास्त्र चर्चा हुई। फिर चाणोद कन्याली में जाकर दीक्षित और चिदाश्रम आदि स्वामी, ब्रह्मचारी और पंडितों से संलाप हुआ। परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार, आर्यहरि, मीडोतोटक, वेदान्त परिभाषा आदि प्रकरण कुछ महीनों में पढ़ा।

सन्यास-ग्रहण

अब मूलशंकर को यह अनुभव हुआ कि ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत रसोई आदि बनाने में समय व्यर्थ जाता है और अध्ययन में बाधा पड़ती है अतः सन्यासाश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए। एतदर्थ उन्होंने चिदाश्रम स्वामी से कहलाया परन्तु स्वामी जी ने यह कहकर कि आयु कम है सन्यास की दीक्षा नहीं दी। तदनन्तर दक्षिण के एक दंडी स्वामी और ब्रह्मचारी चाणोद से कुछ दूर पर आकर ठहरे। शास्त्रीय चर्चा के पश्चात् वे विद्वान सिद्ध हुए। अतः दक्षिणी वेदान्ती पंडित जो मूलशंकर का मित्र था उससे कहलाया कि वे सन्यास की दीक्षा दे दें; प्रथम तो उन्होंने कहा कि हम महाराष्ट्रीय हैं गुजरातियों को दीक्षा नहीं देते। परन्तु

वेदान्ती पंडित ने कहा कि दक्षिणी पंडित तो गौड़ों को भी दीक्षा देते हैं और ये तो द्राविड़ों में हैं अतः इन्हें दीक्षा देने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अन्त में स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती सहमत हो गये और ब्रह्मचारी शुद्धचेतन को तीसरे दिन सन्यास की दीक्षा देकर दंड धारण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम रक्खा। दयानन्द ने दंड का त्याग स्वामी जी के सामने ही कर दिया क्योंकि उसमें अनेक क्रियाओं के करने का झंझट था और इस प्रकार अध्ययन में विघ्न पड़ता।

योग की शिक्षा

चाणोद कन्याली से दयानन्द व्यासाश्रम स्वामी योगानंद के पास गये और कुछ योग की क्रियायें सीखीं, फिर छिनौर निवासी कृष्ण शास्त्री के पास व्याकरण का अभ्यास कर चाणोद लौट आये। यहां दो योगियों के दर्शन हुये ज्वालानन्द पुरी और शिवानंद गिरी, उन्होंने योग सिखाने के लिये दयानंद को अहमदाबाद बुलाया। एक मास बाद वे अहमदाबाद पहुँचे और दोनों योगियों से मिलकर योग सीखा तत्पश्चात् आबू पर्वत भवानीगिरि आदि योगियों से अन्य यौगिक क्रियाओं को सीखकर १९११ सम्वत् में कुम्भ के मेले में हरिद्वार आ चंडी पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करते रहे, मेले के पश्चात् ऋषिकेश में भी योग सीखते रहे फिर वहाँ से टिहरी आये।

वन-पर्वतों का भ्रमण और ज्ञान-संचय

टिहरी में स्वामी दयानन्द को तंत्र-संबंधी ग्रन्थावलोकन का अवसर प्राप्त हुआ, उसमें भ्रष्टाचार सम्बन्धी बाते पढ़कर बड़ा खेद हुआ। आगे चलकर श्रीनगर के केदारघाट में ठहरे, यहाँ गंगागिरि नामक एक विद्वान साधु से मैत्री हो गई और दो मास तक उसका सत्संग किया। केदारघाट में रहकर रुद्र प्रयाग, शिवपुरी, गुप्तकाशी, गौरीकुंड, भीमगुफा त्रियुगीनारायण आदि का चक्कर लगाया इस बीच वे ब्राह्मण, पंडे पुजारी आदि की करतूतों और क्रिया-कलापों का अध्ययन भी करते रहे।

इसके पश्चात् शरद् ऋतु में महात्माओं के दर्शनार्थ हिमाच्छादित पर्वतों पर भ्रमण करने की इच्छा हुई। इस यात्रा में उन्हें अत्यन्त कष्ट हुआ। वस्त्र फटकर चिथड़े हो गये और शरीर और पैर क्षत-विक्षत हो गये। ऊखी मठ में जाने पर ढोंगी और पाखंडी साधुओं को देखा यहाँ मठाधीश ने दयानन्द को अपना शिष्य बनाना चाहा और लाखों की सम्पत्ति का प्रलोभन दिया परन्तु पिता की प्रचुर सम्पत्ति को ठुकराने वाले निस्पृह दयानन्द जो विशेषोद्देश्य की पूर्ति के लिये गृह त्याग चुके थे उक्त प्रलोभन में कैसे फँस सकते थे ? वहाँ से दूसरे दिन वे जोशीमठ को चल दिये और वहाँ अनेक सच्चे साधु और योगियों के दर्शन हुये उनसे कुछ नई बातें योग की सीखकर बद्रीनारायण आये और मुख्य महन्त राव जी से शास्त्र चर्चा हुई। राव जी से पता चला कि इस समय तो कोई बड़ा योगी वहाँ न था परन्तु कभी कभी आया करते हैं। यह सुनकर उन्होंने निश्चय किया कि पर्वतीय प्रदेश में अवश्य सिद्ध योगी से मिलेंगे। यह निश्चय कर एक दिन उन्होंने अलखनंदा नदी के स्रोत की ओर प्रस्थान किया। इस यात्रा में उन्हें अपार कष्ट हुआ। शीत ऋतु में पर्वत, मार्ग, वृक्षादि तक हिमाच्छादित हो रहे थे। शरीर पर वस्त्र कम होने से शीत ने बड़ा प्रकोप किया,

अलखनंदा नदी को पार करते समय उनके पैर क्षत-विक्षत हो गये, क्षुधा-पीड़ित होने पर एक हिमखंड उठाकर खाया परन्तु किसी प्रकार शान्ति न मिली और एक स्थान पर नदी में गिरते-गिरते बचे। नदी के स्रोत पर पहुँच कर कोई मार्ग दृष्टिगोचर न हुआ परन्तु धीरे-धीरे उतर कर एक ओर चले। वसुधारा तीर्थ पर विश्राम किया फिर एक ग्राम के निकट होते हुये बद्रीनारायण आये।

इसके पश्चात् रामपुर में रामगिरि साधु से मिलते हुये काशीपुर आये। वहां से द्रोण सागर में शरदऋतु बिताने के पश्चात् मुरादाबाद संभल होते हुये गढ़मुक्तेश्वर में गंगा तट पर आये। यहाँ उन्हें दैवयोग से एक शव बहता हुआ मिला। अपनी पठित पुस्तकों में नाड़ी-चक्र का जो वर्णन पढ़ा था उसकी परीक्षा के लिये यहाँ अवसर प्राप्त हुआ। शव को काट कर निरीक्षण करने पर पुस्तकें गलत सिद्ध हुई और उन्होंने शव के साथ ही उन असत्य ग्रन्थों को भी प्रवाहित कर दिया। स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि "इसी समय से शनैः शनैः में यह परिणाम निकालता गया कि वेदों उपनिषदों पातंजल और सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और योग-विद्या पर लिखी गई हैं मिथ्या और अशुद्ध हैं।"[1]

पुनः फर्रुखाबाद, श्रृंगीरामपुर, कानपुर, प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों को देखते हुये वे १९१३ सम्बत् के भाद्रपद मास में मिर्जापुर पहुँचे और काशी में वरुणा और गंगा के संगम पर १२ दिन निवास किया, आगे चलकर चंडाल गढ़ में दुर्गाकुंड के मंदिर में १० दिन रहे। चैत्र सम्बत् १९१४ में नर्मदा-स्रोत की ओर यात्रा की। निर्जन उजाड़ खंड की ओर से होते हुये वे विकट जंगल की ओर अग्रसर हुये। घने घास और बेरियों के वृक्ष के बीच में एक रीछ से मुठभेड़ हो गई। वह चिंघाड़ कर और मुँह खोलकर खाने को दौड़ा परन्तु सोंटा उठाने पर भयभीत हो भाग गया। नर्मदा-स्रोत देखने की उनकी उत्कट इच्छा थी अतः वे बढ़ते ही चले गये सन्ध्या तक यात्रा की, इस घनघोर जंगल में न कोई ग्राम था न झोपड़ी, मनुष्यों का तो कहना ही क्या। बलवान हाथियों द्वारा उखाड़े हुये अनेक वृक्ष पड़े थे। इसके आगे विकट-वन था जो अत्यन्त सघन और कटीले बेर-वृक्षों से भरा था उसमें से निकलना असम्भव प्रतीत हुआ परन्तु दृढ़ प्रतिज्ञ दयानन्द पेट और जानु के बल इन वृक्षों से निकले अतः वस्त्र फटकर चिथड़े हो गये और शरीर का मांस भी कट गया, इस प्रकार उन्होंने अर्द्ध-मृत अवस्था में इस जंगल को पार किया। अभी तक निर्दिष्ट स्थान का कुछ पता न था, मार्ग अवरुद्ध था और चतुर्दिक् अन्धकार का साम्राज्य था तथापि निरंतर अग्रसर होते गये, अन्त में चारों ओर पर्वत दृष्टिगत हुये जिन पर वनस्पतियाँ उगी हुई थीं, वहाँ मनुष्यों के निवास के चिह्न भी दिखाई पड़े और थोड़ी दूर चलने पर कुटियों के दर्शन हुये, निकट ही गोबर के ढेर, चरती हुई बकरियाँ और स्वच्छ जल की छोटी सी नदी भी दिखाई दी वहाँ एक झोपड़ी के पास एक विशाल वृक्ष के नीचे रात्रि व्यतीत की। दूसरे दिन वहाँ एक जन समूह दिखाई पड़ा जो सम्भवतः किसी धार्मिक कृत्य की पूर्ति के लिये

१—ऋषि दयानन्द सरस्वती जन्म चरित्र, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३६

आया। उस समूह के जाने के बाद उसका अध्यक्ष उन्हें बुलाने आया परन्तु उन्होंने कह दिया कि बिना स्रोत देखे वे नहीं लौटेंगें, तत्पश्चात् दयानन्द के कथनानुसार अध्यक्ष ने दूध भिजवा दिया और दो पुरुषों को रात्रि भर रक्षा के लिये नियुक्त किया। गहरी निद्रा में सोने के बाद वे यात्रा के लिये पुनः अग्रसर हुये।

नर्मदातट पर तीन वर्ष तक भ्रमण और महात्माओं का संसर्ग वे करते रहे और नर्मदा स्रोत देखने के पश्चात विद्या-प्राप्ति के लिये फिर मथुरा आये।

गुरु की प्राप्ति और विद्याध्ययन

१४ नबम्बर १८६० ई० में दयानन्द दंडी श्री स्वामी विरजानन्द के पास विद्याध्ययन के लिये आये। विरजानन्द जी नेत्रहीन थे। उनका सारा जीवन विद्या-पठन-पाठन में ही व्यतीत हुआ था। वे व्याकरण के अगाध और अपने समय के अद्वितीय पंडित थे। विद्याध्ययन के निमित्त दयानन्द को उनकी शर्तें माननी पड़ी, प्रथम तो अनार्ष ग्रन्थों को यमुना में प्रवाहित करना पड़ा द्वितीय अपने भोजन और निवास का प्रबन्ध करना पड़ा क्योंकि दंडी जी सन्यासियों को इसीलिये शिक्षा नहीं देते थे कि उनके भोजनादि का समुचित प्रबन्ध नहीं होता था और इसलिये अध्ययन में चित्त एकाग्र नहीं हो सकता था। स्वामी दयानन्द के भोजन का प्रबन्ध एक औदीच्य ब्राह्मण श्री अमरलाल के यहाँ हो गया और रात्रि में अध्ययनार्थ तेल का खर्च ।) मासिक लाला गोबर्धन लाल सर्राफ दिया करते थे। इस प्रकार प्रबन्ध कर दयानन्द विद्याध्ययन में प्रवृत्त हुये। विद्याध्ययन काल में नियमपूर्वक पाठ पढ़ते और गुरु-सेवा करते हुये ढाई वर्ष व्यतीत हुये, इस बीच दंडी जी अपने अमर्ष स्वभाववश अनेक बार दयानन्द से साधारण अपराधों पर रुष्ट भी हुये और एक बार उन्हें लाठी से मारा भी, परन्तु दयानन्द ने अपने सौम्य और नम्र स्वभाव से उन्हें प्रत्येक बार प्रसन्न कर लिया। ढाई वर्ष में स्वामी जी ने दंडी जी से अष्ठाध्यायी और महाभाष्यादि ग्रन्थ पढ़े। मूर्तिपूजा और अनार्ष ग्रन्थों का खंडन तथा अन्य उपयोगी और सामयिक विचार उन्हें अपने गुरु से प्राप्त हुये। जब शिष्य आध सेर लौंग लेकर गुरु के चरणों में अन्तिम भेंट अर्पित करने पहुँचा तो गुरु ने कहा ये लौंग मेरे उपयुक्त नहीं हैं। दयानंद के करवद्ध हो आज्ञा माँगने पर गुरु ने कहा "सौम्य! मैं तुमसे किसी प्रकार के धन की दक्षिणा नहीं चाहता हूँ मैं तुमसे तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। तुम प्रतिज्ञा करो कि जितने दिन जीवित रहोगे उतने दिन आर्यावर्त में आर्ष ग्रन्थों की महिमा स्थापित करोगे, अनार्ष ग्रन्थों का खंडन करोगे और भारत में वैदिक धर्म की स्थापना में अपने प्राण तक अर्पण कर दोगे।"[१] स्वामी जी ने गुरु के इन वाक्यों को हृदयंगम कर आमरण उनकी आज्ञा का पालन किया यहाँ तक कि उन उद्देशों की पूर्ति के लिये अपने प्राणों की भी बलि दे दी।

कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण

गुरु-गृह में शिक्षा पूर्ति के पश्चात स्वामी दयानन्द का प्रचार कार्य प्रारम्भ होता

१—म० दयानन्द का जीवन चरित्र, देवेन्द्रनाथ भाग १, पृष्ठ ६८

है। गुरू के यहाँ उन्होंने मई सन् १८६३ में विद्या समाप्त की और वहाँ से वे आगरे आये इस समय उनके सम्मुख अनेक समस्यायें थीं, अभी वे पूर्ण रूपेण निश्चय न कर पाये थे कि किस प्रकार कार्य प्रारम्भ किया जाय। गुरू के आदेशानुसार उन्हें (१) अविद्या-ग्रस्त मत-मतान्तरों को हटाना था (२) मूर्तिपूजा का खंडन करना था (३) मनुष्य-कृत ग्रन्थों के स्थान पर आर्ष ग्रन्थों का प्रचार कर सत्य विद्याओं की आदि पुस्तक वेद की स्थापना करना था (४) समाज में प्रचलित बुराइयों और धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों का नाश करना था। इन कार्यों की सिद्धि के अर्थ जिन साधनों का प्रयोग करना चाहिये यह बात अभी स्वामी जी के विचाराधीन थी। स्वोद्देश-पूर्ति-हेतु उनके प्रारम्भिक प्रयत्न प्रयोगात्मक थे और कुछ समय इन प्रयोगों में लगना अनिवार्य था। अभी उनके विचार भी परिपक्व न हो पाये थे क्योंकि वेदों का पारायण अभी पूर्णरूपेण न कर सके थे। वैष्णव मत के खंडन के साथ साथ वे शैव-मत का मंडन करते थे परन्तु अजमेर जाने के समय (सन् १८६७ अप्रैल) से उन्होंने शैव-मत का भी खंडन प्रारंभ कर दिया। स्वामी जी ने अपने पूना व्याख्यान में कहा है कि "विद्याध्ययन समाप्त करके दो वर्ष तक मैं आगरा में रहा। परन्तु समय-समय पर पत्र द्वारा अथवा स्वयं मिलकर स्वामी जी से शंका समाधान कर लिया करता था"[१] पश्चात स्वामी जी ग्वालियर, करौली और पुष्कर होते हुए अजमेर आये। अजमेर में कर्नल बुक पोलीटिकल एजेंट और कमिश्नर तथा असिस्टेंट कमिश्नर आदि से मिले और गोरक्षा पर बातचीत की।

अजमेर के पश्चात स्वामी जी का विचार एक बार पूज्य गुरू दंडी जी से मिलने का हुआ। उनका मिलना भी आवश्यक था क्योंकि अनेक शंकाओं की निवृत्ति करानी थी तथा अपना दृष्टिकोण गुरू के सम्मुख रखकर भविष्य-प्रचार-कार्य के लिये सन्नद्ध होना था, अतः वे हरिद्वार कुंभ में वैदिक धर्म प्रचार के पूर्व मथुरा जाकर दंडी जी से अपनी शंकाओं का समाधान कर आये।

हरिद्वार कुम्भ में प्रचार और सर्वस्व त्याग

सन् १८६७ के अप्रैल मास में हरिद्वार में कुंभ था। स्वामी जी वहाँ एक मास पूर्व ही पहुँच कर सप्त स्रोत के निकट हरिद्वार और ऋषिकेश के मध्य कई छप्पर डलवा कर अपनी पाखंड-खंडिनी-पताका स्थापित की। यह प्रथम अवसर था जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक विशाल जन-समूह के सम्मुख वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया और हिन्दू सम्प्रदायों और समाज में प्रचलित अनाचारों और बुराइयों के खंडन का श्री गणेश किया परन्तु अब भी उनके विचारों में स्थिरता नहीं आ पाई थी और मेला समाप्त होने के पश्चात उन्होंने विचार किया तो प्रतीत हुआ कि अधिक सामान अपने साथ रखना ठीक नहीं। अधिक सामान रखने में आडम्बर बढ़ जाता है, वस्तुओं के प्रति मोह उत्पन्न होता है, और धन-लिप्सा प्रबल हो जाती है। अतः मेले की समाप्ति पर परिव्राजक ने सर्वस्व परित्याग किया। आवश्यक वस्तुयें वितरित कर दीं, महाभाष्य और मलमल का थान

१—ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित जन्म चरित्र, पं० भगवतदत्त द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ४४

गुरू जी के पास भिजवा दिया और एक मात्र कौपीन धारण कर पूर्व कालीन ऋषियों की भाँति स्वाध्याय, तप और मनन में लीन हुये। एक मास तक गंगा पर चंडी पर्वत के नीचे योगाभ्यास, ध्यान मनन और चिन्तन किया। स्वामी जी का इस प्रकार तप और योगाभ्यास में लीन होने का यह कारण न था कि वे संसार से विरक्त होकर आत्म शुद्धि द्वारा मोक्ष की कामना करते थे, जैसा कि कुछ लोगों का मत है, अपितु वे भविष्य कार्य के लिये मनन चिन्तन और निदिध्यासन द्वारा अपने को इस योग्य बनाना चाहते थे जिससे भविष्य कालीन विघ्न-बाधाओं से युद्ध कर सकें और देश में वेदिक धर्म का प्रचार कर मनुष्य-जाति की उन्नति कर सकें।

इसके बाद स्वामी जी जब वहिजगत में आये तो उन्हें एक प्रकार की शांति मिल चुकी थी, अस्थिरता, अनिश्चितता का आवरण हट चुका था और वे स्वस्थ तथा उत्साहित होकर कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने को तत्पर थे।

इन प्रारम्भिक दिनों में स्वामी जी का समस्त कार्य संस्कृत में होता था संस्कृत में धारा वाही व्याख्यान संस्कृत में शास्त्रार्थ और पत्रादि जो लिखते थे वह भी संस्कृत में ही होता था। उनका प्रचार-कार्य अभी व्यापक न हुआ था यद्यपि उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी परन्तु वह वस्तुतः उत्तर भारत में मथुरा, आगरा, हरिद्वार, कानपुर, फर्रुखाबाद, अजमेर, जयपुर आदि स्थानों तक सीमित थी काशी शास्त्रार्थ के पश्चात् उनका कार्य-क्षेत्र और प्रसिद्धि दोनों ही बढ़ी।

प्रचार और उसकी विधि

स्वामी जी जहां जाते वहाँ प्रारम्भ में अपना विज्ञापन छपवाकर जनता में वितरित करवा देते, इन विज्ञापनों[1] में वे आठ वर्जित और त्याज्य अनाचारों को जिन्हें वे गप्प कहते थे और जो धर्म के नाम पर प्रचलित थे, खंडन करते थे और आठ सत्य थे जिनका वे प्रतिपादन करते थे। खंडन वे व्याख्यान द्वारा करते थे और विरोधियों को शास्त्रार्थ के लिये आहूत करते थे।

१—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन में पृष्ठ २ विज्ञापन १ जो संस्कृत में है, में निम्न-लिखित आठ गप्प और आठ सत्य लिखे हैं।

गप्प : (१) सब मनुष्यकृत ब्रह्मवैवर्त पुराणादि (२) पाषाणादि पूजन (३) शैव, शाक्त वैष्णव, गाणपत्यादि सम्प्रदाय (४) तंत्र ग्रंथोक्त वाम मार्गादि (५) भंगादि नशा (६) पर स्त्री गमन (७) चोरी (८) कपट छल अभिमान भाषण

आठ सत्य : (१) ईश्वर रचित ऋग्वेदादि, २१ शास्त्र (२) ब्रह्मचर्य द्वारा गुरू सेवा और धर्मानुष्ठान पूर्बक वेद पूर्वक पठन (३) वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म पालन द्वारा सन्ध्या वन्दन अग्नि होत्रादि (४) पंच महायज्ञ ऋतुकाल में अपनी स्त्री से गमन और श्रौत स्मार्तादि द्वारा निश्चित आचार पालन (५) शम, दम, नियय आदि पालन, सत्संग आदि द्वारा वानप्रस्थाश्रम ग्रहण (६) विचार, विवेक, वैराग्य पराविद्या का अभ्यास, सन्यास ग्रहण सर्व कर्मों के फलों के त्याग की आशा (७) ज्ञान, विज्ञान द्वारा सब अर्थ जन्म, मरण शोक हर्ष काम क्रोध लोभ मोहादि से संग दोष का त्याग (८) तमो, रजो गुण त्याग तथा सतो गुण का ग्रहण।

चंडी पर्वत की तलहटी से निकल कर वे गंगा तट पर अनूपशहर, कम्पिल, फर्रुखाबाद रामगढ़, तथा अन्य अनेक स्थानों पर विचरण करते रहे। अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ हुये। जिसमें स्वामी जी की विद्वता की धाक जनता पर जम गई।

काशी-शास्त्रार्थ

इस प्रकार गंगा-तट पर विचरण करते हुये स्वामी दयानन्द राजपुर से २२ अक्टूबर सन् १८६९ को बनारस पहुँचे और दुर्गाकुंड के समीप माधोसिंह के आनन्दबाग में ठहरे। काशी आने का एक मात्र कारण यह था कि यहाँ के पंडितों से शास्त्रार्थ करके सत्य का निर्णय किया जाय। शतशः वर्षों से काशी संस्कृत विद्या का केन्द्र और एक मात्र गढ़ माना जाता रहा है। किसी विषय का अन्तिम निर्णय काशी के विद्वान् ब्राह्मणों की व्यवस्था से ही हो जाता था और ब्रह्मणों का पतन हो जाने से व्ययस्था का वास्तविक मूल्य कुछ न रह गया था। आवश्यकतानुसार ब्राह्मणों को धन देकर लोग मनोवांछित व्यवस्था लिखा ले जाते थे फलतः धार्मिक विषयों में अनेक अशुद्ध और वेदाशास्त्र विरुद्ध व्यवस्था पंडितों ने दे रक्खी थी। इस प्रकार की व्यवस्था रोम के पोप की पत्री से कम न थी जो वह स्वर्गस्थ पूर्बजों के सुख और आनन्द के निमित्त निश्चित धन लेकर अन्धविश्वासी धर्मभीरुओं को दिया करते थे।

स्वामी जी वे निश्चय कर लिया था कि काशी के इस आडम्बर-गढ़ को ढहाये बिना प्रचार-कार्य निर्विघ्न रूपेण सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि साधारण जनता प्रत्येक बात में काशी की दुहाई देने लगती है। काशीस्थ, पाखंड के सुदृढ़ दुर्ग को ध्वस्त कर वेद शास्त्रादि की वाटिका लगा उसे पल्लवित और पुष्पित करना ही स्वामी जी को अभीष्ट था। एतदर्थं वे शास्त्रार्थ द्वारा सत्यता प्रतिपादन हेतु संकल्पनकृत थे।

आनन्द बाग में रहते हुये स्वामी जी मूर्तिपूजा का खंडन करने लगे और पंडितों को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया। पौराणिकों और मूर्तिपूजा के गढ़ में इस प्रकार का आक्रमण कब तक सह्य हो कसता था, अन्त में काशी नरेश ने पंडितों को बुलाकर स्वामी दयानंद से शास्त्रार्थ करने को कहा, पंडितों ने वेद से परिचय प्राप्त करने के लिये १५ दिन का अवकाश मांगा। अन्त में १६ नवम्बर १८६९ ई० को मंगलवार के दिन सायंकाल ३ बजे से शास्त्रार्थ का समय निश्चित हुआ, शास्त्रार्थ का स्थान आनन्द बाग ही निश्चित हुआ और उक्त समय काशी के लगभग २७, २८ प्रकांड पंडित आ पहुँचे। काशी नरेश इसके मध्यस्थ थे, लगभग ४ घंटे शास्त्रार्थ हुआ पं० विशुद्धानंद, बाल शास्त्री, माधवाचार्य, ताराचरण आदि अनेक पंडित विपक्ष में बोल रहे थे और स्वामी दयानंद अकेले सबके प्रश्नों और वादों का उत्तर दे रहे थे। जब चार घंटे पश्चात् भी सब पंडित मिलकर स्वामी दयानन्द को हिला न सके तो उन्होंने हुल्लड़ मचाने की बात सोची। माधवाचार्य ने दो पन्ने निकालकर स्वामी जी के सामने प्रस्तुत किये और कहा ये वेद के शब्द हैं इनमें "पुराण" शब्द आया है और विशेषण नहीं अपितु संज्ञा रूप से प्रयुक्त हुआ है। स्वामी जी ने पढ़कर सुनाने को कहा परन्तु विशुद्धानंद ने स्वामी जी को ही पढ़ने के लिये बल दिया। इस समय सन्ध्या के ७ बज चुके थे। नवम्बर की १६ तारीख थी अतः अन्धकार का अनुमान किया जा सकता है। स्वामी

जी उस अंश को देख रहे थे और २ मिनट भी न हुये होंगे कि पंडित गण उठ पड़े और काशी-नरेश ने भी आसन छोड़ दिया और सबने तालियाँ पीट दी । इस हुल्लड़बाजी में स्वामी जी के ऊपर ईंट पत्थर और गोबर आदि भी फेंके गये और गालियाँ भी दी गईं इस प्रकार शास्त्रार्थ को एक निश्चित सीमा तक पहुँचाये बिना ही पंडित गण वहाँ से प्रस्थान कर गये । इस शास्त्रार्थ में अनेक विचारणीय तथ्य हैं (१) स्वामी दयानंद अपने पक्ष से एकांकी थे (२) उनका सिद्धान्त प्रचलित जनमत के सर्वथा विरुद्ध था (३) पंडित गण उन्हें घेर कर बैठ गये थे और अनेक पंडित शास्त्रार्थ में बोल रहे थे (४) काशी-नरेश पंडितों से प्रभावित थे । इन स्थितियों में शास्त्रार्थ का परिणाम सोचा जा सकता है । तत्कालीन समाचार पत्रों से स्थिति पर अधिक प्रकाश पड़ता है ।[1]

बनारस शास्त्रार्थ के बाद स्वामी जी प्रयाग, मिर्जापुर से होकर पुनः बनारस आये । इस बार काशी नरेश ने उन्हें आग्रहपूर्वक अपने राजमहल में बुलाया और स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन कर शास्त्रार्थ-कालीन दुर्व्यवहारों के प्रति क्षमा-याचना की ।[2] इसके पश्चात् वे कासगंज, जलेसर, कर्णवास, फर्रुखाबाद आदि से होकर पुनः बनारस आये तत्पश्चात् पूर्व की ओर अग्रसर हुये और मुगलसराय, पटना, मुंगेर, भागलपुर होते हुये कलकत्ता पहुँचे ।

कलकत्ता यात्रा और ब्राह्मसमाज से सम्पर्क

कलकत्ते के प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री चन्द्रशेखर सेन ने उन्हें निमंत्रित किया था और स्टेशन पर स्वागतार्थ गये थे । स्वामी जी को उन्होंने महाराज यतीन्द्र मोहन की वाटिका 'नैना' में ठहराया । कलकत्ता-निवास-काल में उनसे वार्तालाप करने हिन्दू, ब्रह्मसमाजी, ईसाई, मुसलमान सभी आये । मुख्य वार्ता उनकी ब्राह्म समाजियों से हुई विशेषकर श्री केशवचन्द्र सेन और श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर से । २१ जनवरी सन् १८७३ ई० को स्वामी जी को ब्राह्म-समाज के वार्षिकोत्सव पर एक निमंत्रण मिला । स्वामी जी के कई व्याख्यान ईश्वर, धर्म और हवन की उपयोगिता आदि पर हुये । इन व्याख्यानों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा और विद्वज्जनों ने सरल-संस्कृत में सार-गर्भित भाषण की मुक्तकंठ से प्रशंसा की । पठित वर्ग ने संस्कृत भाषी सन्यासी के मुख से गुण कर्म द्वारा वर्णाश्रम की मान्यता, बाल विवाह खंडन, विधवा-विवाह की आवश्यकता और एकेश्वरवाद का प्रचार आदि सामयिक सर्व ग्राह्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन सुनकर आश्चर्य प्रकट किया ।

कलकत्ता यात्रा का प्रभाव

कलकत्ते का आगमन स्वामी दयानंद और भावी आर्यसमाज के लिये बड़ा लाभदायक

१—सम सामयिक तटस्थ पत्रों में लगभग सभी ने निष्पक्ष सम्मति दी है। इनमें Christian Intelligencer of March 1870, Pioneer 1880, 8th Jan. Hindu Patriot 1870 Jan 17. पं० सत्यव्रत सामाश्रमी ने अपनी मासिक पत्रिका प्रत्न कमर नन्दिनी मार्गशीर्ष वा पौष सं० १९२६ रूहेलखंड कार्तिक सम्वत १९२६ ज्ञान प्रदायिनी लाहौर चैत्र संवत १९२६

२—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, देवेन्द्रनाथ, भाग १, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७७

सिद्ध हुआ । बंगाली विद्वानों से मिलने पर स्वामी दयानन्द को नवीन अनुभव प्राप्त हुयें, स्वामी जी अब तक संस्कृत में भाषण करते थे, केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी को परामर्श दिया कि आप हिन्दी में भाषण दिया करिये । साधारण जनता इससे अधिक लाभ उठा सकती है । दूसरी राय उन्होंने यह दी कि सभा तथा जन समुदाय में जाने के समय आप वस्त्र धारण कर लिया करें । स्वामी जी को दोनों बातें उचित प्रतीत हुईं और उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया । तीसरी विचारणीय बात यह है कि अब तक स्वामी जी ने यह विचार नहीं किया था कि कोई संगठन बना दिया जाय जो कि उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करे और उनके पश्चात भी कार्य सुचारु रूप से चलता रहे । यह विचार उनके मस्तिष्क में ब्राह्मसमाज का संगठन देखने के पश्चात् उठा और उन्होंने इसके कार्यान्वित करने का विचार किया ।

हिन्दी का पक्ष

इसके पश्चात् हम स्वामी जी को हिन्दी में ही भाषण करते देखते हैं । सर्वप्रसिद्ध पुस्तक सत्यार्थप्रकाश की रचना उन्होंने हिन्दी में ही की । पत्र-व्यवहार भी यथासंभव हिन्दी में ही होने लगा, केवल इतना ही नही अपितु स्वामी जी ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का महत्व समझा और उन्होंने एक भाषा और एक लिपि की आवाज उठायी और अपने अनु-यायियों के लिये हिन्दी का पठन-पाठन अनिवार्य कर दिया । वेश-भूषा, भाषा, संस्कृति आदि की एकरूपता का प्रश्न उठाकर स्वामी दयानन्द ने १९वीं शती में सर्वप्रथम राष्ट्रीयता का ही श्रीगणेश किया । विदेशी राज्य का विरोध उन्होंने बड़े साहस और चातुर्य से किया । इस प्रकार वेद-वाणी का अमृत पिलाकर मृत हिन्दू जाति को पुनर्जीवन प्रदान किया ।

बम्बई यात्रा और आर्य समाज की स्थापना

कलकत्ते से स्वामी जी हुगली गये और वहाँ से छपरा, हुमरावां, इलाहाबाद, जबलपुर आदि स्थानों में होते हुये २२ या २६ अक्टूबर सन् १८७४ को बम्बई पहुँचे । इस बार उनके बम्बई आगमन का विशेष महत्व है । क्योंकि स्वामी जी के व्याख्यानों से प्रभावित सभ्य व्यक्तियों ने उनसे एक संस्था स्थापित करने की प्रार्थना की । अनेक कारणों से यह कार्य तत्क्षण ही सम्भव न हो सका । स्वामी जी अहमदाबाद और वहाँ से राजकोट चले गये और २९ जनवरी १८७५ ई० को पुनः बम्बई आये । इस बार बम्बई के सभ्य व्यक्ति कृत संकल्प थे अतः १० अप्रैल सन् १८७५ को सायंकाल गिरगाँव में डा० मानिक चंद जी की वाटिका में श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी की प्रधानता में सर्वसाधारण अधिवेशन में नियम पढ़ कर सुनाये गये और आर्यसमाज स्थापित हुआ ।

आर्य समाज में हिन्दी का स्थान

इस समय आर्य समाज के २८ नियम बनाये गये थे जिनमें पाँचवा नियम यह था "प्रधान समाज में वैदोक्तानुकुल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश की

पुस्तक होंगी और एक "आर्य प्रकाश" पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जायेंगे।"[1]

उक्त नियम देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी जी का ध्यान प्रारंभ से ही आर्य भाषा "हिन्दी" की ओर था और उन्होंने आर्यसमाज के सदस्यों के लिये हिन्दी पढ़ने का नियम बना दिया।

देहली और चांदापुर की यात्रा

अनेक स्थानों में जाने के पश्चात स्वामी जी १ जनवरी १८७७ ई० को देहली आये। देहली आगमन उनका दो मुख्य कारणों से हुआ था। प्रथम तो यह कि उस अवसर पर भारतवर्ष के सभी रियासतों के राजा वहाँ एकत्रित हुये थे और स्वामी जी को धार्मिक उपदेश देकर उनमें सुधार करना था। द्वितीय, भारत के विभिन्न संस्थाओं के नेताओं से मिलकर देशोन्नति और समाज-सुधार सम्बन्धी सर्वमान्य साधन ढूढना था परन्तु स्वामी जी इस महान यज्ञ में कृतकार्य न हो सके।

देहली से मेरठ सहारनपुर और फिर चांदापुर के मेले में गये। यह धार्मिक मेला था जिसमें मुसललान, ईसाई और हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि सम्मिलित हुये थे। स्वामी जी भी इस मेले में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ गये। मेला दो दिन रहा और स्वामी जी के भाषणों का अच्छा प्रभाव पड़ा। धर्म मेला चाँदापुर की एक पुस्तक भी छप चुकी है।

पंजाब-भ्रमण

इसके पश्चात स्वामी जी का पंजाब प्रचार-क्षेत्र बना। पंजाब के विभिन्न नगरों में स्वामी जी के उपदेश होने लगे और २४ जून १८७७ ई० को लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। लाहौर में विशेष बात यह हुई कि बम्बई में जो २८ नियम बने थे उनके स्थान पर १० नियम निश्चित हुये, ये नियम आर्यसमाज के सिद्धान्तों के संक्षिप्त रूप हैं। इनमें मौलिक और मुख्य बातें दी गई हैं और ये नियम व्यापक हैं। इन निमयों पर विचार करने से आर्यसमाज की व्यापकता, उदारता, और सार्वभौमता पर प्रकाश पड़ता है।[2] इन

१—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, भाग १, देवेन्द्रनाथ, पृष्ठ ३३२

२—आर्य समाज के प्रसिद्ध दस नियम निम्नलिखित हैं।

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, अजर, अमर, अभय नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

व्यापक नियमों के अतिरिक्त स्थानीय प्रबन्ध तथा संचालन सम्बन्धी नियमों का संग्रह उप-नियम नाम से अलग हैं।

पंजाब विश्वविद्यालय और वेद-भाष्य

पंजाब आगमन के पूर्व से ही स्वामी जी का वेदभाष्य का कार्य चल रहा था वेदभाष्य के ग्राहकों की संख्या निस्संदेह निराशाजनक थी और आर्थिक कष्ट का होना अनिवार्य था अतः पंजाब में यह विचार हुआ कि राजकीय सहायता ग्रहण की जाय। वेद भाष्य की दो प्रतियां आवेदन पत्र के साथ पंजाब विश्वविद्यालय के प्रस्तोता (रजिस्टार) महोदय के पास प्रेषित की गई। प्रस्तोता ने पंडितों के सम्मत्यर्थ वे प्रतियां भेजी। दुर्भाग्यवश देशी और विदेशी दोनों ही प्रकार के विद्वानों ने भाष्य के विरुद्ध सम्मति दी। तदनुकूल राजकीय सहायता अस्वीकृत हुई।

उत्तर भारत के नगरों में भ्रमण

लाहौर से स्वामी जी अमृतसर, रावलपिंडी, वजीराबाद, गुजरात, गुजरानवाला आदि स्थानों पर प्रचार कर पुनः लाहौर आये। इसके पश्चात मुलतान से फिर लाहौर आये और तत्पश्चात् जालंधर होते हुये सहारनपुर चले गये। सहारनपुर से मेरठ, दिल्ली, रेवाड़ी होते हुये अजमेर और अजमेर से पुष्कर के मेले में गये। मेले से पुनः अजमेर आकर स्वामी जी हरिद्वार के कुंभ पर गये और वहाँ से सहारनपुर पहुँचे। इसी समय कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवेटस्की से उनकी भेट हुई। इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द मेरठ से मुरादाबाद, कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर, दानापुर आदि होकर काशी पहुँचे।

यह उनका सातवीं बार काशी आगमन था। प्रत्येक बार की भाँति इस बार भी स्वामी जी ने काशी के वेदज्ञ पंडितों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी परन्तु कोई सम्मुख न आया अतः स्वामी जी ने २० दिसम्बर सन् १८७९ ई० को काशी के बंगाली टोला स्कूल में भाषण देने का विज्ञापन दिया। स्वामी जी वहाँ उपस्थित हुये तो उन्हें मजिस्ट्रेट की ओर से भाषण न देने का आज्ञापत्र मिला, जिसका आशय यह था कि स्वामी दयानंद के व्याख्यान से दंगा हो जाने की आशंका है अतः उन्हें व्याख्यान देने की आज्ञा नहीं दी जाती। वस्तुतः काशी के पंडित और मूर्तिपूजक स्वामी जी के व्याख्यानों के प्रभाव से

---

५. सब काम धर्मानुसार, अर्थात सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।
६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।
८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।
९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।
१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

अभिज्ञ थे। उन लोगों की इच्छा न थी कि जनता उनके प्रभावशाली भाषण को श्रवण करे, अतः किसी राज-सेवा-परायण व्यक्ति के द्वारा यह कार्य काशी के पंडितों ने कराया था।

काशी में स्वामी जी ६ मास रहे, वहाँ से वे आगरा आये। आगरे में भाषणादि तो यथापूर्व हुये, परन्तु विशेष बात यह हुई कि स्वामी जी ने यहाँ गोरक्षिणी सभा स्थापित की। इससे पूर्व भी स्वामी जी ने गोरक्षा सम्बन्धी बातचीत अँग्रेज पदाधिकारियों से की थी परन्तु तद्विषयक, संस्था रूप में, कार्य-प्रारम्भ आगरे से ही हुआ। इस प्रकार स्वामी दयानन्द प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने गो-रक्षा आन्दोलन प्रारम्भ किया।

राजपूताने की यात्रा का उद्देश्य

आगरा के पश्चात स्वामी जी की दृष्टि राजपूताना की ओर गई। यद्यपि वे आगरे से अजमेर आकर एक बार पुनः बम्बई चले गये परन्तु खँडवा और मध्यभारत के अन्य स्थानों से होकर २६ अक्टूबर सन् १८८१ ई० को चित्तौड़गढ़ पहुँच गये।

राजपूताने से ही स्वामी जी का प्रचार समाप्त हो जाता है क्योंकि यहीं २ साल के कार्यकाल के पश्चात उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। राजपूताने आकर प्रचार करने में स्वामी जी का विशेष उद्देश्य निहित था स्वामी जी ने तत्कालीन राजा महाराजाओं के विलासमय, व्यसनासिक्त और अविद्याग्रस्त जीवन का सूक्ष्माध्ययन कर उनमें सुधार करने का प्रण किया। उनकी धारणा थी कि यदि उच्च वर्णों और शासकों में सुधार होगा तो उनके राज्य-निवासी लक्षों व्यक्तियों का अज्ञान-निवारण, सुधार और पुनरुद्धार शीघ्रता से होगा, इस प्रकार वर्षों का कार्य दिवसों में सम्पन्न हो जायगा, परन्तु यह कौन जानता था कि ऋषि जिस महान उद्देश्य से प्रेरित हो महाराजाओं और शासकों के मध्य युगान्तर करने जा रहे हैं वहीं बलिवेदी उनकी प्रतीक्षा कर रही है।

उदयपुर और शाहपुरा

राजपूताने में स्वामी जी अनेक स्थानों पर गये परन्तु मुख्य स्थानों में उदयपुर, शाहपुरा और जोधपुर प्रसिद्ध हैं। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह अपने नामानुरूप और धर्म-भीरु व्यक्ति थे। प्रथम परिचय में ही उनकी स्वामी जी से बड़ी श्रद्धा हो गई। वे स्वामी जी से कई मास तक पढ़े भी। पाठ्य पुस्तकों में मनुस्मृति, विदुर प्रजागर और अन्य शास्त्र सम्मिलित थे। सन् १८८३ के फर्वरी मास के अन्त में जब स्वामी जी जाने लगे तब महाराणा ने उन्हें भेट देकर विदा किया और पुनः पधारने की प्रार्थना की। इसके पश्चात स्वामी जी शाहपुरा गये, वहाँ के राजा नाहरसिंह जी ३ घंटे प्रतिदिन स्वामी से मनुस्मृति, योगदर्शन, वैशेषिक दर्शन आदि पढ़ते रहे। ढाई मास पाश्चात् १७ मई सन् १८८३ ई० को स्वामी जी ने महाराज जोधपुर के निमंत्रण पर वहाँ के लिये प्रस्थान किया।

जोधपुर

जोधपुर में स्वामी जी का स्वागत हुआ, महाराजा प्रतापसिंह और राव राजा तेजसिंह के पश्चात् जोधपुराधीश महाराजा यशवंतसिंह भी दर्शनों को आये। नियमित रूप से

स्वामी जी प्रतिदिन सायंकाल सर्वसाधारण में व्याख्यान देते और राजभवन में जाकर महाराज को उपदेश देते तथा निकटस्थ व्यक्तियों की शंकाओं का समाधान करते थे। स्वामी जी ने यथापूर्व मूर्तिपूजा, वेश्यागमन, इस्लाम-धर्म आदि का कठोरता से खंडन किया। इन खंडनों का प्रभाव जोधपुर में अच्छा नहीं पड़ा। जोधपुर यवन प्रभाव से आक्रान्त था। महाराजा यशवंतसिंह एक मुसलमान वेश्या नन्हीजान पर आसक्त थे। वेश्या का महाराजा पर बड़ा प्रभाव था। अनेक मुसलमान जोधपुर में उच्च पदों पर आसीन थे स्वार्थी और धन-लोलुप व्यक्तियों का आधिक्य था। स्वामी जी ने जोधपुर राज्य में प्रचलित समस्त अनाचारों की तीव्र शब्दों में भर्त्सना की। विभिन्न मतों का खंडन भी पूर्ववत किया फलतः सभी मतवादी, राजपूत सामन्त मुसलमान और नन्हीजान उनके विरुद्ध हो गई। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह की भाँति जोधपुर के महाराजा यशवन्त सिंह का हृदय-क्षेत्र उर्वर भूमिवत न था जहाँ उपदेश-बीज शीघ्र ही अंकुरित हो उठते। महाराजा यशवंतसिंह स्वामी दयानन्द के चार मास के निवास-काल में केवल तीन बार उनसे मिलने गये और स्वामी जी भी महाराजा के स्थान पर तीन ही बार जा सके।[1] स्वामी जी के उपदेशों का महाराजा जोधपुर पर अत्यन्त साधारण प्रभाव पड़ा। वे वेश्यागमन, मद्यपान, मांस-भक्षण आदि व्यसनों को त्याग न सके।

विष-प्रयोग और अन्तिम दिन

इस प्रकार विपरीत वातावरण में निरन्तर चार मासपर्यन्त धर्मोपदेश करने पर अभीप्सित लाभ न हुआ अतः स्वामी जी की इच्छा जोधपुर से अन्यत्र जाने की हुई। सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में कल्लू कहार स्वामी जी का ५००/६०० रु० का सामान चोरी करके भाग गया। २९ सितम्बर १८८३ ई० की रात्रि को स्वामी ने नियमानुसार दुग्ध पान किया और सो गये। कुछ समय पश्चात उदर शूल वश उनकी नींद टूट गई। रात्रि से प्रातःकाल तक चार वमन हुये तत्पश्चात स्वामी जी ने विष प्रभाव कम करने के लिये एक वमन, स्वयं किया परन्तु कुछ लाभ न हुआ।[2] उन्होंने हिन्दू डाक्टर को

१—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, प्रथमावृत्ति, लेखक प० घासीराम जी, पृष्ठ ६९७, ६९८।

२—स्वामी जी पर विष प्रयोग किसने किया इस विषय में निश्चित रूप से किसी एक व्यक्ति का नाम बताना कठिन है। जीवन चरित्र लेखकों ने भिन्न-भिन्न नाम बताये हैं। पं० लेखराम कृत उर्दू जीवन चरित्र के अनुसार पं० धौड़ मिश्र ने जो शाहपुरा से स्वामी जी के साथ आया था रुग्णता प्रारम्भ होने की पूर्व रात्रि को दुग्ध पान कराया। स्वामी जी के दूसरे प्रसिद्ध चरित्र-लेखक श्री देवेन्द्रनाथ जी के खोज के अनुसार कल्लू कहार ने दूध पिलाया था। श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट और नारायण गोस्वामी वैद्य द्वारा सम्पादित "दिव्य दयानन्द" नामक पुस्तक में श्री कुंवर चांदकरण शारदा एडवोकेट द्वारा लिखित "ऋषि दयानन्द की मृत्यु कैसे हुई" पृष्ठ १७९ से विदित होता है कि कलिया (कल्ला जी) जिसका असली नाम जगन्नाथ था, ने स्वामी जी को विष दिया था। आगे कुंवर जी ने नवम्बर १९२९ ई० की सरस्वती के अंक ५ महाकवि

चिकित्सार्थ बुलवाने की इच्छा प्रकट की फलतः डाक्टर सूरजमल आये, उनकी चिकित्सा प्रारंभ ही हुई थी कि दुर्भाग्यवश महाराजा प्रतापसिंह ने एक तीसरे श्रेणी के डाक्टर अलीमरदान खां को उनकी चिकित्सा के निमित्त भेजा। अली मरदान खां की चिकित्सा से स्वामी जी की दशा बिगड़ती ही गई।

रुग्णावस्था में आबू-प्रस्थान

अन्त में स्वामी जी के भक्तों ने निश्चय किया कि उन्हें आबू भेजा जाय, वहाँ की जलवायु में उन्हें शान्ति मिलेगी और चिकित्सा में भी सुविधा होगी। महाराजा जोधपुर ने आबू स्थित अपने बंगले को स्वामी जी के निवास के लिये ठीक करवा दिया। १६ अक्टूबर को स्वामी जी पालकी पर जोधपुर से ले जाये गये और २१ अक्टूबर को आबू पहुँच गये। आबू में डॉ० लछमनदास की चिकित्सा से उन्हें लाभ हुआ परन्तु दुर्भाग्यवश डॉक्टर का स्थानान्तर अजमेर के लिये हो गया। स्वामी जी के भक्त डॉक्टर लछमनदास ने वेतन-रहित छुट्टी का प्रार्थना पत्र दिया और उसके स्वीकृत न होने पर त्यागपत्र भी दे दिया परंतु त्याग-पत्र भी स्वीकार न किया गया। बाध्य होकर अनिच्छापूर्वक लछमनदास को अजमेर जाना पड़ा। डॉक्टर लछमनदास के पश्चात् आबू में डॉक्टर स्पेंसर की चिकित्सा प्रारम्भ हुई परन्तु वह प्रारम्भ से ही स्वामी जी के प्रतिकूल रही अतः स्वामी जी के सेवक उन्हें २६ अक्टूबर को आबू से अजमेर ले आये।

परमपद की प्राप्ति

अजमेर में डॉ० लछमनदास ने बड़े परिश्रम से चिकित्सा प्रारम्भ की परन्तु डॉक्टर की अनुपस्थिति में स्वामी जी ने अपना पलँग खिड़की के पास डलवा लिया, जिससे शीतल वायु का आघात हुआ और दशा बिगड़ गई। ३० अक्टूबर दीपावली मंगलवार स्वामी जी के जीवन का अन्तिम दिन था इसका आभास उन्हें पूर्व से ही हो गया था सन्ध्या के साढ़े पाँच बजे उन्होंने विभिन्न स्थानों से आये हुये आर्य पुरुषों को पीछे खड़ा किया और चारों ओर के खिड़की दरवाजे सब खुलवा दिये, सन्ध्या के ६ बजे अस्ताचलगामी सूर्य के साथ ही "ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो" यह कह कर करवट ली और सांस को खींच कर छोड़ दिया। इस प्रकार आधुनिक जागृत-भारत के अग्रदूत महर्षि दयानन्द की जीवन-लीला समाप्त हुई।

चन्द के वंशधर नामक लेख का हवाला देकर लिखा है कि "कलिया ने एक दूसरे माली से मिलकर प्रसिद्ध वेश्या नन्हीं भगतन के प्रोत्साहन से दूध के साथ विष मिलाकर स्वामी जी को पिला दिया था। इसी लेख में राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता मुंशी देवी प्रसाद जी मुन्सिफ का भी मत उल्लिखित है कि नन्ही वेश्या ने अपने एक विशेष कृपा पात्र (माली) को लालच देकर उसके द्वारा स्वामी जी के रसोइये (कलिया) को बहकाया और दूध में विष मिलाकर स्वामी जी को पिला दिया।"

२

स्वामी दयानन्द का हिन्दी-कार्य

गुरु-दक्षिणा रूप में देशोपकार और वेदोद्धार की प्रतिज्ञा

स्वामी दयानंद जी के जीवन के उद्देश्य का प्रारम्भ प्रज्ञाचक्षु गुरु विरजानन्द जी के समीप रह कर विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् निश्चित होता है। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, स्वामी दयानन्द सन् १८६० ई० में दंडी स्वामी विरजानंद के चरणों में विद्याध्ययनार्थ उपस्थित हुये। अध्ययन-प्रारम्भ के पूर्व ही दंडी स्वामी ने स्वामी दयानंद को अनार्ष ग्रंथों के परित्याग की आज्ञा दी तत्पश्चात् उन्हें अपना शिष्य बनाना स्वीकार किया। उस युग में आर्ष ग्रन्थों के एक मात्र उद्भट समर्थक और अनार्ष ग्रन्थों के प्रबल विरोधी प्रकांड वैयाकरण प्रज्ञाचक्षु स्वामी ने स्वामी दयानंद से स्पष्ट रूपेण कहा "दयानन्द जी। अब तक जो कुछ तुमने अध्ययन किया है उसका अधिक भाग अनार्ष ग्रन्थ हैं। ऋषि शैली बड़ी सरल और सुन्दर है परन्तु लोग उसका अवलंबन नहीं करते। जब तक तुम अनार्ष पद्धति का परित्याग न करोगे तब तक आर्य ग्रन्थों का महत्व और मर्म समझ न सकोगे।[१] दयानंद ने नतमस्तक हो दंडी जी के वचन स्वीकार किये। लगभग डाई वर्ष स्वामी दयानंद गुरु-सेवा में निरत हो अध्ययन करते रहे। इतने समय में उन्होंने व्याकरण के मुख्य ग्रंथ अष्टाध्यायी महाभाष्य और वेदान्त सूत्रों का विशेष रूप से अध्ययन किया। गुरू ने आर्य ग्रंथों की अन्य प्रमुख ज्ञातव्य बातों से भी दयानंद को परिचित कराया।

अंत में गुरु से विदा लेने का समय उपस्थित हुआ और दयानंद ने कृतांजलि हो थोड़े से लोग उनकी सेवा में प्रस्तुत किये, परन्तु गुरुदेव कुछ और ही चाहते थे। उन्होंने दयानंद से गुरु दक्षिणा में अन्य वस्तु की इच्छा प्रकट की। जब सुयोग्य शिष्य ने स्वशक्त्यानुसार अभीष्ट वस्तु के पूर्ति की प्रतिज्ञा की तो गुरुवर ने कहा "वत्स। भारत देश में दीन हीन जन अनेक विध दुःख पा रहे हैं जाओ उनका उद्धार करो। मतमतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई हैं उन्हें निवारण करो। आर्य जनता की बिगड़ी दशा को सुधारो आर्य-सन्तान का उपकार करो। ऋषि शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ........"[२] अन्तिम महत्वपूर्ण बात गुरू ने फिर कही "दयानंद।

---

१. श्री मद्दयानन्द प्रकाश, लेखक स्वामी सत्यानंद (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ ५०

२. वही; पृष्ठ ६३

स्मरण रखना, मनुष्य-कृति ग्रंथों में परमात्मा और ऋषि-मुनियों की निन्दा भरी पड़ी है, परन्तु आर्ष ग्रन्थों में इस दोष का लेश भी नहीं है। आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की यही बड़ी परख है। इस कसौटी को हाथ से कभी मत छोड़ना।"[1]

कार्य-सम्पन्नता की विशेषता

यहीं से स्वामी दयानन्द के जीवन का ध्येय निश्चित हुआ। गुरु देव की आज्ञानुसार उन्होंने वेद और आर्ष ग्रन्थों का प्रचार का बीड़ा उठाया। वेद लुप्त हो चुके थे, भारतीयों की अवहेलनावश वेदांगों का पठन-पाठन समाप्तप्राय था, ऋषि-मुनि-कृत उपांगों का स्वाध्याय भूतकाल की कथा मात्र थी। सत्य ज्ञान के अभाव में जड़वाद का सर्वव्यापी साम्राज्य समन्ततः समारोहित था। मिथ्याडंबर, अंधविश्वास, पाषंड, रूढ़िवाद आदि का समूल नाश कर भारतवर्ष में ही नहीं अपितु अखिल-विश्व में सत्य वैदिक-धर्म की स्थापना करना था। कार्य की दुरूहता, साधन के अभाव और प्रचार की दुर्गमता से दयानंद भली-भाँति अवगत थे परन्तु वे गुरु के सम्मुख वचन वद्ध और कृत प्रतिज्ञ थे। हिमालय-गमन कर गिरिकन्दरस्थ हो योगाभ्यास द्वारा मुक्तिलाभ करना सरल था परन्तु गुरु की आज्ञानुसार वेदों का पुनरुद्धार कर सत्य-धर्म-संस्थापन असंभव सा था। तथापि, दयानंद हताश होने वाले साधारण व्यक्ति न थे। उनमें अखंड-ब्रह्मचर्य का असीम बल था, १८ वर्ष की तपस्या स्वाध्याय और अध्यवसाय द्वारा विकसित मस्तिष्क था और पूर्ण विद्या थी, योग द्वारा मनन और निदिध्यासन कर निश्चित तथ्य और निष्कर्ष पर पहुँचने की शक्ति थी। वेकौपीनधारी होते हुए भी साधन सम्पन्न थे, एकाकी होते हुए भी सहस्त्रों को आकर्षित कर सकते थे और अपनी धारावाही, हृदयग्राही तथा प्रभावोत्पादक वाग्मिता द्वारा प्रचार-कार्य को सुलभ बना सकते थे।

प्रारंभिक प्रयत्न

अतः स्वामी दयानन्द मार्गावरोधक विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों की चिंता न कर वैदिक-धर्म-संस्थापन जैसे गुरुतम कार्य-सम्पन्न-हेतु अग्रसर हुये। सन् १८६७ ई० में हरिद्वार के कुंभ के अवसर पर एक विशाल जन-समूह के सम्मुख उन्होंने पाखंड-खंडिनी पताका गाड़ कर वैदिक-धर्म-प्रचार का कार्य किया। इस समय से मार्च सन् १८७३ तक वे निरंतर शंस्कृत भाषा में ही भाषण करते रहे। तत्पश्चात् उन्होंने हिन्दी अपनाई। हिन्दी का नाम आर्यभाषा रक्खा और इसे उन्होंने ही सर्वप्रपम राष्ट्र-भाषा का रूप दिया। धर्म-प्रचार के लिये स्वामी जी ने आर्यभाषा अपनायी और आगामी जीवन में धर्म-प्रचार के साथ-साथ हिन्दी-प्रचार भी उनका ध्येय हो गया। इसके दो मुख्य कारण थे। प्रथम वैदिक धर्म प्रचारार्थ हिन्दी ही एक मात्र देशव्यापी भाषा थी। इस भाषा में व्याख्यान और उपदेश श्रवण कर अधिकांश जनता लाभ उठा सकती थी। द्वितीय, राष्ट्रीय जागरण के हेतु एक भाषा का होना अनिवार्य था। स्वामी दयानंद ने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर इसका अनुभव पूर्णरूपेण कर लिया था कि देशोत्थान के लिये एक धर्म, एक भाषा और एक लिपि का होना अनिवार्य है। देश की एक मात्र प्राचीन राजनैतिक संस्था कांग्रेस के पूर्व ही

---

१. श्री मद्दयानंद प्रकाश, लेखक स्वामी सत्नंद (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ ६३

स्वामी दयानन्द ने ये विचार देश के सम्मुख प्रस्तुत किये थे। अतः देश की स्वाधीनता के लिये एक भाषा और एक लिपि की गूंज उठाने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे।

स्वामी दयानन्द के धार्मिक सिद्धान्त

नवीन धर्म प्रचार न कर केवल धर्म-सुधार ही उनका उद्देश्य था

स्वामी दयानन्द के धार्मिक सिद्धान्तों को समझने के पूर्व, सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के अन्तर्गत की हुई उनकी घोषणा को ध्यान में रखना आवश्यक है। स्वामी जी लिखते हैं "अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्य्यन्तों के माने हुये ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छोड़वाना मुझको अभीष्ट है"....[१] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द कोई नवीन मतमतान्तर चलाना नहीं चाहते थे अपितु सनातन वैदिक धर्म में जो बुराइयां, अनाचार अथवा मिथ्या धारणायें उत्पन्न हो गई थीं उनका निराकरण करना चाहते थे।

संसार के प्रमुख धर्मों के सिद्धान्तों पर साधारणतया दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि अधिकतर धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। ईश्वर के प्रति उनकी विभिन्न कल्पनायें हैं। जीवन के चरम लक्ष्य अथवा मुक्ति के प्रति उनकी विविध धारणायें हैं। लौकिक कर्तव्य तथा पारलौकिक जीवन के विषय में आश्चर्यजनक वर्णन उनके धर्म-ग्रंथों में भरे हैं। जिन धर्मों का ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं है उनमें बौद्ध धर्म प्रमुख हैं, अन्य धर्म नगण्य हैं। स्वामी दयानन्द ने लगभग सभी प्रमुख धर्मों के वेद-विरुद्ध-सिद्धान्तों का खंडन किया है और वैदिक धर्म की स्थापना की है। धर्म के सत्य सिद्धान्तों के निर्णयार्थ उन्होंने जो कसौटी निश्चित की है वह विचारणीय है।

मान्य ग्रन्थ और सत्य-धर्म की कसौटी

"चारों 'वेदों' (विद्या धर्मयुक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ, वे स्वयं प्रमाण रूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताइस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इसमें वेद विरुद्ध वचन हैं उनको अप्रमाण मानता हूँ।"[२]

१—सत्यार्थ प्रकाश के अंत में स्वमंतव्यामंतव्यप्रकाश, पृष्ट ३९०

२—स्वमंतव्यामंतव्यप्रकाश २,

इसमें सन्देह नहीं कि वेदों के मंत्रभाग को ईश्वरीय ज्ञान मानने के कारण वे इसे स्वतः प्रमाण मानते थे। इसके अतिरिक्त वे सत्यासत्य निर्णय करने के सम्बन्ध में लिखते हैं।

"परीक्षा" पाँच प्रकार की है इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुण कर्म स्वभाव और वेद विद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टि क्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पाँचवें अपने आत्मा की पवित्रता इन पाँच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये।"[१]

उपर्युक्त कसौटी पर कस कर स्वामी जी ने अपने सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि की उत्पत्ति, मुक्ति, मनुष्य के कर्तव्य आदि विषय ही संक्षेप में ऐसे हैं जिन पर विभिन्न धर्मों के सिद्धान्त आधारित हैं। इन विषयों में स्वामी दयानन्द की धारणा निम्नलिखित है।

ईश्वर

" 'ईश्वर' कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानंदादि लक्षण युक्त है जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूँ।"[२] ईश्वर के विषय में इसी प्रकार की धारणा आर्य समाज के दूसरे नियम[३] में भी व्यक्त की गई है।

जीव

जीव के सम्बन्ध में इन्होंने लिखा है कि "जो इच्छा, द्वेष, सुख दुःख और ज्ञानादि गुण युक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को 'जीव' मानता हूँ।"[४]

प्रकृति

प्रकृति जड़ पदार्थ और जगत का कारण है अर्थात् "उपादान कारण प्रकृति, परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आपसे आप न बन और न बिगड़ सकती हैं किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है।"[५]

सृष्टि की उत्पत्ति

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में स्वामी जी का निश्चित मत था कि सृष्टि की रचना

१—स्वमंतव्यामंतव्यप्रकाश ३९

२—वही १

३—'ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु अजन्मा अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।'

४—स्वमंतव्यामंतव्यप्रकाश ४

५—सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ १३५,

परमाणुओं के ज्ञान युक्त सम्मिश्रण से हुई है। सृष्टि की रचना की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि नियम-सम्बद्ध है। सूर्य का उदय और अस्त होना, पृथ्वी का अपनी कक्ष पर परिभ्रमण, चन्द्र की कलाओं में क्रमशः परिवर्तन तथा ब्रह्मांड के समस्त नक्षत्रों का आकर्षण द्वारा नियमित गति से गमन आदि सृष्टि नियामक के परिचायक हैं। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि एक परमशक्तिशाली एवं अद्वितीय सत्ता इन नियमों के उचित संचालन पर देख-भाल करती है क्योंकि सृष्टि नियमों में कभी भेद नहीं पड़ा। अतः ज्ञानयुक्त नियमों का परिचालन ज्ञानवान अदृष्ट शक्ति द्वारा हो रहा है। जड़ प्रकृति स्वयं ही ज्ञानयुक्त कार्य नहीं कर सकती। इसीलिये स्वीकार करना पड़ता है कि ईश्वर प्रकृति-परमाणुओं की सहायता से सृष्टि की रचना करता है जीव जो कि 'अल्पज्ञ नित्य और ज्ञानादि गुणयुक्त' है ईश्वर द्वारा कर्म-फल भोगते हुये शरीर धारण करता है। क्योंकि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है परन्तु कर्म-फल भोगने में परतन्त्र। इस प्रकार तीन अनादि सत्तायें इस जगत में हैं।[1] ईश्वर, जीव और प्रकृति की सहायता से जो उपादन कारण है सृष्टि रचकर उसमें जीवों को भौतिक शरीर प्रदान करता है और जीव अपने कर्मानुसार अच्छे अथवा बुरे स्थान पर जन्म लेकर जीवनयापन करता है। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये स्वामी दयानन्द ने लिखा है "जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हूँ।"[2]

मुक्ति

मुक्ति मनुष्य-जीवन का परम ध्येय है। जन्म और मरण के बन्धन से छूटकर जब मनुष्य की आत्मा सर्व दुःखों से निरत होकर परमात्मा की सृष्टि में विचरण करती है तो उस अवस्था को मुक्ति कहते हैं। स्वामी दयानन्द के अनुसार मुक्ति की एक निश्चित अवधि है। मुक्ति-काल व्यतीत हो जाने के पश्चात जीव पुनः शरीर धारण करता है। "जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं पुनः उसका अनन्त फल कैसे हो सकता है? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीवों में नहीं इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौट कर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिये।"[3]

मुक्ति प्राप्ति के साधन

मुक्ति को मनुष्य-जीवन का अन्तिम ध्येय मानकर ही इस संसार में मनुष्यमात्र के

१—स्वमतव्यामंतव्यप्रकाश। ३ "अनादि पदार्थ" तीन हैं एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं, जो नित्य कारण हैं उनके गुण कर्म स्वभाव भी नित्य हैं।"

२—स्वमंतव्यामंतव्यप्रकाश ५

३—सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ १५५,

कर्तव्य निश्चित किये गये हैं। सदाचरण ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन द्वारा मनुष्य उत्तरोत्तर अपने जीवन को उन्नत करता है। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर सतत प्रयत्न करते हुये जब मनुष्य के पापों का नितान्ताभाव हो जाता है तब उसे मुक्ति मिल जाती है। जीवन को उन्नत बनाने के लिये शास्त्रों ने कुछ उपाय बतायें हैं और मर्यादायें स्थिर की हैं। इन मार्गों पर गमन कर प्रत्येक मनुष्य अन्त में मोक्ष के दुर्लभ-शिखर पर आरूढ़ हो सकता है। मनुष्य-जीवन में संस्कारों का बड़ा महत्व है। ये संस्कार १६[१] हैं और शास्त्रानुमोदित हैं। संस्कार मनुष्य जीवन को उत्तम बनाते हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि इन संस्कारों का अनिवार्य रूप से पालन करे। संस्कारों की विधि स्वामी जी ने संस्कार विधि नामक पुस्तक में विस्तृत रूप से लिखी है।

आश्रम

आश्रम की मर्यादा का पालन भी जीवन को संतुलित करने के लिये आवश्यक है। आश्रम चार हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। मनुष्य जीवन की अवधि १०० वर्ष की मानकर प्रत्येक आश्रम २५ वर्ष के नियत किये गये हैं। २५ वर्ष ब्रह्मचर्यपालन की न्यूनतम सीमा है। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष का माना गया है।[२] प्रत्येक आश्रम के कर्तव्यों की व्याख्या स्वामी जी के "सत्यार्थ प्रकाश" और "संस्कारविधि" दोनों ही ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से लिखी है।

पंच महायज्ञ

मनुष्य के दैनिक कर्तव्यों में 'पंचमहायज्ञ' भी सम्मिलित है। इसके विषय में स्वामी जी ने लिखा है, "इन नित्य कर्मों के फल ये हैं कि ज्ञान प्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ कार्यों की सिद्धि होना, उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में सिद्ध होते हैं[3] ये पांच यज्ञ ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ हैं।

१—१६ संस्कार निम्नलिखित हैं :

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थाश्रमसंस्कार, सन्यासाश्रम संस्कार, अन्त्येष्टि कर्म।

२—"यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्य वाले होते हैं। इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है और जो १७ वर्ष की स्त्री और ३० वर्ष का पुरुष, १८ वर्ष की स्त्री और ३६ वर्ष का पुरुष, १९ वर्ष की स्त्री ३८ वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इसको मध्यम समय जानो और जो २०, २१, २२, वा २४ वर्ष की स्त्री ४०, ४२, ४६ और ४८ वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे वह सर्वोत्तम है"

'संस्कार विधि' वेदारम्भप्रकरणम्, पृष्ठ ११०,

३—पंचमहायज्ञ विधि (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ १

सन्ध्योपासन, वेदों का अध्ययन और योगाभ्यास ये कर्मब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत हैं। गृहस्थ और साधारण व्यक्तियों के लिए योगाभ्यास सम्भव नहीं है अतः उन्हें प्राणायाम ही कर लेना चाहिए। कम से कम तीन प्राणायाम करना आवश्यक है।

देवयज्ञ में अग्निहोत्र, विद्वानों का संग और प्राप्त विद्या की उन्नति करना तथा शुभ गुणों का धारण करना आदि बातें सम्मिलित हैं। ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ प्रातः और सायं दोनों समय करना चाहिए सन्ध्योपासन के अनन्तर ही अग्निहोत्र प्रारंभ करना उचित है।

तृतीय स्थान पितृयज्ञ का है। इसके दो भेद हैं, एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। 'तर्पण उसे कहते हैं जिस कर्म से विद्वान रूप देव, ऋषि और पितरों को सुख युक्त करते हैं। उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करता है, सो श्राद्ध कहता है, यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मृतकों में नहीं, क्योंकि उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता इसलिये मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा असंभव है इसी कारण विद्वानों के अभिप्राय से तर्पण और श्राद्ध वेद में कहा है।'[1]

पाकशाला में भोजन बन जाने पर मिष्ट पादर्थों में से कुछ अंश लेकर अग्नि पर आहुति देना चाहिए और क्षार तथा लवण युक्त पदार्थों का छः भाग निकाल कर अलग रखना चाहिए। ये भाग काक, रोगियों, कीटादिकों को दे देना चाहिए। यह भूत यज्ञ अथवा वलि वैश्व देवयज्ञ कहलाता है। इसका अर्थ यही है कि ईश्वर की सृष्टि के अन्य जीवों के प्रति दया का भाव रखना चाहिए।

नृयज्ञ अथवा अतिथि यज्ञ का अर्थ यह है कि यदि अकस्मात् कोई विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय, उपदेशक एवं सन्यासी आ जाये तो सत्कार करके उसे स्थान और भोजन देना चाहिए। इस प्रकार आये हुए व्यक्ति का सत्संग कर उसका उपदेश ग्रहण कर अपनी ज्ञान-वृद्धि भी करना चाहिए। सेवा-सत्कार केवल योग्य व्यक्तियों का ही करना चाहिए अयोग्य, पाखंडी, स्वार्थी और धूर्त लोगों का नहीं।

१—पंचमहायज्ञ विधि (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित, पृष्ट ३९-४०) इसी को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है तीसरा 'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान ऋषि जो पढ़ने पढ़ाने हारे, पितर जो माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी। पितृ यज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम हैं 'श्रत्सत्यं दधाति यथा क्रिया सा श्रद्धा श्रद्धया त्य क्रियते तच्छ्राद्धम्' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम श्राद्ध है और तृप्यन्ति येन पितृन् तत्तर्पणम् जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता-पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किए जांय उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिए है मृतकों के लिए नहीं।

सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ ६२, २२वीं आवृत्ति

मूर्तिपूजा का विरोध

उपर्युक्त पंच महायज्ञों के विधिपूर्वक सम्पन्न करने का विस्तृत विधान स्वामी जी ने पंचमहायज्ञ नामक पुस्तक में लिखा है। ईश्वर की उपासना और पूजा की विधि इन्हीं महायज्ञों में सम्मिलित है। परमेश्वर की पूजा एवं आराधनार्थ मूर्ति का आधार उन्होंने त्याज्य माना है। परमातमा के स्वारूपानुसार मूर्ति-निर्माण असंभव है। निराकार की कोई मूर्ति बन ही नहीं सकती अतः स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया है। उनका कथन है कि अज्ञानता ही नहीं अपितु मूर्ति-पूजा से हिन्दुओं में अनेक अन्य दुर्गुण, अनाचार और फूट उत्पन्न हो गये।[1]

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था के विषय में स्वामी जी का मत उदार और समीचीन था। जन्मतः वर्ण उन्हें अमान्य था। गुण कर्म और स्वभावानुसार एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में सम्मिलित हो सकता है। मनुस्मृति द्वारा निर्धारित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र के के कर्तव्य उन्हें मान्य थे।

वेद और स्वामी दयानन्द

वेदों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के विचार नवीन न थे। हिन्दुओं की धारणानुसार वे भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान तथा उनकी उत्पत्ति सृष्टि के प्रारम्भ में मानते थे। ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण ही वेद स्वामी जी के लिये सर्वस्व थे। इसीलिये उन्होंने अपने समस्त सिद्धान्तों का आधार वेद माना है।

वेदों की उत्पत्ति

वेदों की उत्पत्ति सृष्टि के प्रारम्भ में हुई। अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ये चार ऋषि प्रारम्भ में सुसंस्कार युक्त थे अतः उन्हीं के हृदय में ईश्वर ने क्रम से ऋग, यजु, साम और अथर्व वेदों का ज्ञान संचार किया। "अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्त मात्र किया था। क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जाना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं[2] सृष्टि के प्रारम्भ में होने के कारण ही वेद ज्ञान के आदि स्रोत हैं। मूल रूप से वेद में समस्त ज्ञान और विज्ञान सन्निहित हैं। ईश्वर ने मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ वेदों का प्रकाश ऋषियों के हृदय में किया। उन ऋषियों से चारों वेदों का ज्ञान ब्रह्मा को प्राप्त हुआ और ब्रह्मा से अन्य ऋषियों और विद्वज्जनों ने वह ज्ञान प्राप्त किया।

१—स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में मूर्ति पूजा के १६ दोष दिखाए हैं।

२—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ २१

वेदों के विषय (१) ज्ञान

वेदों के मुख्य विषय विज्ञान, कर्म और उपासना हैं। लगभग समस्त अनिवार्य विषय इन्हीं तीन मुख्य विषयों के अन्तर्गत आ जाते हैं। परमेश्वर से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का साक्षात् बोध और उनका सम्यक् उपयोग विज्ञान में सम्मिलित है। इसके दो भेद हैं। (१) ईश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का पालन (२) परमात्मा की सृष्टि के सब पदार्थों के गुणों को यथोचित रीति से विचार कर उनसे कार्य सिद्ध करना। इन्हीं को वेदों में क्रमशः परा और अपरा विद्या के नाम से भी कहा है।

(२) कर्म

दूसरे कर्म विषय क्रिया-प्रधान है। इसके बिना विद्याभ्यास और ज्ञान की पूर्णता सम्भव नहीं है। किसी धर्म के क्रिया-कलाप उसके महत्व, व्यापकता और सर्वप्रियता को सूचित करते हैं। किसी देश की संस्कृति वहां के धार्मिक कृत्यों के आधार पर ही बनती है। वैदिक धर्म के सार्वभौम होने के नाते इसके क्रिया-कलाप भी सार्वदेशिक सर्वकालीन और सत्य हैं।

इसके दो मुख्य भेद हैं। प्रथम परमार्थ और द्वितीय लोक व्यवहार। परमात्मा की स्तुति प्रर्थना और उपासना परमार्थ के अन्तर्गत है। स्वामी दयानन्न को यह उपासनादि वेद और पातंजलि योगशास्त्रानुसार ही मान्य है। धर्म का सम्यक् ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना ही कर्मकांड का मुख्य भाग है। धर्म-विषय में स्वामी जी ने कहा है "धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है। न्यायाचरण उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना है।"[1]

लोक व्यवहार के द्वारा "अर्थ काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है।"[2] इसके भी दो भेद हैं। सांसारिक भोगों की कामना से रहित केवल ईश्वर की प्राप्ति के लिये धर्मयुक्त कर्मो का यथावत् पालन निष्काम मार्ग कहलाता है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेघ पर्यन्त यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड इसमें सम्मिलित हैं। द्वितीय सांसारिक भोगों की इच्छा से जो धर्म युक्त कार्य किये जाते हैं उसको सकाम मार्ग कहते हैं। प्रथम का फल अक्षय और द्वितीय का नाशवान होता है क्योंकि इन्द्रिय भोगों को प्राप्त होकर जीव जन्म मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार निष्काम कर्मो के अन्तर्गत विभिन्न यज्ञों के करने से मनुष्य मात्र का कल्याण होता है परन्तु भोजन, वस्त्र, अनेक प्रकार के मान, कलाकौशल तथा यन्त्रादि की रचना आदि सकाम कर्मो से अधिकांश में कर्ता को ही सुख प्राप्त होता है।

(३) उपासना और देवता का अर्थ

वेदों के अनुसार केवल एक परमात्मा की ही उपासना मान्य है। अन्य देवताओं की उपासना ग्राह्य नहीं है। देवताओं में जनसाधारण में बड़ी भ्रान्ति है। मनुष्य से उच्चतर

१—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ ४९

२—वही, पृष्ठ ४९

योनि में उत्पन्न सर्व प्रकार के भोगों का आनन्द लेने वाले, विशेष शक्ति सम्पन्न, जरा-मरण से रहित जीवों की कल्पना देवताओं के रूप में करना भ्रम-मूलक है। वेदों में मन्त्र विषय का नाम देवता है। महात्मा नारायण स्वामी ने अपने वेद-रहस्य नामक ग्रन्थ में वेदों के ऋषि, देवता और छन्द को स्पष्ट करते हुये ऋग्वेद की अनुक्रमणिका का एक उद्धरण दिया है :

"यस्य वाच्यं स ऋषिर्योनेनोच्यते।
सा देवता यदक्षर परिमाणं तच्छन्दः॥"

अर्थात् जिसका (मन्त्रार्थ सूचक) वचन है वह ऋषि, जो विषय कहा गया वह देवता और अक्षरों के परिमाण को छन्द कहते हैं।"[1]

देवताओं की संख्या

इसके अतिरिक्त देवताओं का स्पष्टीकरण स्वामी जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में किया है। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, एक इन्द्र और प्रजापति इन तैंतीस देवताओं के नाम मुख्यतः वेदों में आये हैं।[2] स्थान, नाम और जन्म तीन देव तथा प्राण और अन्न दो देव के नाम से प्रसिद्ध हैं। अध्वर्य देव भी वायु रूप से जगत में व्याप्त हैं। ये सब व्यवहार के देवता हैं। कतिपय गुणों के कारण देवत्व का संचार होने से वे देवता मान लिये गये हैं। दिवु शब्द के दस अर्थ हैं। क्रीड़ा, विजिगीषा (शत्रुओं के जीतने की इच्छा) व्यवहार (वाह्य और आभ्यंतरिक) निद्रा और मद ये पांच अर्थ मुख्यतया व्यवहार में घटित होते हैं। द्युति, स्तुति, मोद, कान्ति और गति (ज्ञान गमन और प्राप्ति) ये पांच अर्थ मुख्यतया परमेश्वर के विषय में प्रयुक्त होते हैं।[3] अतः जिन देवताओं से व्यवहार मात्र की सिद्धि होती है वे उपास्य नहीं हैं। उपासना के योग्य तो केवल परमेश्वर ही है जिसमें देवत्व की पूर्णता है। जो जगत का रचयिता, सर्वशक्तिमान, अनादि, सर्वव्यापक, अजन्मा और सच्चिदानन्द स्वरूप है।

पूजा के विषय में स्वामी जी का कथन है।

"जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल काम करना है इसी का

१—वेद रहस्य, पृष्ठ ४६

२—अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र ये ८ वसु हैं क्योंकि इनमें लोग बसते हैं। प्राण, अपान, व्यान,उदान, समान, नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त धनंजय और जीवात्मा ये ११ रुद्र हैं। क्योंकि ये शरीर से निकल जाने पर लोगो को रुलाते हैं। १२ मास ही १२ आदित्य हैं क्यों कि वे संसार के पदार्थों का आदान अर्थात् ग्रहण करते जाते हैं। परम ऐश्वर्य युक्त होने के कारण बिजली को इन्द्र कहते हैं। वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा प्रजा-पालन होने से यज्ञ को प्रजापति कहते हैं और पशु-द्वारा भी प्रजापालन होने से उनकी भी यज्ञ संज्ञा है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ ७२

३—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ ७३, ७४

नाम पूजा है। सो सब मनुष्यों को करनी उचित है। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना अर्थ का प्रकाश, दिव्य गुण क्रिया सिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है उतना उतना उनमें देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहां जहां उपासना व्यवहार लिया जाता है वहाँ वहाँ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।"[१]

देवताओं के भेद

देवताओं, के दो भेद हैं। मूर्तिमान और अमूर्तिमान। पूर्व वर्णित आठ वस्तुओं में अग्नि, पृथ्वी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र में पाँच मूर्तिमान देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन अन्तरिक्ष, वायु और और मन्त्र ये अमूर्तिमान देव हैं। इसी प्रकार पंचदेवों के अन्तर्गत माता, पिता, आचार्य और अतिथि ये चार मूर्तिमान यथा परमेश्वर अमूर्तिमान है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, विद्युत और विधि यज्ञ ये सब देव मूर्तिमान और अमूर्तिमान दोनों हैं। "इन्द्रियों की शक्ति रूप द्रव्य अमूर्तिमान और गोलक मूर्तिमान, तथा विद्युत और विधि यज्ञ में जो जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान जानना चाहिये।"[२]

इन देवताओं के विषय में स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही उपासना के योग्य हैं। अन्य देवता उपयोग और व्यवहार के योग्य हैं तथा परमार्थ के प्रकाशक एवं तत्कार्य में सहायक हैं उन्होंने लिखा है कि :

"इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है। परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही देव है।"[३]

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदों में भूतों की पूजा के आरोपों का स्वामी जी ने घोर खंडन किया है और चारों वेद शतपथादि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वेदों में भूतों की उपासना का कहीं भी वर्णन नहीं है अपितु इन्द्र, वरुण अग्नि आदि नामों से परमात्मा की ही उपासना की गई है।

उपासना विधि

एकेश्वरवाद के निर्णय के पश्चात् परमेश्वर की उपासना-विधि एक विचारणीय प्रश्न है। सफल सांसारिक जीवन व्यतीत करने तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये ईश्वर की उपासना अनिवार्य है एतदर्थ जिन साधनों की आवश्यकता है उसका स्पष्टीकरण हमें स्वामी जी के ग्रन्थों में मिलता है। सांसारिक व्यक्तियों के हेतु तो पूर्वोल्लिखित पंच-महायज्ञ-विधि अभीष्ट है, परन्तु मुमुक्षुओं के लिये पतंजलि योगदर्शन द्वारा प्रदर्शित विधि का उन्होंने

१—वही पृष्ठ ७४. ७५

२—वही पृष्ठ ७५। अधोलिखित टिप्पणी।

३—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ ७५ ७६

समर्थन किया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि नामक योग के आठ अंगों का अनुसरण कर अथवा यम, नियमादि के सोपानों पर क्रमशः आरूढ़ हो साधक समाधि के उच्च शिखर पर परमेश्वर का अनुभव प्राप्त करता है। पूर्ण समाधि की अवस्था में आत्मा परमात्मा के आनन्द रूप में निमग्न हो जाता है। "जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है।"[१]

इस प्रकार योगसाधन के द्वारा ही परमेश्वर का अनुभव तथा समस्त पापों के क्षय हो जाने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

वेदों का नित्यत्व

वेद नित्य हैं

स्वामी जी के मतानुसार वेद नित्य हैं क्योंकि वे नित्य परमात्मा से उत्पन्न हुये हैं जिसके सब सामर्थ्य नित्य हैं। शब्द दो प्रकार के हैं एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें से जो शब्द, अर्थ और संबंध ईश्वरीय ज्ञान में हैं वे नित्य और जो मनुष्यों की कल्पना से प्रस्तुत हैं वे कार्य कहलाते हैं। नित्य ईश्वर के ज्ञान नित्य होते हैं अतः वेद भी नित्य है। कल्पान्त में पुस्तक पत्र स्याही अक्षरों की बनावट आदि मनुष्य-कृत पदार्थ नष्ट हो जाते हैं परन्तु ईश्वरीय ज्ञान नष्ट नहीं होता। इस नित्यत्व को स्वामी जी ने वेद, व्याकरण, पूर्व मीमांसा वैशेषिक न्याय, सांख्य, योग और वेदांत इन छः शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका नामक ग्रन्थ में सिद्ध किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने युक्तियाँ भी दी हैं। उन्होंने लिखा है :

"असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता। जो सत्य है उसीसे आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती। इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है, क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है उसकी डाली पत्र पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते"[२]

अभिप्राय यह है कि यदि प्रारम्भ में ईश्वर विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या अथवा यथार्थ ज्ञान कभी न होता। वेद सब सत्य विद्याओं का मूल है और संसार की समस्त विद्यायें उसी मूल से बढ़कर वृक्ष रूप हो गई हैं। मनुष्य की स्वाभाविक चेष्टा और उत्तरोत्तर प्राप्त अनुभव द्वारा क्रमशः विद्या-प्राप्ति और ज्ञानोन्नति (पश्चिमीय विद्वानों द्वारा समर्थित आधुनिक विकासवाद) के सिद्धान्त का स्वामी जी ने खंडन किया है। उनका कथन है कि अन्य से विद्या प्राप्त किए बिना मनुष्य कभी विद्वान् नहीं हो सकता। थोड़ी विद्या प्राप्त करके उसकी उन्नति तो सम्भव है परन्तु विद्या का

१—वही पृष्ठ १९८

२—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ४०

नितान्ताभाव होने से ज्ञानोन्नति असम्भव है। यही कारण है कि सैकड़ों वर्ष से वन में रहने वाली जातियाँ अब भी असभ्य हैं। अतः सृष्टि के आरम्भ में वेद द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य ने उन्नति की। इसी प्रकार प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में मनुष्य वेद द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है।

वेद किन पुस्तकों के नाम हैं

ऋग्, यजु, साम और अथर्व वेद में मंत्र संहिताओं का ही नाम वेद है। इनके अतिरिक्त ब्राह्मणादि ग्रंथों को स्वामी दयानन्द ने वेद नहीं माना। वेदों की शाखायें तथा ब्राह्मणादि ग्रंथ वेदों के व्याख्यान हैं और मनुष्य कृत हैं अतः ये वेद नहीं हैं। मंत्र संहितायें ईश्वरोक्त और सब विद्याओं के मूल हैं। उनमें अशुद्धि और अभाव संभव नहीं हैं इसीलिए वे स्वतः प्रमाण हैं। मनुष्य कृत ग्रंथ स्वतः प्रमाण कदापि नहीं हो सकते।

ब्राह्मण ग्रंथ वेद नहीं है

ब्राह्मणादि ग्रंथों में परवर्ती इतिहास की अनेक घटनायें वर्णित हैं उनकी रचना वेदों के बहुत बाद की है। अतः वे वेद नहीं हो सकते। स्वामी जी के मतानुसार ब्राह्मण ग्रंथों का ही नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है।[१] ब्राह्मण ग्रंथों को वेद न मानने के अन्य प्रमाण भी हैं। यथा, ब्राह्मणों में वेद मंत्रों का व्याख्यान करते समय मंत्रों का उद्धरण दे देकर व्याख्या की है और संहिताओं में ब्राह्मण ग्रंथों की एक भी प्रतीक नहीं मिलती। व्याकरण के प्रमुख ग्रंथ महाभाष्य में लौकिक और वैदिक उदाहरण भिन्न-भिन्न दिए गए हैं। वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है परन्तु लौकिक उदाहरण ब्राह्मण ग्रंथों से लिए गये हैं।

वेदों में इतिहास

सृष्टि के प्रारम्भ में होने के कारण वेदों में इतिहास असम्भव है। परन्तु परवर्ती काल के कुछ विद्वानों और भाष्यकारों ने वेद में इतिहास माना है। स्वामी जी के अनुसार उन्हें यह भ्रम दो कारणों से हुआ। प्रथम कुछ ऋषियों के नाम उन्हें वेदों में मिले, द्वितीय कुछ वर्णित कथाओं का भ्रम वेदों में होता है। प्रथम भ्रम का निराकरण महात्मा नारायण स्वामी ने निम्न प्रकार किया है।

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ ८५

ब्राह्मण ग्रंथों के जिन भागों में देवासुर संग्राम संबंधी कथायें हैं वे इतिहास हैं, जिनमें जगत की उत्पत्ति का वर्णन है वे भाग पुराण हैं, जिनमें वेद मंत्रों के अर्थ अर्थात् द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन है वह कल्प है, जिन भागों में याज्ञवल्क्य, जनक गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का वर्णन है वह गाथा तथा जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर धर्म आदि पदार्थ विद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है वे भाग नाराशंसी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

"आख्या प्रवचनात् (पूर्व मीमांसा) (१-१-३०)

परन्तु श्रुति सामान्य मात्रम् ! पूर्व मीमांसा । (१-१-३१)

अर्थात् वेद में जमदग्नि आदि शब्द सामान्य (यौगिक) शब्दों के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं, पीछे से यह लोगों के नाम भी पड़ गये ।"[1]

जिन कथाओं से वेदों में इतिहास का भ्रम होता है वे वस्तुतः ऐतिहासिक तथ्य नहीं है अपितु रूपकालंकार द्वारा सांसारिक तथ्यों एवं अन्य विषयों के वर्णन हैं। स्वामी जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इन्द्रवृत्रासुर, गौतम अहिल्या, प्रजापति, दुहिता आदि भ्रमपूर्ण कथाओं के वास्तविक अर्थों को स्पष्ट किया है । इनके अतिरिक्त कुछ ऋषियों के नाम जो पाये जाते हैं वे अन्य पदार्थों के नाम हैं । यथा

"जमदग्नि आँख (शतपथ ८-१-२-३)
वशिष्ठ प्राण (शतपथ ८-१-१-६)
भारद्वाज मन (शतपथ ८-१-१-९)
विश्वामित्र कान (शतपथ ८-१-२-६)
विश्वकर्मन वाक् (शतपथ ८-१-२-९)"[2]

महात्मा नारायण स्वामी जी ने लिखा है "अस्तु इन ब्राह्मण और आरण्यक तथा उपनिषद आदि ग्रंथों में इसी प्रकार वेद में आए शब्दों के, जिन्हें ऋषियों का नाम कहा जाता है, अर्थ किए हैं । ऋषि दयानन्द ने निरुक्त, पूर्वमीमांसा और शतपथ आदि ग्रंथों पर गहरी दृष्टि डालते हुए यह शैली वेदों के अर्थ करने की बतलाई है कि वेद में प्रयुक्त सभी शब्द यौगिक हैं रूढ़ नहीं और इसीलिए स्थिर किया है कि वेद में इतिहास नहीं ।"[3]

वेदों की शाखाएँ

वेदों की ११२७ शाखायें प्रसिद्ध हैं परन्तु उनमें से केवल ७ या ८ ही इस समय उपलब्ध हैं । ये शाखाएँ विभिन्न ऋषियों द्वारा समय समय पर, वेदार्थों को स्पष्ट करने के लिए निर्णीत हुई हैं । सामवेद की ९९९, यजुर्वेद की १००, ऋग्वेद की २० और अथर्व-वेद की ८ शाखाएँ कही जाती हैं । वेदों के व्याख्यान रूप इन शाखाओं को स्वामी जी ने परतः प्रमाण माना हैं ।

वेदों के भारतीय भाष्यकार

इस देश के अब तक ज्ञात भाष्यकारों की संख्या २७ है । इनमें प्रथम देव स्वामी ईसा पूर्व के हैं तथा स्वामी दयानन्द १९वीं शती के अन्तिम भाष्यकार हैं । आर्य-समाज के अन्य भाष्यकारों को छोड़कर इन भाष्यकारों में सायण, उध्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । स्वामी जी के अतिरिक्त अन्य भाष्यकारों ने वेद भाष्य में

---

१. वेद रहस्य, पृष्ठ ३७
२. वही, पृष्ठ ३८
३. वेद रहस्य, पृष्ठ ३८-३९

लौकिक और वैदिक शब्द-प्रयोग के औचित्य और अनौचित्य पर विचार नहीं किया। वेद-भाषा संस्कृत से भिन्न होने के कारण लौकिक संस्कृत के शब्द वेद में उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त नहीं हो सकते परन्तु भाष्यकारों ने इसके विरुद्ध किया है। फलतः अशुद्ध वेद-भाष्य का वैदिक-भाषा-विहीन साधारण जनता पर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव पड़ा है। सामान्य लोग वेदों में बहुदेवतावाद पशुबध और सांसारिक मनुष्यों की कथायें मानने लगे। इन भाष्यकारों ने अनेक वेद-मंत्रों के अर्थ इतने अश्लीलता पूर्ण किए हैं कि वे निर्लज्जता की की सीमा का भी उल्लंघन कर जाते हैं। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि ईश्वरीय ज्ञान वेद में जिसकी रचना मनुष्य मात्र के हितार्थ हुई है, सायण महीधरादि ने गंभीर और कल्याणकर वार्तायें न प्रदर्शित कर उपहासास्पद अर्थ किये हैं। वस्तुतः उन्होंने वेदभाष्य की निश्चित एवं मान्य परिपाटी की अवहेलना कर प्रचलित धार्मिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों का ध्यान रखकर भाष्य किया है। अतः उनके भाष्यों में तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति की छाया है। स्वामी जी का यह पूर्ण विश्वास और निश्चित मत था कि वेदों में जितने मंत्र और पद हैं वे सम्पूर्ण सत्य विद्याओं के प्रकाशक हैं। भाष्य के विषय में उन्होंने लिखा है :—

"वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदांगों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके संग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋषि है [१]।"

उपर्युक्त कसौटी पर कस कर उन्होंने वेद भाष्य किया है तथा अन्य शैली का अनुशीलन करने वाले भाष्यकारों का खंडन किया है। स्वामी जी के भाष्य-विषय पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

वेदों के विदेशी भाष्यकार

वेद के प्रायः सभी पश्चिमी विद्वानों ने अपने भाष्य में सायण और महीधर का आधार लिया है। फलस्वरूप उन्होंने वेदों में ऐसी अनर्गल बातें लिख दी हैं जो सर्वथा अमान्य हैं। यज्ञ में पशुवध, भूतों की पूजा जादू टोना आदि विचित्र विषयों का समावेश कर उन्होंने प्राचीन भारतीयों की हीनता का ही चित्रण किया है। विदेशी भाष्यकार संस्कृतज्ञ होते हुये भी भारतीय वैदिक साहित्य को पूर्ण रूपेण समझने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। वेदांगों शास्त्रों, ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदादि को बिना मनन किये, जिसमें बहुधा भारतीय विद्वान भी असमर्थ रहे हैं, वेदभाष्य करना अनधिकार चेष्टा है। इसीलिये स्वामी जी को इस विषय में कहना पड़ा कि "यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ ८२

न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने (जो) थोड़ा सा पढ़ा वही उस देश के लिये अधिक है। परन्तु आर्यावर्त देश की ओर देखें तो उनकी बहुत न्यून गणना है क्योंकि मैंने जर्मनी देश निवासी के एक "प्रिंसिपल" के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत चिट्ठी का अर्थ करने वाले भी बहुत कम हैं और मोक्षमूलर साहब के संस्कृत साहित्य और थोड़ी सी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब ने इधर उधर आर्यावर्तीय लोगों की, की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ यथा तथा लिखा है...."[1]

विदेशी भाष्यकारों का उद्देश्य और शिक्षित जनता पर प्रभाव

अत: वेदों का भाष्य करने के लिये केवल संस्कृतज्ञ होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उपर्युक्त वेदांगो, शास्त्रों तथा ब्राह्मणादि ग्रंथों का पारदर्शी विद्वान होना अपेक्षित है। यूरोपीय विद्वानों के लिये प्रारम्भ से ही भारतीय वातावरण में संस्कृत शिक्षा-दीक्षा के बिना यह सम्भव नहीं, उन्हें भारतीय संस्कृति और वैदिक कालीन इतिहास से अभिज्ञ होना अनिवार्य है तथा मुख्यरूपेण अपने धर्म एवं धर्मग्रंथ बाइबिल के प्रति पक्षपात पूर्ण व्यवहार की तिलांजलि आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों को सायण महीधरादि के भाष्यों के आधार पर कार्य करने में भी भ्रान्ति हुई। वैदिक शब्दों के रूढ़ अर्थों को भी ग्रहण कर देशी विद्वानों ने यास्क के निरुक्तानुसार वेद-भाष्य के साथ अन्याय किया। स्वामी दयानन्द के अनुसार वेद के सब शब्द यौगिक हैं अत: रूढ़ और योगरूढ़ समझ कर उनका अर्थ करना अनुचित है। वेद भाष्य के लिए निरुक्त और प्रातिशाख्यों का गहन अध्ययन होना चाहिए। पश्चिमी विद्वान् परिश्रमी और अध्यवसायी होते हुए भी वेदों की आत्मा तक न पहुँच सके। ईसाई मतानुयायी होने के कारण उन्होंने अन्याय और पक्षपात से भी काम लिया। उक्त भारतीय भाष्यकारों के भ्रान्त अर्थों का आश्रय लेकर अपने वेद-भाष्य द्वारा उन्होंने भारतीयों को पठित वर्ग के सम्मुख नीचा दिखाना चाहा अत: पश्चिमी भाष्यकार सर्वांश में दोषी नहीं हैं। अनुचित एवं भ्रान्त आधार प्रस्तुत करने वाले देशीय विद्वान भी दोषी हैं।

सायण और महीधर के भाष्य का एतद्देशीय शिक्षित समुदाय पर हानिकारक प्रभाव पड़ा। अश्लीलता युक्त अर्थों को पढ़कर वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ तथा पश्चिमीय शिक्षा से प्रभावित शिक्षितों को अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त ईश्वरीय ज्ञान-कोष वेदों के प्रति अरुचि हो गई और पाश्चात्यों के कथन का समर्थन वे भी करने लगे।

भाष्य-जगत में क्रान्ति

स्वामी जी ने प्रचलित भ्रान्त वेद-भाष्य-शैली का खंडन कर जब वेदों का सत्य स्वरूप प्रदर्शित किया तो विद्वन्मंडली में खलबली मच गई। शताब्दियों से प्रचलित अन्ध परम्परा के विरुद्ध वेदों का बुद्धिग्राह्य भाष्य कट्टरपन्थी हिन्दू जाति सहसा सहन न कर सकी परन्तु अज्ञानाभ्र-विदारक, नवीन-पथ-प्रदर्शक एवं युग-परिवर्तन-कारी भाष्य-सूर्य

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, २२वीं प्रावृत्ति, पृष्ठ १७८

प्रदीप्त होकर ही रहा । यूरोपीय विद्वानों को नई दिशा में विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ । ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को देखकर मैक्समूलर को कहना पड़ा कि यह अरुचिकर कदापि नहीं है ।[1] इस प्रकार स्वामी जी ने वेदों का एक ऐसा रूप जनता के सामने प्रस्तुत किया जो चाहे प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण न हो परन्तु सत्य-पथ-प्रदर्शक और अन्ध परम्परा के विरुद्ध विद्रोह करने वाला है, अज्ञान-तिमिर-नाशक और सार्वभौम हैं एवं अनुकरणीय और जन-कल्याणकारक है । उन्होंने १९ वीं शती में जब वेदों का सम्मान ही नहीं, नाम मिट चुका था "वेदों की और लौटो" का गगन-भेदी स्वर ऊँचा किया । अतः वे निश्चय ही हमारे सम्मुख वेदों के पुनरूद्धारक रुप में आते हैं ।

स्वामी दयानन्द की अन्य मान्य ग्रन्थों में आस्था

वेदों के अतिरिक्त स्वामी जी को जो ग्रन्थ मान्य थे उनके विषय में सर्वप्रथम परिचय हमें एक संस्कृत विज्ञापन द्वारा मिलता है जो उन्होंने २० जुलाई सन् १८६९ ई० के लगभग कानपुर में दिया था ।[2] इसमें चार वेदों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम हैं :

चार उपवेदों में प्रथम आयुर्वेद जिसमें चिकित्सा विद्या है इसके अन्तर्गत चरक और सुश्रुत मान्य ग्रन्थ हैं ।

द्वितीय धनुर्वेद इसमें शस्त्रास्त्र विद्या है ।

तृतीय गांधर्ववेद इसमें गान विद्या है ।

चतुर्थ अर्थवेद इसमें शिल्प विद्या है ।

ये क्रमशः अक्, यजु, साम और अथर्व वेद के उपवेद है । इसके अतिरिक्त छः वेदांग हैं ।

१—शिक्षा इसमें वर्णोच्चारण की विधि है ।

२—कल्प इसमें वेद मन्त्रों के अनुष्ठान की विधि है ।

३—व्याकरण इसमें शब्द और अर्थों के सम्बन्ध का निश्चय है । इस विषय में अष्टाध्यायी और महाभाष्य मान्य हैं ।

---

1. We can divide the whole of Sanskrit literature beginning with the Rigveda and ending with Dayananda's introduction to his edition of Rigveda, his by no means uninteresting Rigveda Bhoomika, in two great periods (India what can it teach us, Lecture III)

२. **"ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन," संपादक पं० भगवद्दत बी ए० (सन् १९५५), पृ० १ ।**

इस विज्ञापन में ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम नहीं हैं । काशी का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ इस विज्ञापन देने के पश्चात् १६ नवम्बर सन् १८६९ ई० में हुआ । स्वामी जी के जीवन चरित्र देखने से प्रतीत होता है कि वे उस समय तक ब्राह्मणों को भी वेद मानते थे अतः इस विज्ञापन में ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख अलग नहीं है ।

४—निरुक्त इसमें वेद मंत्रों की व्याख्या है।

५—छन्द इसमें गायत्री आदि छंदों के लक्षण हैं।

६—ज्योतिष, इसमें भूत भविष्य और वर्तमान का ज्ञान है। इस विषय में केवल भृगु संहिता ही मान्य है।

निम्नलिखित १२ उपनिषदों में ब्रह्म विद्या है:

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरैय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक श्वेताश्वतर और कैवल्य।

शारीरिक सूत्र इसमें उपनिषद के मन्त्रों का व्याख्यान है।

कात्यायनादि सूत्र, इसमें गर्भाधान से लेकर दाहकर्म तक समस्त संस्कारों का व्याख्यान है।

योगभाष्य इसमें उपासना योग और साधन का वर्णन है।

वाकोवाक्यम् में वेदानुकूल तर्क विद्या है।

मनुस्मृति में वर्णाश्रम और वर्णसंकर धर्मों का वर्णन है।

महाभारत—इसमें शिष्ट और दुष्ट जनों के लक्षण वर्णित हैं।

इन इक्कीस शास्त्रों में भी जो व्याकरण वेद और शिष्टाचार के विरुद्ध हैं वे असत्य हैं।।

मान्य ग्रंथों के विषय में दूसरा विवरण हमें स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश में मिलता है। सत्यार्थ प्रकाश सर्वप्रथम महत्वपूर्ण रचना है। इसमें भी लगभग उन्हीं ग्रंथों के नाम हैं अन्तर केवल इतना ही है कि ऋक् यजु, साम और अथर्व वेदों के ब्राह्मणों क्रमशः ऐतरेय शतपथ, साम और गोपथ[1] जो स्वामी जी को मान्य हैं, के नाम दिये हुए हैं। इसके अतिरिक्त उपांग अर्थात् छः शास्त्र पूर्व मीमांसा वैशैषिक, न्याय, सांख्य और वेदांत तथा इन पर व्यास, गौतम, वात्स्यायन व्यास, भागुरि और वात्स्यायन अथवा बोधायन मुनियों के भाष्यों को क्रमशः स्वीकार किया है।

शास्त्रों के विषय में स्वामी जी के विचार

इन शास्त्रों को स्वामी जी परस्पर विरोधी नहीं मानते थे उनके मतानुसार केवल भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन भिन्न भिन्न शास्त्रों में किया गया है। उनका कथन है कि 'जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है वैसे ही सृष्टि विद्या के भिन्न भिन्न छः अवयवों का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार संयोग, वियोगादि

१—सत्यार्थ प्रकाश में उल्लिखित ब्राह्मणों के नाम देखने से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना के पूर्व स्वामी जी वेद और ब्राह्मण को एक मानते थे। गंभीर मनन और अध्ययन के पश्चात् उन्होंने मत परिवर्तन कर दिया और अंत तक इस विषय में दृढ़ रहे कि ब्राह्मण वेद नहीं हैं। इसके अनेक अकाट्य प्रमाण स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में दिये हैं जिन्हें देखने से उनके कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।

का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्हार कारण हैं वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्वों के अनुक्रम के परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर हैं उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यक शास्त्र में निदान, चिकित्सा, औषधि, दान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं परन्तु सब का सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं इनमें से एक एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं।"[1]

सत्यार्थप्रकाश के पश्चात् संस्कार-विधि और ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका की रचनाएँ हुईं। इन तीनों ही पुस्तकों में मान्य ग्रन्थों का विवरण समान है केवल श्वेताश्वतर और कैवल्य उपनिषद के नाम जो विज्ञापन में तो दिये हैं परन्तु इन ग्रंथों में से किसी में नहीं दिये। इससे प्रतीत होता है कि इन दोनों उपनिषदों को भी स्वामी जी ने कालान्तर में अमान्य समझ कर छोड़ दिया।

स्वामी जी के संस्कृत भाषण का कारण

ईश्वरोक्त वेद और ऋषि मुनि कृत उपवेद, वेदांग, उपांग तथा उपनिषदादि ग्रन्थ-शास्त्रों से सुसज्जित होकर स्वामी जी ने भारत में प्रचलित वेद-विरुद्ध मत-मतान्तरों के सुदृढ़ दुर्ग पर भीषण आक्रमण किया। उनकी मातृभाषा गुजराती थी परन्तु भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता की सम्बद्ध-कारिणी भाषा संस्कृत थी अतः उन्होंने इस पवित्र और प्रभावकारिणी भाषा द्वारा अपने मत का स्थापन और वैदिक सनातन धर्म में प्रविष्ट अनाचारों का खंडन प्रारंभ किया। हिन्दुओं के समस्त धर्म-ग्रन्थ तथा विभिन्न यज्ञ एवं षोडश संस्कारादि समस्त धार्मिक क्रिया-कलाप संस्कृत में होने के कारण संस्कृत-माध्यम द्वारा उनमें प्रविष्ट अनाचारों का खंडन आवश्यक था। स्वामी जी ने स्वयं आरा के मैजिस्ट्रेट एच० डब्ल्यू० अलेकजेंडर से संस्कृत भाषण का कारण बताते हुये कहा था "भारतवर्ष में द्राविड़ प्रभृति अनेक भाषायें बोली जाती हैं तब मैं किस भाषा में बोलूँ? इसके अतिरिक्त संस्कृत सारे हिंदुओं की भाषा है और समस्त भाषाओं का मूल है, अतः संस्कृत बोलना ही उचित है।"[2]

भाषण का प्रभाव

इस संस्कृत भाषण का प्रभाव उच्च वर्ग तथा उच्च मध्य वर्ग के पठित समाज पर आश्चर्यजनक रूप से पड़ा क्योंकि इस वर्ग के लोग या तो स्वयमेव संस्कृत भाषण समझ लेते थे या पंडितों की सहायता से स्वामी जी के कथित भावों को हृदयंगम करते थे। फलतः इन भाषणों ने एक अद्भुत उथल-पुथल पैदा कर दी। मूर्तिपूजा के अभ्यस्त एवं

१—सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ ४४

२—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र प्रथम भाग, पृष्ठ २१३

परम्परा की लीक पीटनेवाले हिन्दुओं के लिए दयानन्द एक भयानक विस्फोट सिद्ध हुए। प्रचलित अमान्य-प्रथायें अन्धविश्वास की शिला पर आधारित होने पर भी उसका खंडन जन-समुदाय को रुचिकर प्रतीत नहीं होता। बहुधा जनता रूढ़िवाद के विरुद्ध आन्दोलन-कर्ता को हीन दृष्टि से देखती है और उसके विपरीत अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार ही नहीं अपितु प्राणघातक आक्रमण करती है। स्वामी जी के भाषण और प्रचार ने उनके विरुद्ध भी ऐसा ही वातावरण उत्पन्न कर दिया था यद्यपि संस्कृत भाषण के कारण अभी वे साधारण जनता के निकट और सीधे सम्पर्क में नहीं आये थे।

बंगाल की यात्रा

सन् १८७० ई० में कुंभ के अवसर पर बंगाल के प्रसिद्ध ब्राह्मसमाजी नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर प्रयाग पधारे। स्वामी दयानन्द और ठाकुर महोदय से उक्त मेले में वार्तालाप हुआ। स्वामी जी ने उनके सम्मुख वैदिक पाठशाला स्थापित करने का प्रस्ताव रक्खा। ठाकुर महोदय ने स्वामी जी से कलकत्ते आने की और वहाँ पाठशाला के विषय में परामर्श करने की इच्छा प्रकट की। इस वार्तालाप के फलस्वरूप स्वामी जी ने १६ अप्रैल सन् १८७२ ई० को काशी से कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया। मुगलसराय, डुमरांव, आरा, पटना, मुंगेर और भागलपुर होते हुए वे दिसम्बर में कलकत्ते पहुँचे।

हिन्दी के प्रति प्रेरणा

कलकत्ते में स्वामी जी ब्राह्मसमाजियों के निकट सम्पर्क में आये और उनके नेताओं से विचारों के आदान-प्रदान का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और श्री केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध नेताओं में से थे। स्वामी जी को दोनों महा-पुरुषों के निवास स्थान पर जाकर वार्तालाप का अवसर प्राप्त हुआ। २१ जनवरी सन् १८७३ ई० को ब्राह्मसमाज के उत्सव के अवसर पर स्वामी जी महर्षि देवेन्द्रनाथ के गृह पर पधारे। उनका धर्मोपदेश भी उक्त अवसर पर हुआ इसके अतिरिक्त विभिन्न अन्य स्थानों पर भी स्वामी जी के अनेक भाषण हुए। अब तक स्वामी जी के भाषण संस्कृत में ही होते थे। ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता श्री केशवचन्द्र सेन ने स्वामी जी को परामर्श दिया कि वे भाषा में ही व्याख्यान किया करें क्योंकि भाषान्तरकर्ता बहुधा उनके भावों को विकृत एवं परिवर्तित रूप में जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं। इसे स्वामी जी ने स्वीकार किया। निम्नलिखित घटना भी इस विषय में उल्लेखनीय है।

एक विशेष घटना

२३ मार्च सन् १८७३ ई० को बाबू गोराचांद के निवास स्थान पर स्वामी जी का एक भाषण "ईश्वर और धर्म" विषय पर संस्कृत में हुआ। इस भाषण में उन्होंने बहु-देवतावाद का भी खंडन किया। स्वामी जी के संस्कृत भाषण का अनुवाद पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने किया। न्यायरत्न ने अनुवाद करते हुए एक बात ऐसी कह दी जो स्वामी जी ने नहीं कही थी। संस्कृत कालेज के विद्यार्थियों ने इसका प्रतिवाद किया। इस पर पं० न्यायरत्न बिगड़ कर चले गए।

घटना का प्रभाव

इस घटना से स्वामी जी ने प्रत्यक्ष ही अनुभव किया कि अनुवादकर्ता उनके भावों का अनर्थ करते हैं। अतः इस घटना और केशवचन्द्र सेन के साथ विचार विमर्श के फल-स्वरूप उनकी प्रचार सम्बन्धी भाषा-नीति में परिवर्तन हुआ। वस्तुतः यह स्वामी जी के चरित्र की महानता थी जिसके कारण उन्होंने कल्याणकारी एवं ग्राह्य परामर्श को स्वीकार कर भविष्य में हिन्दी-माध्यम द्वारा कार्य करने का निश्चय किया। यदि उनमें यह गुण न होता तो संस्कृत में ही वह धर्म-प्रचार और सुधार-कार्य करते और उत्तर भारत में जो प्रसिद्धि और व्यापकता स्वामी जी एवं आर्यसमाज द्वारा हिन्दी को मिली उससे वह वंचित रह जाती। अतः बिना किसी मध्यस्थ के जनता तक अपने स्पष्ट विचार पहुँचाकर उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार ही नहीं किया अपितु हिंदी के प्रति महान उपकार भी किया।

ब्राह्मसमाज से सम्पर्क और उसके परिणाम

ब्राह्मसमाज के सम्पर्क से ही संस्था-स्थापन, जन-मध्य-वस्त्र-धारण और राष्ट्रीयकरण की भावना भी उनके हृदय में उत्पन्न हुई। संस्था-स्थापन द्वारा देशव्यापी संगठन धर्म-प्रचार, वेदों का पुनरुद्धार तथा समाज-सुधार का कार्य सरल हो गया। राष्ट्रीयकरण और भाषा में अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। स्वामी जी के हृदय में उद्भूत राष्ट्रीय भावना ने भाषा के प्रश्न को और भी आगे बढ़ा दिया।

इस प्रकार बंगाल-यात्रा ने उन्हें नये विचार प्रदान किये जिससे अनेक लाभ हुये। समस्त उत्तरी भारत में एक ऐसो ज्ञान-गंगा प्रवाहित हुई जिसमें भारतवासियों ने स्नान कर विभिन्न वेद-विरुद्ध सम्प्रदायों द्वारा प्रसूत पतनोन्मुख कलुष-कालिमा प्रवाहित कर दी। अवाध गति से प्रवाहित इस धारा ने देश में नव चेतना, नवीन स्फूर्ति और अद्भुत जागृति उत्पन्न की जिसके परिणामस्वरूप शताब्दियों से अज्ञान-निद्राभिभूत देश लड़-खड़ा कर उठ खड़ा हुआ और समय-पथ पर अनतिदूर एक भाषा और एक राष्ट्र के भव्य दर्शन हुए।

आर्यसमाज की स्थापना और उसके नियम

बंगाल-यात्रा के पश्चात् एक देशव्यापी संस्था-स्थापन का विचार निरन्तर स्वामी जी के मस्तिष्क में बना रहा। वे अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में थे और संस्था की रूपरेखा एवं उसके समुचित स्वरूप-निर्धारण के विषय में चिन्तन शील थे। वे एक सार्वभौम संस्था की स्थापना करना चाहते थे जो अन्धविश्वास, रूढ़िवाद, आडम्बर एवं प्रचलित धार्मिक अनाचारों से मुक्त हो, जो राष्ट्र को एक सूत्र में बाँध सके और वैदिक सिद्धान्तों के के अनुकुल हो।

सम्प्रदायवाद से हानि

सम्प्रदायवाद के स्वामी दयानन्द घोर विरोधी थे। भारत में सम्प्रदायों की कमी नहीं है। इन सम्प्रदायों ने व्यापक वैदिक-धर्म की एक रूपता को नष्ट कर जनसमुदाय

को शतशः संकीर्ण विचारों की परिधि में संबद्ध कर दिया। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने पूर्व सम्प्रदाय-प्रवर्तकों के सीमित सिद्धान्तों में बहुधा नाममात्र का परिवर्तन करके अपना राग अलग अलापने लगा। प्रत्येक संप्रदाय का प्रवर्तक और उसके द्वारा रचित धर्म-ग्रन्थ ही उसके अनुयायियों के सर्वस्व और अन्तिम सीमा निर्धारक हैं। मानवकृत इन साम्प्रदायिक धर्म-ग्रन्थों को जो समय समय पर निर्मित होते रहते हैं, चरम और परम मान लेना संकीर्णता की पराकाष्ठा है। इस साम्प्रदायिक संकीर्णता ने भारतवर्ष के धार्मिक और सामाजिक संगठन को खोखला कर दिया एक सम्प्रदायवादी दूसरे को अपने से हीन समझता है और बहुधा अनुचित रीति से एक दूसरे को हानि पहुँचाने में प्रयत्नशील रहता है। देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का हिन्दू समाज पर कुप्रभाव पड़ रहा था इसके अतिरिक्त बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि कुरीतियों द्वारा समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा था। अतः इस समय समाज-सुधारक एवं राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता थी जो समाज के विकार को दूर कर देश को ऊँचा उठा सके। स्वामी जी की चिन्तनशीलता के फलस्वरूप एक ऐसी संस्था की स्थापना हुई जो सम्प्रदायवाद से परे कुप्रथा-निवारिणी, राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत और वैदिक धर्मानुसारिणी थी। इस संस्था का नाम उन्होंने आर्यसमाज रखा।

आर्यसमाज की स्थापना और प्रारंभिक नियम

आर्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल सन् १८७५ ई० तदनुसार चैत्र शुक्ल ५ सम्वत् १९३२ में बम्बई में गिरगाँव रोड पर डाक्टर माणिक जी की वाटिका में हुई थी।[१] उस समय आर्यसमाज के २८ नियम स्वीकृत हुये थे। इन नियमों की रचना शीघ्रता में की गई थी और स्वामी जी को अन्तिम रूप प्रदान करने का अवसर प्राप्त न हुआ था। ये नियम विशेषतः संगठन, सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार एवं देश विशेष की स्थिति के अनुकूल हैं। आर्यसमाज की स्थापना के समय उन्होंने हिन्दी का ध्यान रक्खा। बम्बई का पाँचवाँ नियम इसका प्रमाण है। यह नियम निम्नलिखित है।

"प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्य भाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश की पुस्तक होगी और एक आर्य प्रकाश पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जाँयगें।"[२]

प्रधान समाजों में आर्य भाषा (हिन्दी) में वेदानुकूल एवं उपदेशपूर्ण पुस्तकों का संग्रह आवश्यक है। वेद एवं तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों को समझने के लिए तो संस्कृत पुस्तकें अनिवार्य हैं ही परन्तु व्यापक लोकभाषा हिन्दी की अवहेलना कैसे की जा सकती थी अतः उक्त नियम में आर्य भाषा (हिंदी) में भी पुस्तक-संग्रह का निर्देश किया गया है।

१—यद्यपि इससे पूर्व राजकोट में जनवरी सन् १८७५ ई० में आर्य समाज की स्थापना हो चुकी थी परन्तु कुछ मास पश्चात वह समाप्त हो गई अतः बम्बई से ही स्थायी रूप से समाज की स्थापना मानना चाहिये।

२—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र देवेन्द्रनाथ कृत, पृष्ठ ३३२

आर्यसमाज के वर्तमान नियम

आर्यसमाज के प्रचलित १० नियमों[1] की रचना लाहौर आर्यसमाज की स्थापना के समय २४ जून सन् १८७७ ई० में हुई थी। लाहौर के नियम सार्वभौम और व्यापक हैं, उदार एवं सर्व ग्राह्य हैं। इसमें आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप का स्पष्ट चित्रण है तथा मौलिक सिद्धांतों को मनुष्य मात्र के सम्मुख सरल रूप से प्रस्तुत किया गया है। इन नियमों से निर्माता की बुद्धिमता, दूरदर्शिता और उदारता का परिचय मिलता है।

उपनियमों में हिन्दी

उक्त नियमों में हिन्दी को स्थान नहीं दिया गया है। हिन्दी का राष्ट्रीय महत्व है। धर्म की सार्वदेशिकता के सम्मुख हिन्दी नगण्य है। परन्तु स्वामी जी भारतवासी थे सर्व-प्रथम उन्हें अपने देश की उन्नति अभीष्ट थी अतः राष्ट्रीय उत्थान हेतु उन्होंने हिंदी का समर्थन किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि देश की उन्नति के लिये एक भाषा का होना अनिवार्य है। तत्कालीन परिस्थिति में हिन्दी को विश्वभाषा बनाने का प्रश्न न था, यद्यपि विज्ञान पर आधारित होने से देवनागरी लिपि में यह गुण हैं, परन्तु इसे राष्ट्रीय रूप देना अनिवार्य था अतः स्वामी जी ने हिंदी पठन-पाठन को मुख्य नियमों में स्थान न देकर उप-नियमों के अन्तर्गत लिखा।

---

१. **आर्यसमाज के दस नियम निम्नलिखित हैं :**

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६. संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

बम्बई के नियम में आर्य समाजस्थ पुस्तकालय के लिए केवल वेदानुकूल एवं उपदेश पूर्ण हिन्दी पुस्तकों के संचय का निर्देश था परन्तु लाहौर के उपनियम में स्पष्ट रूप से प्रत्येक आर्यसभासद के लिए हिंदी-ज्ञान के औचित्य पर बल दिया गया है।[1] उपनियमों की रचना वैधानिक कार्य संचालनार्थ देश और काल की स्थिति को ध्यान में रखकर की गई है अतः आवश्यकतानुसार इनमें परिवर्तन भी हो सकता है परन्तु हिन्दी के विषय में आर्यसमाज का प्रारम्भ से एक निश्चित मत रहा है। हिन्दी का राष्ट्रीय मूल्यांकन करने वाली सर्वप्रथम संस्था निस्संदेह आर्यसमाज ही है। उक्त उपनियम में हिन्दी के लिये आर्यभाषा का प्रयोग स्वामी जी के उत्कट हिन्दी प्रेम का परिचायक है। आर्यभाषा नाम समस्त आर्यसभासदों के लिए आकर्षक एवं अपनत्व का द्योतक है। उर्दू पठित पंजाब निवासी आर्यसमाज के क्षेत्र में आने पर केवल आर्यसमाजी ही नहीं अपितु आर्य भाषा-भाषी भी हो जाते थे। उर्दू प्रधान पंजाब प्रान्त में हिन्दी का वातावरण उत्पन्न करने वाली प्रमुख और प्रथम संस्था आर्यसमाज है। इस प्रश्न पर हम अन्यत्र विचार करेंगे।

स्वामी दयानंद द्वारा हिन्दी-प्रचार और कठिनाइयाँ

राष्ट्रोत्थान-हेतु स्वामी जी ने हिन्दी को अपनाया अतः आर्यसमाज की स्थापना का उद्देश्य भी प्रचलित हिन्दू धर्मान्तिर्गत आडम्बरों, अनाचारों और सम्प्रदायवाद का समूलोच्छेदन ही न था अपितु राष्ट्रजागरण एवं देशोद्धार भी था। वे भारत को एक संगठित राष्ट्र के रूप में देखने के इच्छुक थे एतदर्थ एक भाषा और एक धर्म अनिवार्य था। उन दिनों हिन्दी-प्रचार-पथ कंटकाकीर्ण था। अनेक विरोधी शक्तियों ने हिन्दी का गला घोट दिया था।

मुसलमानों और सर सैयद अहमद खाँ द्वारा विरोध

मुसलमानों ने सतत प्रयत्न द्वारा न्यायालयों और कार्यालयों से हिन्दी को हटवा कर उर्दू की स्थापना करवा ली थी। सर सैयद अहमद खाँ जैसे मुसलमान नेताओं ने हिन्दी को "गँवारी बोली" नाम दे रक्खा था। इन नेताओं का हिन्दी विरोधी प्रयत्न निरन्तर बढ़ता ही गया यहाँ तक कि वे धार्मिक कट्टरता और पक्षपात का आश्रय ले हिन्दी के विरुद्ध विष-वपन करते रहे। उन्होंने हिन्दी को मूर्तिपूजक हिन्दुओं की भाषा बताया जो कि पैगम्बरी मतानुयायी मुसलमान और ईसाइयों के नितान्त प्रतिकूल है। प्रमुख मुसलमानों ने अपने आन्दोलन द्वारा अंगरेजों और गार्सां द तासी जैसे धर्मान्ध फ्रांसीसी विद्वान् को भी प्रभावित कर दिया जो पैरिस में हिन्दुस्तानी और उर्दू का शिक्षक था।

तासी का पक्षपात

जैसा कि प्रथम अध्याय में लिखा जा चुका है तासी ने उर्दू के साथ पक्षपात किया

१—"सब आर्य और आर्य सभासदों को संस्कृत वा आर्य भाषा जाननी चाहिये" उपनियम संख्या ३५

और मुसलमानों से साम्प्रदायिक सहयोग कर देश में हिन्दी के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न किया।

सरकार द्वारा अड़चन

भारत सरकार ने एक सूचना भी निकाली जिसमें हिन्दी के विषय में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये गये थे।

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"[१]

इतना ही नहीं हिन्दीभाषी प्रान्त संयुक्त प्रदेश के शिक्षा विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष श्री हैवेल (M. S. Havell) साहेब ने कहा था।

"यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती, न कि एक ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"[२]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन वातावरण हिन्दी के नितान्त विपरीत था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी का पक्ष लेना और उसके प्रचार का प्रयत्न करना असाधारण साहस का कार्य था। इसके अतिरिक्त मुसलमानों और अँगरेज शासकों ने शिक्षित हिन्दू जनता के मस्तिष्क पर एकेश्वरवाद की महत्ता का प्रभाव जमा दिया था और उसकी ओट में अपने धर्म और भाषा का प्रचार कर रहे थे। शिक्षित और अशिक्षित लगभग सभी हिन्दू उनके धर्म के कथित एकेश्वरवाद, भ्रातृत्व और समानता की ओर अनायास आकृष्ट हो अपने प्राचीन सर्वमान्य वैदिक धर्म को न समझ कर अधिक संख्या में विधर्मी हो रहे थे। स्वामी दयानन्द के समान धर्म का सच्चा स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित करने वाले व्यक्ति विरले थे। उन्होंने मूर्तिपूजा एवं तद्भूत अनाचारों का खंडन कर वैदिक एकेश्वरवाद तथा गुण, कर्म, स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था द्वारा समानता का जो स्वरूप प्रस्तुत किया उससे शिक्षित जनता आकर्षित हुई। पहले तो जैसा कि पूर्व हमने कहा है, शिक्षित जनता में एवं पंडितों के मध्य संस्कृत भाषा में ही व्याख्यान और शास्त्रार्थ द्वारा प्रचार करते रहे परन्तु प्रचलित हिन्दी की व्यापकता का ध्यान रख कर उन्होंने हिन्दी भाषण और लेखन का अभ्यास किया।

आन्तरिक कठिनाई

गुजराती स्वामी जी की मातृभाषा थी। संस्कृत में भाषण देने, लिखने और शास्त्रार्थ करने के वे अभ्यस्त थे अतः हिन्दी-प्रचार मार्ग में न केवल वाह्य समस्यायें थीं अपितु आन्तरिक कठिनाइयाँ भी थीं। परन्तु स्वामी दयानन्द जैसे कर्मयोगी इन कठिनाइयों से हताश होने वाले न थे। उन्होंने हिन्दी में लेखन और भाषणादि का अभ्यास किया।

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४३३
२—वही, पृष्ठ ४४४

उनका सर्वप्रथम हिन्दी भाषण मई सन् १८७४ ई० में काशी में हुआ। बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा लिखित जीवनचरित्र में लिखा है।

"जिस दिन महाराज ने पहला व्याख्यान दिया उस दिन पहले से ही सूचना दे दी थी कि व्याख्यान भाषा में होगा। व्याख्यान भाषा में ही हुआ परन्तु संस्कृत बोलने के अभ्यास और भाषा बोलने के अनभ्यास के कारण व्याख्यान में वाक्य के वाक्य संस्कृत में बोल गये। भाषा में व्याख्यान देने का यह परिणाम तो अवश्य हुआ कि सर्व साधारण अधिक संख्या में व्याख्यान सुनने आने लगे, परन्तु पंडितों की उपस्थिति कम हो गई।"[1]

स्वामी जी के हिन्दी-भाषण से जन साधारण अधिक आकृष्ट हुये और उन्हें स्वतंत्र रूप से उनके विचारों को मनन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे पूर्व जनता को स्वामी जी के संस्कृत-भाषण का अधिकतर विकृत रूप ही विरोधी पंडितों द्वारा सुनने को मिलता था। हिन्दी-भाषण द्वारा स्वामी जी जनता के सीधे सम्पर्क में आये और उन्हें अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार धर्मप्रचार के साथ साथ आर्यभाषा (हिन्दी) के प्रचार का श्री गणेश हुआ। स्वामी जी ने आर्यभाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने का स्वप्न ही न देखा अपितु इसके लिये क्रियात्मक प्रयत्न किया।

स्वामी जी द्वारा हिन्दी-प्रचार के साधन

१. व्याख्यान

मई सन् १८७४ ई० के पश्चात स्वामी जी निरन्तर हिन्दी में ही भाषण देते रहे। बम्बई जैसे प्रान्त में भी, जहां वे अपनी मातृ भाषा गुजराती में भलीभाँति अपने विचारों को व्यक्त कर सकते थे, उन्होंने हिंदी में ही भाषण दिया। अनवरत हिन्दी भाषा को सुनते-सुनते कतिपय व्यक्तियों को यह कहने का साहस हुआ कि स्वामी जी संस्कृत नहीं जानते।[2] काशी के दिग्गज पंडितों से संस्कृत में शास्त्रार्थ करने वाले महारथी एवं तत्कालीन अद्वितीय वेदज्ञ महापंडित के प्रति इस प्रकार का कथन हास्यास्पद ही था तथापि स्वामी जी ने १७ जुलाई १८७५ ई० का व्याख्यान संस्कृत में देकर उनकी धारणाओं को मिथ्या सिद्ध कर दिया।

---

१. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र प्रथम भाग, पृष्ठ २७०,

२—"पूना में कुछ लोग कहने लगे थे कि स्वामी जी संस्कृत अच्छी नहीं जानते इसी से हिंदी में बोलते हैं। इसकी भनक स्वामी जी के भी कानों में पड़ गई अतः १७ जुलाई (१८७५) को उन्होंने जब अपना व्याख्यान पुनर्जन्म पर आरम्भ किया तो संस्कृत में दिया। उन्होंने सुललित और सुमिष्ट संस्कृत की नदी बहा दी जिसे सुन-कर श्रोता मुग्ध और विस्मित हो गये। लोग बहुधा संस्कृत नहीं जानते थे अतः श्रोताओं ने उनसे हिन्दी में ही बोलने की प्रार्थना की। तब उन्होंने शेष व्याख्यान हिन्दी में ही दिया......"

महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र, देवेन्द्र नाथ, भाग १, पृ० ३४८

स्वामी जी ने अपनी दूरदर्शिता से हिन्दी की महत्ता को पूर्ण रूपेण परख लिया था। अतएव हिन्दी में ही उन्होंने लेखन और भाषण का सतत अभ्यास किया। आदर्श हिन्दी के दृष्टिकोण से उनकी लेखन-शक्ति और सम्भवतः भाषण-शक्ति सन् १८७६ ई० के मध्य तक पूर्ण शुद्ध, परिमार्जित और विकसित न हो पाई थी[1] परन्तु यह निर्विवाद और सन्देहरहित है कि उनकी इन शक्तियों का विकास उत्तरोत्तर होता ही रहा है और आगे चलकर वे धारावाही रूप से शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी में अपने विचार व्यक्त करने लगे। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में उनकी लेखन-शक्ति भी हमें विकसित रूप में मिलती है।

भाषण-शैली

स्वामी जी उच्च कोटि के वक्ता और उपदेशक थे। उनके भाषणों का जनता पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ता था और श्रोता मन्त्रमुग्ध से होकर व्याख्यानों को सुना करते थे। अनेक व्यक्तियों पर तो ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने व्याख्यान के पश्चात् ही स्वामी जी की विचारधारा का समर्थन कर उसे अपना लिया। उनका स्वर गंभीर, उच्चारण स्पष्ट और वर्णन आकर्षक होता था। महात्मा मुंशीराम पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उनके भाषणों के सम्बन्ध में लिखा है :—

व्याख्यान के विषय में स्वामी श्रद्धानंद का मत

"......अब व्याख्यान का हाल काबिले जिक्रहै। मैने केशवचन्द्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, एनी बीसेंट और अन्य बहुत से प्रसिद्ध व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं, और वह भी उनकी बढ़ती के समय में। लेकिन मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जो असर मुझ पर उस रोज के व्याख्यान ने किया और जो फसाहत कि मुझे उस रोज के सादे शब्दों में मालूम हुई वह अब तक तो दिखाई नहीं दी। आगे की ईश्वर जाने। उस रोज आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। इसी प्रकरण में महाराज ने सत्य के बल पर बोलना आरम्भ किया। पादरी स्काट को छोड़कर पहले दिन के सब अंगरेज सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब चुपचाप एकाग्र होकर व्याख्यान सुन रहे थे। मुझे पूरा व्याख्यान तो याद नहीं यद्यपि उसके असर का अब तक अनुभव करता हूँ, किन्तु कुछेक शब्द मुझे मरते दम तक याद रहेंगे। ऋषि ने कहा "लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हों हम तो सत्य ही कहेंगे।" इसके बाद

१—निम्न घटना ३० अप्रैल सन् १८७६ की है

"स्वामी जी ने महाराजा इन्दौर नरेश तुकोजीराव को राजनीति के कुछ सिद्धान्त लिखकर दिये थे। स्वामी जी की हिन्दी उस समय शुद्ध नहीं थी इसलिये उन्होंने अपना लेख राजवी बासुदेव टुल्लो अध्यक्ष शिक्षाविभाग इन्दौर राज्य को शुद्ध कराने के लिये दे दिया था और उन्होंने उसे मास्टर शम्भुदयाल से शुद्ध कराया था।

महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र, देवेन्द्र नाथ भाग १, पृ० ३६८

उस उपनिषद वाक्य को पढ़कर जिसमें लिखा है कि आत्मा का न कोई हथियार छेदन कर सकता है, और न उसे आग जला सकती है, गरजती हुई आवाज में बोले, 'यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट कर दें' फिर चारों ओर अपनी तीक्ष्ण आँखों की ज्योति डालकर सिंहनाद करते हुये फरमाया "लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखाओ, जो यह दावा करता है कि वह मेरी आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर संसार में दिखाई नहीं देता मैं यह सोचने के लिये भी तैयार नहीं हूँ कि मैं सत्य को दबाऊँ या नहीं।"[१]

उपर्युक्त वर्णन एक ऐसे व्यक्ति का है जो स्वयं एक उच्चकोटि का वक्ता एवं उपदेशक था और जिसने अपने कानों से स्वामी जी के व्याख्यान सुने थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनके भाषणों में ओज था, प्रभाव था और अपने हृदयस्थ भावों को बलपूर्वक व्यक्त करने की विलक्षण शक्ति थी।

विष्णु पंत का मत

इन्दौर के एक और व्यक्ति श्री विष्णु पन्त ने स्वामी जी की भाषण शक्ति के विषय में उनके जीवन चरित्र लेखक श्री देवेन्द्रनाथ को लिखा था।

"स्वामी जी उत्कृष्ट वक्ता थे। उनका स्वर उच्च, गंभीर और मधुर था। उनकी बोलने की रीति तेज:पूर्ण और उनका आक्रमण तीव्र होता था, उनकी वाणी एक दम लोगों के हृदय में प्रवेश कर जाती थी, इसलिये वह विरुद्ध पक्ष के लोगों को असह्य हो जाती थी और बीच में से ही उठकर चले जाते थे।"[२]

स्वामी जी के भाषण में यदि प्राबल्य न होता तो भारतवर्ष की तत्कालीन परिस्थिति में जन साधारण पर उसका प्रभाव भी न पड़ता। अतः परम्परा से स्थापित अज्ञान, अन्धविश्वास और मूढ़ता के सुदृढ़ दुर्ग को धराशायी करने के लिये वज्र-वाणी अनिवार्य थी। उनके खंडनात्मक भाषण में कठोरता रहती ही थी जिससे साधारण रूढ़िवादी एवं परम्परा की लीक पीटने वाले रुष्ट हो जाया करते थे परन्तु विचारवान सहृदय और निस्वार्थ वृत्ति के व्यक्ति उनकी शिक्षाओं पर शान्त चित्त से विचार कर उनके समर्थक बन जाते थे। स्वामी जी का उपदेश और प्रचार कार्य आपत्तियों और विघ्न-बाधाओं के होते हुये भी तीव्रतर होता गया। उनकी दृढ़ता, कष्ट सहिष्णुता और विद्वता का प्रभाव साधारण जनता पर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूप से पड़ने लगा। जन साधारण यह सोचने लगे कि यह विलक्षण महातपस्वी है जो पग पग पर बाधाओं को ठुकराता चलता है। वस्तुतः विकसित चरित्र की उच्चता ने भी सर्व साधारण को उनके व्याख्यान श्रवणार्थ बाध्य किया।

१—आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग, इन्द्र विधावाचस्पति, पृष्ठ १२५. १२६

इन्द्र जी ने उपर्युक्त उद्धरण पं० लेखराम द्वारा रचित जीवन चरित्र में म० मुंशीराम द्वारा लिखित भूमिका से दिया है।

२—महर्षि दयानन्द का जीवनचरित्र, देवेन्द्रनाथ, भाग १, पृष्ठ ३६९

उत्तरोत्तर उन्नति

सन् १८७६ ई० के पश्चात उनकी हिन्दी-भाषण और लेखन-शक्ति पुष्ट होती गई। उनके व्याख्यान शुद्ध हिन्दी में होते थे और तत्सम शब्दों का प्राधान्य रहता था। अपने भाषण के मध्य वे वेदों के मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदों के वाक्य एवं महाभारत मनुस्मृत्यादि ग्रन्थों के उद्धरण भी देते थे। आवश्यकतानुसार उनके भाषण आत्मा-परमात्मा, सृष्टि उत्पति, वेदों की अपौरुषेयता, मुक्ति, पुनर्जन्म आदि गहन एवं सूक्ष्म विषयों पर, मूर्ति पूजा, अवतारवाद, मृतक श्राद्ध आदि खंडनात्मक विषयों पर तथा बालविवाह, मादकद्रव्य-सेवन, जन्मजात वर्ण व्यवस्था आदि निषेधात्मक एवं सामाजिक विषयों पर हुआ करते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि बिना शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के मनुष्य लोक-कल्याण तो दूर अपना ओर अपने परिवार की उन्नति और उपकार भी नहीं कर सकता। इसके तो वे मूर्तिमान आदर्श थे। जैसा कहते थे वैसा ही करते थे, इसीलिये वे जनता को विशेष प्रभावित कर सके।

सरस, सरल और सुललित भाषा में तो स्वामी जी के भाषण होते ही थे परन्तु समयानुसार स्वामी जी विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा रोचकता की वृद्धि कर हास्य का पुट भी दे देते थे। दक्ष मनोवैज्ञानिक की भाँति जनता की शिथिलता परिलक्षित कर ऐसी वार्ता सुनाते जिससे जनसमूह में एक लहर सी आ जाती और प्रत्येक व्यक्ति उनके कथन को ध्यानावस्थित हो सुनने लगता। श्रोताओं की मुखमुद्रा हास्य, करुणा, उत्साह और वीरता के भावों से बहुधा परिवर्तित होती रहती थी।

व्याख्यानों में दृष्टान्त

व्याख्यानों के अन्तर्गत जो दृष्टान्त अथवा आख्यायिकायें स्वामी जी सुनाया करते थे उनमें से अनेक बड़े मनोरंजक, महत्वपूर्ण, क्लिष्ट विषयों को सारल्य प्रदानकारक एवं सर्वजन ग्राह्य होते थे। "दिल्ली की मिठाई"[१], "मूर्ख राजा की कथा"[२] "बैंगन

१—दिल्ली की मिठाई के विषय में प्रसिद्ध है कि कुछ ग्रामवासी मिठाई की प्रशंसा सुन दिल्ली गये और हलवाई से मिठाई का भाव पूछा। मूल्य अधिक था और वे दे न सकते थे अतः वे निराश होकर लौट रहे थे। इतने में ही एक दूसरा मिठाई वाला मिला। उसने कहा हम तुम्हें सस्ती मिठाई देंगे और बकरी की मेंगनी और ऊंट के विष्ठा पर खांड चढ़ा कर मिठाई बेंच दी। वे मूर्ख उसी को खाकर मिठाई की प्रशंसा करने लगे। किसी ने कहा कि तुमने दूषित मिठाई खाई है तथापि उन्होंने ध्यान न दिया और कहने वालों पर रुष्ट हुये। इसी प्रकार कष्ट-साध्य सत्य-धर्म को त्याग कर लोग आजकल पुरुषार्थ हीन भोगयुक्त कथित धर्म की शरण ले रहे हैं और मुक्ति की आशा करते हैं एवं सत्य मार्ग-प्रदर्शक से रुष्ट होते हैं।

२—"एक बार एक राजा दिल्ली गये। वहाँ एक धूर्त ने उनसे कहा कि मुझे ऐसे वस्त्र बनाने आते हैं कि वह किसी को दिखाई नहीं देते, परन्तु उस मनुष्य को दिखाई देते हैं जो जारज हो। राजा थे बुद्धि के सागर, उसके झांसे में आ गये। वस्त्रों का मूल्य

और राजा की कहानी" [१] एवं "अन्धेर नगरी गवरगंड राजा" [२] आदि दृष्टान्त वे बहुधा आवश्यकतानुसार सुनाया करते थे। "व्यवहार भानु" नामक स्वरचित पुस्तक में स्वामी

१०००० रु० ठहरा जिसमें से ५००० रु० उसने अग्रिम ले लिया। जब कई महीने हो गये और वह न आया तो राजा ने उसे बुलवाया। राजा ने कहा कि वस्त्र लाये? उसने कहा कि लाया हूँ। राजा बोले हमें तो दिखाई नहीं देते। वह धूर्त बोला कि यदि दिखाई देते तो बात ही क्या होती। आप अन्दर चलिये मैं आप को पहना दूँ। राजा साहब उसके साथ एक कमरे में चले गये। वहाँ जाकर उसने राजा के सब वस्त्र उतरवा कर नंगा कर दिया और फिर झूठ मूठ राजा के शरीर पर हाथ फेर कर कहता कि यह कुरता पहनाता हूँ, यह पगड़ी इत्यादि। राजा कपड़े पहनना स्वीकार करते रहे और उसी नग्नावस्था में कचहरी में चले आये। मन्त्री बुद्धिमान था, वह समझ गया कि राजा ठगे गये। उसने राजा से कहा कि सब वस्त्र तो आपने दिल्ली के पहने हैं केवल एक लंगोटी देशी पहन लीजिये ताकि नग्नता बुरी न लगे। राजा ने कहा तो क्या हम नंगे हैं? मन्त्री ने कहा कि अवश्य, राजा को भी चेत हुआ और कहा कि उस धूर्त ने हमें ठग लिया।"

महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र, देवेन्द्रनाथ, भाग २, पृष्ठ ६७, ६८

१—"........एक राजा बैंगन खाकर सभा में आये, उस दिन उन्हें बैंगन बहुत स्वादिष्ट लगे थे। सभा में आकर उन्होंने कहा कि बैंगन बड़े स्वादिष्ट होते हैं, तो दरबारी कहने लगे कि महाराज बैंगन तो शाकों का राजा है, देखिये इसका वर्ण श्रीकृष्ण के वर्ण के समान है और इसके सिर पर मुकुट है। राजा ने बैंगन अधिक खा लिये थे, रात्रि में उन्होंने विकार किया, अतः अगले दिन सभा में आकर राजा ने बैंगन की बुराई की तो चाटुकार दरबारी झट कहने लगे कि महाराज इन्हीं अवगुणों के कारण तो इसका वर्ण काला हो गया है और इसे यह दंड मिला है कि शाखा से नीचे लटकता रहे।"

महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र, देवेन्द्रनाथ, भाग २, पृष्ठ ८१

२—अन्धेर नगरी गवगंड राजाकी कथा स्वामी जी ने व्यवहार भानु नामक पुस्तक में लिखी है। इसी कथा के अन्तर्गत "बैंगन और राजा की कहानी" भी आती है परन्तु देवेन्द्रनाथ कृत जीवन चरित्र में केवल "बैंगन और राजा की कथा" का ही वर्णन है और वह भी "व्यवहार भानु" की कथा से कुछ भिन्न है।

गवर्गंड राजा की कथा संक्षेप में निम्नलिखित है।

अंधेर नगरी गवर्गंड राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

प्रकाशवती नगरी में धर्मपाल नामी धार्मिक, विद्वान् न्यायकारी और प्रजा-पालक राजा राज्य करते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र जो बड़ा अधर्मी मूर्ख और स्वेच्छाचारी था, गद्दी पर बैठा। उसने सब काम विपरीत करना आरम्भ कर दिया। अपना 'गवर्गंड' और नगरी का 'अन्धेर' नाम रक्खा। उसने अपने राज्य में घोषणा करा दी कि सब वस्तुएँ केसर-कस्तूरी से लेकर मिट्टी पर्यन्त टके सेर ही

जी ने अनेक कथाएँ दृष्टान्त रूप में वर्णन की हैं। अपने व्याख्यानों में वे आवश्यकतानुसार निश्चय ही इन कथाओं को सुनाते होंगे।

विकेंगी। ऐसी प्रसिद्धि सुनकर एक हट्टे-कट्टे वैरागी के हृष्ट-पुष्ट शिष्य ने गुरू से उसी राज्य में चलने को कहा जहाँ सस्ते में ही मूल्यवान और दुर्लभ भोजन सुलभ था। गुरु ने शिष्य को ऐसे राज्य में बसने से मना किया। परन्तु शिष्य के आग्रह पर उसी नगरी में रहने को बाध्य हुआ। गुरु-शिष्य आनन्द से माल उड़ाने लगे और दिन प्रति दिन तगड़े होते गये। एक बार आधी रात को किसी साहूकार का सेवक अपने स्वामी का १००० रु० जमा करने हेतु लिये जा रहा था। चोर उसे छीन कर भागे। सेवक के रोने-चिल्लाने पर पुलिस ने एक निर्दोष भलेमानुष को पकड़कर राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने बिना छानबीन किये उसे मृत्यु दंड की आज्ञा दी। सूली पर चढ़ते समय वह व्यक्ति सूली के माप से दुर्बल निकला इस पर राजाज्ञा हुई कि कोई अन्य व्यक्ति जो सूली के परिमाणानुसार हो, चढ़ा दिया जाय। खोज करने पर पुलिस को उसी बैरागी का शिष्य उचित जँचा। सूली पर चढ़ाये जाने का आदेश सुनकर शिष्य बहुत रोया-चिल्लाया परन्तु पुलिस उसे पकड़कर ले चली। गुरु ने शिष्य से कहा कि तूने मेरा कहना नहीं माना उसी का यह फल हैं। परन्तु अब पछताना व्यर्थ था। अतः गुरु ने शिष्य को अन्य भाषा में समझा दिया कि सूली के पास पहुँचकर मैं स्वयं सूली पर चढ़ने को कहूँगा और तू कहना कि नहीं मैं पकड़ा गया हूँ मैं ही सूली पर चढ़ूँगा। अन्त में यही हुआ और दोनों सूली पर चढ़ने के लिए लड़ने लगे। उनके झगड़े को देख सब चमत्कृत हुए और राजा को यह सूचना दी गई। राजा स्वयं आये और गुरु से झगड़े का कारण पूछा। गुरू पहले तो बताना नहीं चाहते थे परंतु अनेक बार पूछने पर राजा से बताया कि इस समय बड़ा ही शुभ मुहूर्त है और जो इस समय सूली पर चढ़कर मरेगा वह चतुर्भुज हो विमान पर बैठकर सीधा स्वर्ग जायगा। यह सुनकर राजा स्वयं सूली पर चढ़ गया और अपने प्राण दे दिये। तत्पश्चात् शिष्य ने गुरु से भाग चलने को कहा तो गुरु ने बताया कि अब भागना व्यर्थ है क्योंकि अब सदाचारी और धर्मात्मा राजा राज्य करेगा। गवगंड राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई जो धार्मिक सदाचारी और न्यायप्रिय था गद्दी पर बैठा।

यह जानना मनोरंजक होगा कि स्वामी दयानन्द के समकालीन प्रसिद्ध साहित्यिक श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने भी अपने अन्धेर नगरी नामक नाटक में इसी प्रकार की कथा का वर्णन किया है। भारतेन्दु जी ने कथा को प्रहसन के रूप में प्रस्तुत किया है और अधिक साहित्यिकता प्रदान की है। कथा का रूप भी भिन्न है यद्यपि प्रारम्भ और अंत का भाग मिलता है। स्वामी जी ने "अंधेर नगरी गवगंड राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' लिखा है और भारतेन्दु जी ने 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' लिखा है। इसमें गवगंड के स्थान पर चौपट्ट शब्द है प्रहसन के कथानक में भारतेन्दु जी ने बाजार का दृश्य भी दिखाया है यहाँ विभिन्न विक्रेता अपनी वस्तुओं को टके सेर चिल्लाकर बेंच रहे हैं। उधर राजा के दरबार में फ़रियादी

स्वामी जी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ

स्वामी जी ने अधिकतर शास्त्रार्थ हिन्दी में ही किये। बंगाल यात्रा के पूर्व तो वे

आता है जिसकी बकरी कल्लू बनिये की दीवार गिरने से मर गई है। राजा का न्याय आरम्भ होता है और बकरी की मृत्यु के बदले फाँसी की सजा कल्लू बनिया, कारीगर चूनेवाला, भिश्ती, कसाई, गड़रिया से टलती हुई कोतवाल पर आकर गिरती है। कोतवाल के दुर्बल होने से महन्त जी का चेला गोवरधनदास पकड़ा जाता है। अंत में महन्त जी के आने पर उनसे अच्छी सायत का भेद समझ स्वर्गेच्छुक राजा स्वयं फाँसी पर चढ़ता है।

स्वामी जी द्वारा कथित दृष्टान्त और भारतेन्दु जी द्वारा लिखित प्रहसन दोनों में ही हास्य का पुट पर्याप्त मात्रा में है परन्तु भारतेन्दु जी के प्रहसन में चुलबुलाहट है जिससे कहीं-कहीं अमर्यादित और अशिष्ट-सा हो गया है। बालक, वृद्ध और महिलाओं के मध्य में मछली वाली का कथन—

लाख टका के बाला जोबन, गाँहक सब ललचाय।
नैन मछरिया रूप जाल में देखत ही फँस जाय।

असंयतसा है। स्वामी जी जैसे गम्भीर धर्म-प्रचारक इस प्रकार की बातें न तो स्वयं कह सकते थे न अन्य व्यक्ति के द्वारा जन-साधारण में कहा जाना सहन कर सकते। अतः व्याख्यान के अन्तर्गत स्वामी जी का दृष्टान्त ही उचित है जो मर्यादित भी है और मनोरंजक भी।

अंधेर नगरी की कथा का आविष्कारक कौन है यह भी विचारणीय प्रश्न है। स्वामी जी 'व्यवहारभानु' नामक पुस्तक फाल्गुन शुक्ल १५ संवत् १९३६ वि० में लिख चुके थे। उनकी दी हुई भूमिका में यही तिथि दी है अतः यह निश्चय है कि उक्त तिथि के पूर्व भी स्वामी जी ने 'अंधेर नगरी गवर्गंड राजा की कथा' दृष्टान्त रूप से जनता को सुनाई होगी। जिस समय पुस्तक की भूमिका लिखी गई उस समय स्वामी जी काशी में ही थे। फाल्गुन शुक्ल १० से लेकर चैत्र शुक्ल ६ सं० १९३७ तक उनके २० व्याख्यान बनारस में हुये। संभव है इन व्याख्यानों में स्वामी जी ने अंधेर नगरी की कथा का वर्णन किया हो और बनारस में यह कथा प्रचलित हो गई हो अथवा "व्यवहारभानु" के प्रकाशन के पश्चात् कथा बनारस में फैली हो।

भारतेन्दु जी ने "अंधेरनगरी" नाटक की रचना संवत् १९३८ वि० में की अर्थात् स्वामी जी की "व्यवहार भानु" पुस्तक प्रकाशन के लगभग २ वर्ष पश्चात्। अतः यह निश्चित है कि स्वामी जी ने "अंधेरी नगरी" की कथा का प्रचलन पहले किया। इसमें दो बातों की संभावना है। प्रथम यह कि इस कथा के रचयिता स्वामी जी थे और उनसे भारतेन्दु जी ने ग्रहण कर कथा को प्रहसन के अनुरूप कर लिया। द्वितीय यह कि इस प्रकार की कथा पूर्व से ही प्रचलित थी और दोनों महानुभावों ने कथा को अपना अपना रूप प्रदान किया। प्रतीत होता है कि यह कथा पूर्व से ही प्रचलित थी और दोनों विद्वानों ने कथानक में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया।

केवल संस्कृत भाषण ही करते थे अतः सुप्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ (१६ नवम्बर १८६९ ई०) संस्कृत में हुआ था। उससे पूर्व भी दो बड़े प्रसिद्ध शास्त्रार्थ अंगद शास्त्री से १८६७ ई० में और पं० हलधर ओझा से १८६८ ई० में संस्कृत में हुए थे। सन् १८७४ के पश्चात् उनके लगभग सभी शास्त्रार्थ हिन्दी में ही हुए थे। सनातनधर्मी हिन्दुओं की विभिन्न शाखाओं शैव शाक्त वैष्णवादि से तो अधिकतर शास्त्रार्थ होना अनिवार्य था ही परन्तु बौद्धों, जैनियों मुसलमानों और ईसाइयों से होनेवाले शास्त्रार्थों की संख्या भी अल्प न थी। शास्त्रार्थ हिन्दी में ही होते थे परन्तु वेद, शास्त्र, मनुस्मृत्यादि ग्रंथों के उद्धरण संस्कृत में देकर उसके अर्थ हिन्दी में स्पष्ट कर दिए जाते थे जिससे जनता को समझने में कठिनाई न हो।

चांदापुर में धर्म चर्चा

शाहजहाँपुर जिले में चांदापुर की धर्म-चर्चा शास्त्रार्थो की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ। इस मेले में हिन्दू-मुसलमान और ईसाइयों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और उन्होंने अपने अपने विचार जनता के सम्मुख रखे। भाषण के पश्चात् वक्ता से भिन्न मतानुयायियों ने प्रश्न किए और भाषण कर्ता ने उनके उत्तर दिए। इस मेले में स्वामी जी का प्रभाव सर्वोपरि रहा। इसका पूर्ण विवरण "सत्य धर्म विचार मेला चांदापुर" नामक पुस्तक में मिलता है।

मौलवी अहमद हुसेन और पादरी स्काट से शास्त्रार्थ

२४ सितम्बर १८७७ ई० को स्वामी जी का एक शास्त्रार्थ मौलवी अहमदहुसेन से जालंधर में हुआ था। १८८६ ई० तक यह शास्त्रार्थ पांच बार छप चुका था परन्तु अब उपलब्ध नहीं है।[1]

स्वामी जी का एक और प्रसिद्ध शास्त्रार्थ पादरी टी० जी० स्काट से २५, २६, २७ अगस्त १८७९ ई० को बरेली में हुआ था। यह शास्त्रार्थ लिखित हुआ। इसका पूर्ण विवरण "सत्यासत्य विवेक" नाम से उर्दू में हुआ था।[2]

स्वामी जी के पत्र और विज्ञापन

आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् स्वामी जी का पत्र-व्यवहार बहुत बढ़ गया। कार्यक्षेत्र विस्तृत होने, अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आने और मुद्रणालय सम्बन्धी कार्य-प्रचलन से स्वामी जी को प्रतिदिन अनेक पत्र लिखने अथवा लिखवाने पड़ते थे। वेद-भाष्य के कठिन एवं दुरूह कार्य में संलग्न रहने के कारण वे बहुधा अन्य पंडितों तथा लिपिकारों से पत्र लिखवाया करते थे। पत्र का सार वे लेखकों को बताकर पश्चात् उनके द्वारा लिखित पत्र पर वे हस्ताक्षर कर देते थे। प्रायः वे पत्र को पुनः सुनकर अथवा पढ़कर आवश्यक संशोधन कर दिया करते थे परन्तु अनेक-कार्य-रत स्वामी जी को कभी-कभी इतना अवकाश भी न मिलता था कि वे पत्र को सुनकर उसमें आवश्यक सुधार

१—ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ १८३

२—वही, पृष्ठ १८७।

कर सकें। उस दशा में वे पत्र लेखक पर विश्वास करके हस्ताक्षर कर देते थे। अनेक ऐसें अवसर आये जब उन्हें अंग्रेजी और उर्दू में पत्र लिखवाने पड़े। इस प्रकार के पत्र विदेशियों और विधर्मियों को भी लिखवाये जो हिन्दी से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इस दशा में भी वे प्रथम हिंदी में पत्र लिखवाकर पश्चात् अंग्रेजी में अनुवादित भाग अभीष्ट व्यक्ति को भेज दिया करते थे। यद्यपि उनके पत्र संस्कृत, हिन्दी, गुजराती अंगरेजी और उर्दू इन पांच भाषाओं में पाये जाते हैं परन्तु स्वामी जी ने, जब तक अन्य भाषा में लिखवाने के लिये बाध्य न होना पड़ा, हिन्दी में ही पत्र लिखे अथवा लिखवाये।

स्वामी जी के पत्रों की भाषा ग्रंथ की भाषा से कुछ भिन्न है। साधारण पत्रों में स्वामी जी प्रतिदिन की भाषा का प्रयोग करते थे अतः उसमें तत्सम शब्दों को अधिक स्थान नहीं देते थे। ग्रंथ में स्वपक्ष-स्थापन करने एवं विषय-गांभीर्य-वश भाषा स्वभावतः संस्कृतमय होती थी परन्तु तब भी हिन्दी की तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुये उनकी भाषा में अस्वाभाविकता का अभाव ही मानना पड़ेगा। आद्योपान्त स्वामी जी द्वारा लिखित निम्न पत्र से उनकी पत्रोल्लिखित भाषा का कुछ अभास मिलेगा।

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो!

आपका पत्र मेरे पास आया देखकर अभिप्राय जान लिया। इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से ले के पूर्व मीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ संबंधों को नहीं जाना है। इसलिए आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ जो आप मेरे पास आके समझते तो कुछ-कुछ समझ सकते। परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती व बालशास्त्री जी को खड़ा करके सुनियेगा तो भी आप कुछ कुछ समझ लेंगे। भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़े बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध, क्या-क्या उनमें है और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमाण और ऋषि मुनि कृत ब्राह्मण पुस्तक हैं इन हेतुओं से क्या-क्या सिद्धान्त सिद्ध होते हैं और ऐसे हुये बिना क्या-क्या हानि होती है इन विद्या-रहस्य की बातों को जाने बिना आप कभी नहीं समझ सकते। सं० १९३६ मि० वै० ब. ७ सप्तमी शनिवार

दयानन्द सरस्वती[1]

विज्ञापन

पात्रों के अतिरिक्त स्वामी जी के कुछ विज्ञापन भी प्राप्त हुये हैं। ये विज्ञापन समय समय पर आवश्यकतानुसार मुद्रित करवाये गये थे। अब तक प्राप्त विज्ञापनों की संख्या इक्कीस है।[2] इनमें दो संस्कृत में हैं तीन संस्कृत और हिन्दी में, शेष सब हिन्दी में ही हैं। ऋग्वेवादि-भाष्य-भूमिका और यजुर्वेद-भाष्य, अष्टाध्यायी और महाभाष्य के संस्कृत एवं हिन्दी में वृत्ति-

---

१—ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन संपादक पं० भगवद्दत्त जी पृष्ठ १८७

२—ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन, संपादक पं० भगवद्दत्त जी, पृष्ठ १८७ (सूचो) प्रथम संस्करण में विज्ञापनों की संख्या २१ थी परन्तु द्वितीय संस्करण (१९५५) में विज्ञापन साराशों को मिलाकर कुल संख्या ४६ है।

निर्माण, सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में मृतक-श्राद्ध सम्बन्धी अशुद्ध लेख का खंडन, काशी के विद्वानों को मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ की चुनौती, गोरक्षा पर सही, अनाथाश्रम फीरोजापुर की सहायता, थियोसोफिकल सोसाइटी से सम्बन्ध-विच्छेद, मुंशी इन्द्रमणि के रुपयों की सफाई, निवासस्थान पर धर्म जिज्ञासुओं को सन्देह-निवारणार्थ एवं व्याख्यान-श्रवणार्थ निमंत्रण आदि मुख्य विषय इन विज्ञापनों में पाये जाते हैं।

दूसरा विज्ञापन स्वामी जी ने स्वयं छपवा दिया था।[१] हिन्दी-अनुवाद के पूर्वार्द्ध में हुगली शास्त्रार्थ एवं उतरार्द्ध में प्रतिमा-पूजन पर विचार किया गया है। यह पुस्तकाकार सन् १८७३ ई० में लाइट प्रेस बनारस में छपा। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि पं० भगवद्दत्त जी द्वारा संपादित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' नामक ग्रंथ में दी हुई है। पं० लेखराम द्वारा लिखित स्वामी दयानंद के जीवन चरित्र से निम्नलिखित अवतरण भी दिया है।

'संवत १९२९ में यह शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा में हुआ। उसी समय उसका अनुवाद बँगला भाषा में मुद्रित किया गया और बहुत ही शीघ्र संवत् १९३० लाइट प्रेस, बनारस में १८-२८ पृष्ठ का बाबू हरिश्चन्द्र एक मूर्तिपूजक हिन्दू ने जो कि गोकुलिया गोस्वामी मत में था, उसे शब्दशः आर्यभाषा में छपवाकर मुद्रित किया। आज तक पाँच बार छप चुका है, परन्तु पृथक पुस्तक (अर्थात् हुगली शास्त्रार्थ) विक्रयार्थ नहीं मिलता।

जीवन चरित पृष्ठ ७९९।"[२]

स्वामी जी का तीसरा विज्ञापन काशी में उनके द्वारा निर्धारित वैदिक पाठ-विधि के अनुसार एक आर्य-विद्यालय खुलने के विषय में है वह आषाढ़ सुदी ६ शनि० सं० १९३१ तदनुसार २० जून १८७४ ई० के "कवि वचन सुधा" में प्रथम बार मुद्रित हुआ था और वहाँ से "विहारबन्धु" भाग २ अंक २१ आषाढ़ सुदी १४ संवत् १९३१ तदनुसार २८ जून १८७४ ई० के अंक में छपा।[३] इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन हिन्दी के प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में स्वामी जी के विज्ञापन छपते रहते थे। इसके अतिरिक्त जिन विज्ञापनों का स्थानीय महत्व होता था वे नगर के विभिन्न विशिष्ट मार्गों, घाटों, दीवारों आदि पर लगा दिये जाते थे।

बनारस में स्वामी जी एक विशिष्ट एवं दैवी गुण सम्पन्न व्यक्ति माने जाते थे अतः साधारण जनता कुछ भयवश भी उनकी ओर आकृष्ट होती थी काशी शास्त्रार्थ के पश्चात् उनकी प्रसिद्धि निश्चय ही बढ़ गई थी अतएव स्वामी जी सम्बन्धी कोई भी विज्ञापन जनता के लिए आकर्षक होता था। हिन्दी में ही विज्ञापन छपाना और भाषण देना निस्सन्देह हिन्दी का महत्व बढ़ाना और उसकी सेवा करना था। स्वामी जी के पाँचवें विज्ञापन से भी प्रतीत होता है कि वे हिन्दी को कितना महत्व देते थे। उन्होंने लिखा है कि—

२—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० ५
२—वही पृष्ठ ५
३—वही, पृ० १९

"………इसका यह प्रयोजन है कि चारों वेदों का भाष्य करने का आरम्भ मैंने किया है। सो सब सज्जन लोगों को विदित हो कि यह भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा जो कि काशी प्रयाग आदि मध्य देश की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है। इसमें संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है। और वैसी आर्य भाषा भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसा सरल है कि जिसको साधारण संस्कृत का पढ़नेवाला भी वेदों का अर्थ समझ ले। तथा भाषा का पढ़ने वाला भी सहज में समझ लेगा।………"[1]

उक्त लेख से यह स्पष्ट है कि प्रथम समस्त भारत के मध्य भाग अथवा हिन्दी-भाषी भूभाग में वे वैदिक साहित्य का प्रचार करना चाहते थे। इसीलिये अपने विज्ञापन में सरल संस्कृत के साथ-साथ सरल हिन्दी का भी उल्लेख उन्होंने किया है।

राजाओं को उपदेश

स्वामी जी के हिन्दी-प्रचार-साधनों में राजाओं को दिये गये उपदेशों का भी विशेष महत्व है। जीवन के अन्तिम वर्षों में स्वामी जी का राजपूताने के राजाओं की ओर आकृष्ट होने का एक विशेष कारण था। राजपूतों का वंश और उनके पूर्वजों की गाथाएँ बड़ी उज्ज्वल और गौरवपूर्ण रह चुकी हैं। अंगरेजी-राज्य-स्थापन के पश्चात् वे श्रीहत हो गए थे। अँगरेजों की कूटनीति ने उन्हें पंगु कर दिया था और ये शत्रु-संहारक वीर-वंशज विलासिता की ओर आकृष्ट होकर अनेक दुर्व्यसनों में लिप्त हो रहे थे। उनका देश-प्रेम और वीरत्व प्रसुप्तावस्था को प्राप्त हो चुका था। स्वामी जी का एकमात्र उद्देश्य उनके सुप्त भावों को जागृत कर उन्हें वैदिक धर्म,, देश-प्रेम और राष्ट्रीयता के पथ पर अग्रसर करना था। भाषा राष्ट्र की प्राण होती है। स्वामी जी ने अपने प्रभाव और उपदेश से इन राज-परिवारों में हिन्दी को स्थान दिलाया, राजाओं को मनुस्मृति एवं अन्य शास्त्र हिन्दी-माध्यम द्वारा पढ़ाया और राजकुमारों को प्रथम देवनागरी लिपि में पठन और लेखन का उपदेश दिया।

स्वामी जी और उदयपुराधीश

सर्वप्रथम उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह जी स्वामी जी की विद्वता, निर्भयता और वैदिक धर्म प्रेम की प्रशंसा सुनकर उनकी ओर आकर्षित हुए और उन्हें निमंत्रण दिया। स्वामी जी उदयपुर में ११ अगस्त १८८२ ई० से लेकर १ मार्च सन् १८८३ ई० तक रहे। इन सात-आठ मास में स्वामी जी को जो सफलता प्राप्त हुई उसका वर्णन उन्होंने बाबू दुर्गाप्रसाद रईस फर्रुखाबाद को लिखे पत्र में स्वयं किया है। यह पत्र ४ मार्च सन् १८८३ ई० को लिखा गया था। स्वामी जी ने लिखा था—

महाराणा की भक्ति

"………अब उदयपुर का वृत्तान्त सुनो। हम यहाँ बहुत आनन्द में रहे। नित्य प्रति श्रीमान् महाराजा जी की ओर से सेवा उत्तम रीति से होती रही। किसी दिन को

१—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३४

छोड़ सब दिन तीन-चार व पाँच घंटे तक मुझसे मिलकर प्रेम पूर्वक सत्संग किया करते थे। केवल सुनने मात्र नहीं किन्तु उसका धारण और आचरण भी करते और कराते हैं। छ: शास्त्रों का मुख्य-मुख्य विषय, मनुस्मृति के राजधर्म विषयक तीनों अध्याय, विदुर प्रजागर आदि के उपदेश के योग्य श्लोक, थोड़ा सा व्याकरण का विषय, और थोड़ी सी अन्वय की रीति श्रीमानों ने मुझसे पढ़ी और राजधर्म में तत्पर थे और विशेषकर अब पूर्ण रीति से हुये। वेश्या आदि का नृत्य दर्शनादि नहीं सा निर्मूल कर दिया। स्वीकार पत्र जिसको वसीयतनामा कहते हैं वह उदयपुर में श्रीमानों ने स्वीकृत स्वमुद्रांकित स्वहस्ताक्षर स्वभूषित करके उस लिखी हुई सभा के उदयपुराधीश सभापति हुये हैं........"[१]

स्वामी जी ने छ: शास्त्र और मनुस्मृत्यादि ग्रंथ महाराणा जी को हिन्दी माध्यम द्वारा ही पढ़ाये थे। स्वामी जी के सम्पर्क में आने से महाराणा जी ने हिन्दी को प्रमुखता प्रदान की और हिन्दी सम्बन्धी निम्न विशेषतायें उदयपुर राज्य में हुई।

"उन्होंने (महाराणा ने) संस्कृत शैली से एवं राजकीय कार्यालयों के नाम रक्खे, जैसे महद्राज सभा, शैलकान्तार सम्बन्धिनी सभा, निज सैन्य सभा, शिल्प सभा आदि।"[२]

"मेवाड़ में राजकीय भाषा हिन्दी थी, परन्तु उसमें फारसी शब्दों का अधिक प्रयोग होता था। यह देख महर्षि ने महाराजा को राजकीय भाषा में शुद्ध नागरी को स्थान देने और साधारण लोगों के समझ में आ सके ऐसी भाषा के रखने का आग्रह किया। स्वामी जी का आदेश स्वीकार कर महाराजा ने नागरी लिपि और सरल भाषा में कार्य होने की आज्ञा जारी की।'[३]

'महर्षि ने उदयपुर में ही 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय संस्करण को समाप्त कर वि० सं० १९३९ भाद्रपद के शुक्ल पक्ष में उसकी भूमिका लिखी और वहीं रहते समय परोपकारिणी सभा की स्थापना कर महाराजा को उसका सभापति नियत किया।'[४]

महाराजा शाहपुरा से सम्पर्क

इसके पश्चात् महाराणा शाहपुरा के निमंत्रण पर स्वामी जी ९ मार्च सन् १८८३ ई० को वहाँ पहुँचे। स्वामी जी का निवास-काल २६ मई सन् १८८३ ई० तक रहा। महाराजा शाहपुरा प्रतिदिन २ घंटे अध्ययन और एक घंटा धर्म-चर्चा किया करते थे। उन्होंने स्वामी जी से मनुस्मृति, पातंजल-योगशास्त्र और वैशेषिक दर्शन का कुछ भाग पढ़ा। १७ मार्च सन् १८८३ ई० को मुंशी समर्थदान को एक विस्तृत पत्र लिखते हुये स्वामी जी ने लिखा था :

..........(५) यहां शाहपुरे में श्रीयुत महाराजाधिराज व्याकरण का विषय पढ़कर

१—ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (१९५५), पृष्ठ ३९२

२—Dayanand Com. Vol. लेख 'महर्षि दयानंद सरस्वती और महाराणा सज्जन-सिंह लेखक गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ ३६८ '

३—वही, पष्ठ ३६९।

४—वही,, पृष्ठ ३६९, ३७०।

मनुस्मृति के सप्तमाध्याय राजधर्म के पढ़ने का आरम्भ करेंगे । और बड़े बुद्धिमान तथा राजनीति प्रजापालन में तत्पर साहसी उत्साही और बुद्धिमान हैं । सेवा भी बहुत प्रीति और अच्छी प्रकार से करते हैं ।.........[1]

स्वामी जी और जोधपुर नरेश

। महाराजा के निमंत्रण पर वे
के बाग में ठहराये गये ।
लघु सहोदर और रावराजा
सेवा के लिये उन्होंने समुचित
उनके भोजन, शयनादि की
क हवलदार था उनकी रक्षा

के बाग में ६ से ८ बजे तक
तेजसिंह, अन्य उच्च पदा-
ो ।

य प्रभाव न पड़ा । वे दुर्व्यसनी
थी । जोधपुराधीश महाराज
कुल तीन बार ही मिलने गये ।
ने जाना पड़ा । स्वामी जी के
तु पश्चात् वे उन उपदेशों और
ामी जी ने अधिक समागम का
पर लाने की चेष्टा की । इस
ा कर हिन्दी में लिखे हैं । इन
, मद्यपान, वेश्यागमन आदि

श्री मन्नराजराजेश्वर महाराजाधिराज श्री जोधपुरेश आनन्दित रहो । अब मैं यहाँ बीस-पच्चीस दिन रहना चाहता हूँ यदि कोई नैमित्तिक प्रतिबन्ध न होगा । मैंने यह समझा है कि यहां आकर धन व्यय व्यर्थ कराया क्योंकि मुझसे आपका उपकार कुछ भी नहीं हुआ। और आपकी ओर से मेरी सेवा यथोचित होती रही । जब श्रीमान् गुणज्ञाता है इसीलिये जब-जब मुझको अवकाश मिलता है तब-तब पत्र द्वारा कुछ निवेदन कर देता हूँ । उस मेरे

१—ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन (१९५५), पृष्ठ ३९५ ।
२—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, देवेन्द्र नाथ, पृष्ठ ३२५ ।

छोड़ सब दिन तीन-चार व पाँच घंटे तक मुझसे मिलकर प्रेम पूर्वक सत्संग किया करते थे। केवल सुनने मात्र नहीं किन्तु उसका धारण और आचरण भी करते और कराते हैं। छः शास्त्रों का मुख्य-मुख्य विषय, मनुस्मृति के राजधर्म विषयक तीनों अध्याय, विदुर प्रजागर आदि के उपदेश के योग्य श्लोक, थोड़ा सा व्याकरण का विषय, और थोड़ी सी अन्वय की रीति श्रीमानों ने मुझसे पढ़ी और राजधर्म में तत्पर थे और विशेषकर अब पूर्ण रीति से हुये। वेश्या आदि का नृत्य, दर्शनादि नहीं सा निर्मल कर दिया। स्वीकार पत्र जिसको वसीयतनामा … स्ताक्षर स्वभूषित करके उस लि…

स्वामी … हिन्दी माध्यम द्वारा ही पढ़ाये … दी को प्रमुखता प्रदान की औ…

"उन्हों … के नाम रक्खे, जैसे महद्राज स… भा आदि।"[२]

"मेवा… का अधिक प्रयोग होता था। यह … गरी को स्थान देने और साधा… आग्रह किया। स्वामी जी का … भाषा में कार्य होने की आज्ञा…

'महर्षि … को समाप्त कर वि० सं० १९३… हीं रहते समय परोपकारिणी … क्या।'[४]

महाराजा शा…

इसके … सन् १८८३ ई० को वहाँ पहुँचे … रहा। महाराजा शाहपुरा प्रतिदि… उन्होंने स्वामी जी से मनुस्मृति… ा। १७ मार्च सन् १८८३ ई… े स्वामी जी ने लिखा था :

........(२) यहां शाहपुर में श्रीयुत महाराजाधिराज व्याकरण का विषय पढ़कर

१—ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (१९५५), पृष्ठ ३९२

२—Dayanand Com. Vol. लेख 'महर्षि दयानंद सरस्वती और महाराणा सज्जनसिंह लेखक गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ ३६८ '

३—वही, पष्ठ ३६९।

४—वही,, पृष्ठ ३६९, ३७०।

मनुस्मृति के सप्तमाध्याय राजधर्म के पढ़ने का आरम्भ करेंगे। और बड़े बुद्धिमान तथा राजनीति प्रजापालन में तत्पर साहसी उत्साही और बुद्धिमान हैं। सेवा भी बहुत प्रीति और अच्छी प्रकार से करते हैं।.........[1]

स्वामी जी और जोधपुर नरेश

स्वामी जी की अन्तिम यात्रा जोधपुर दरबार में हुई। महाराजा के निमंत्रण पर वे ११ मार्च सन् १८८३ ई० को वहां पहुँचे और फैजुल्लाखां के बाग में ठहराये गये। 'महाराज के पहुंचते ही सर कर्नल प्रतापसिंह महाराजा के लघु सहोदर और रावराजा तेजसिंह महाराज के स्वागत को आये.........महाराज की सेवा के लिये उन्होंने समुचित प्रवन्ध कर दिया, उनके लिये सवत्सा दुग्धवती गौ भेज दी, उनके भोजन, शयनादि की सुव्यवस्था कर दी और एक गार्ड जिसमें ६ सिपाही और एक हवलदार था उनकी रक्षा और चार सेवक उनकी सेवा के लिये नियत कर दिये.......[2]

स्वामी जी प्रतिदिन अपने निवास स्थान फैजुल्ला खां के बाग में ६ से ८ बजे तक हिन्दी में भाषण दिया करते थे। उन व्याख्यानों में महाराजा तेजसिंह, अन्य उच्च पदाधिकारी तथा जोधपुर की जनता नित्य प्रति एकत्रित होती थी।

महाराजा की तटस्थता

महाराज जोधपुर पर स्वामी जी के उपदेश का विशेष प्रभाव न पड़ा। वे दुर्व्यसनी थे उनकी आत्मा महाराजा सज्जनसिंह की भाँति ग्रहणशील न थी। जोधपुराधीश महाराज यशवन्तसिंह स्वामी जी के चार मास के निवास-काल में कुल तीन बार ही मिलने गये। स्वामी जी को स्वयं ३ बार राई के बाग में महाराजा से मिलने जाना पड़ा। स्वामी जी के सम्मुख तो महाराजा उनके उपदेशों को धैर्य से सुनते थे परन्तु पश्चात् वे उन उपदेशों और अमूल्य शिक्षाओं के पालन में अपने को असमर्थ पाते थे। स्वामी जी ने अधिक समागम का अवसर न पाकर पत्र-लेखन द्वारा भी महाराजा को सुमार्ग पर लाने की चेष्टा की। इस विषय में स्वामी जी ने तीन पत्र जोधपुराधीश को सम्बोधित कर हिन्दी में लिखे हैं। इन पत्रों से ज्ञात होता है कि महाराजा द्यूत, क्रीड़ा, पतंगबाजी, मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुर्व्यसनों में लिप्त थे। तीसरे पत्र में स्वामी जी ने लिखा :

पत्रों द्वारा चेतावनी

"श्री मद्राजराजेश्वर महाराजाधिराज श्री जोधपुरेश आनन्दित रहो। अब मैं यहाँ बीस-पच्चीस दिन रहना चाहता हूँ यदि कोई नैमित्तिक प्रतिबन्ध न होगा। मैंने यह समझा है कि यहां आकर धन व्यय व्यर्थ कराया क्योंकि मुझसे आपका उपकार कुछ भी नहीं हुआ। और आपकी ओर से मेरी सेवा यथोचित होती रही। जब श्रीमान् गुणज्ञाता है इसीलिये जब-जब मुझको अवकाश मिलता है तब-तब पत्र द्वारा कुछ निवेदन कर देता हूँ। उस मेरे

१—ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन (१९५५), पृष्ठ ३९५।
२—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, देवेन्द्र नाथ, पृष्ठ ३२५।

निवेदन को देख सुन कर आप प्रसन्न होते हैं इसीलिये तीसरी बार लेख करने के लिये मुझको समय मिला।"....[१]

पत्र की भाषा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी जी महाराजा के चरित्र-सुधार तथा आत्मोन्नति न होने से क्षुब्ध एवं असन्तुष्ट थे तथापि वे पत्र द्वारा ही अपना संदेश और समुचित निर्देश देते रहे। इसी पत्र में गुप्त समाचार के अन्तर्गत स्वामी जी ने जो द्वितीय वार्ता लिखी है उससे उनकी निर्भीकता, सत्यता और चरित्र की उच्चता का ज्वलंत प्रमाण मिलता है। यह अप्रिय पथ्य निम्नलिखित है :

"(२) एक वेश्या से जो कि नन्नी कहाती है उससे प्रेम। उसका अधिक संग और अनेक पत्नियों से न्यून प्रेम रखना आप जैसे महाराजों को सर्वथा अयोग्य है।"[२]

और आगे चलकर सातवीं वार्ता के अन्तर्गत स्वामी जी ने जो लिखा है वह राष्ट्रभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि के प्रति उनके उत्कट प्रेम का परिचायक है। स्वामी जी कहते हैं—

राजकुमारों को सर्व प्रथम हिन्दी पढ़ाने का आदेश

"(७) महाराज कुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइयेगा। २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत विद्या जो कि सनातन आर्य ग्रन्थ हैं जिनके पढ़ने में परिश्रम और समय कम होने और महालाभ प्राप्त हो इन दोनों को पढ़े। पश्चात् यदि समय हो तो अंग्रेजी भी जो कि ग्रामर और फिलासफी के ग्रंथ हैं पढ़ाने चाहिये।"[३]

देवभाषा संस्कृत से भी पूर्व देवनागरी भाषा पढ़ने का निर्देश स्वामी जी ने दिया और अन्य भाषाओं को हिन्दी और संस्कृत के पश्चात् पढ़ना बताया महाराजाओं को इस प्रकार का स्पष्ट परामर्श देने का साहस स्वामी दयानन्द जैसे तपस्वी और त्यागी से ही हो सकता था। वे समय की गति से अभिज्ञ थे। महाराजा के अतिथि होकर आनन्द से जीवन अतिवाहित करना उनका उद्देश न था। प्रत्येक क्षण उन्हें भारतीय नरेशों के सुधार, राष्ट्रोन्नति, वैदिकधर्म-प्रचार और राष्ट्रभाषा हिन्दी की अभिवृद्धि की चिन्ता सताये रहती थी।

विष-प्रदान और स्वामी जी का बलिदान

दूसरा पत्र स्वामी जी ने ८ सितम्बर सन् १८८३ ई० के लगभग लिखा। अपने प्रयत्नों का सफल परिणाम लक्ष्य न कर स्वामी जी जोधपुर से अन्यत्र जाने का विचार कर रहे थे इसका आभास उनके तृतीय पत्र से भी मिलता है। इस काल पर्यन्त स्वामी जी के

१—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४६३
२—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४६४
३—वही, पृष्ठ ४६४—४६५

विरुद्ध पर्याप्त वातावरण उत्पन्न हो गया था। चक्रांकित, मुसलमान, नन्ही भक्तन[1] आदि सभी स्वामी जी के कठोर खंडन और टीका टिप्पणी से तिलमिला उठे थे। इन सब का षडयन्त्र गुप्त रूप से चल रहा था। देश के दुर्भाग्य से २९ सितम्बर की रात्रि में स्वामी जी ने जो दुग्धपान किया उसमें भीषण कालकूट विष मिला हुआ था। परिणामस्वरूप पूर्व अनेक विषों को पचाने वाला स्वामी जी का बलिष्ट शरीर भी इसे सहन न कर सका और घोर यन्त्रणा झेल कर एक मास पश्चात् ३० अक्टूबर सन् १८८३ ई० को अजमेर में पंचत्व को प्राप्त हुआ। सहस्रों वर्षों के पश्चात् आने वाली महान् आत्मा तो मुक्ति प्राप्त कर गई परन्तु स्वामी जी की निर्भयता, वैदिक धर्म प्रचार की अप्रतिहत भावना, ईश्वराज्ञा के सम्मुख महाराजाओं के भय को ठुकराने का उत्साह एवं रुग्णावस्था में अधिकारियों की असावधानी, भारतवर्ष कभी भूल न सकेगा।

हिंदी छन्दों में महाराणा सज्जन सिंह की श्रद्धांजलि

स्वामी जी के देहावसान से देश भर में हाहाकार मच गया और प्रत्येक भाग से शोक समवेदना प्रकट की गई। उदयपुराधीश महाराणा सज्जनसिंह जी यह दुःखद समाचार पाकर स्तम्भित रह गये और निम्नलिखित हिन्दी छन्दों में अपना शोकोद्गार प्रकट किया। महाराणा द्वारा इन छन्दों की रचना होने के कारण इनका विशेष महत्व है।

दोहा

नभ चव ग्रह ससि दीप दिन, दयानन्द सह सत्व।
वय त्रेसठ वत्सर विचै, पायो तन पंचत्व॥[2]

कवित्त

जाके जीह जोर तें प्रपंच फिलासिफन को
अस्त सो समस्त आर्य मंडल में मान्यौं मैं।
वेद के विरुद्धी मत मत के कुबुद्धि मंद
भद्र भद्र आदिन में सिंह अनुमान्यौ मैं॥
ज्ञाता षट् ग्रंथन को वेद को प्रणेता जेता,
आर्य विद्या अर्क हू को अस्ताचल जान्यो मैं।
स्वामी दयानन्द जू के विष्णुपद प्राप्त हूं तें
परिजात का सो आज पतन प्रमान्यो मैं॥

---

१. वेश्या का नाम साधारणतः नन्हीं जान के नाम से प्रसिद्ध हैं परन्तु वास्तव में वह नन्हीं भगतन कहलाती थी।
(महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र, भाग २, देवेन्द्रनाथ कृत अधोलिखत टिप्पणी, पृष्ठ ३२३)

२. उपर्युक्त दोहे में स्वामी जी की आयु ६३ वर्ष लिखी है वस्तुतः उस समय उनकी आयु ५९ वर्ष की थी।

स्वामी जी के ग्रंथ

सत्यार्थप्रकाश

हिन्दी में स्वामी जी का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश है। इस ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य का युग निर्माता कहने में अत्युक्ति नहीं है। १९ वीं शती के अंतिम और २०वीं शती के प्रारम्भिक चरण में उत्तर भारत के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में जो उथल पुथल और परिवर्तन हुआ उसका मुख्य कारण आर्यसमाज आन्दोलन और सत्यार्थप्रकाश है। इस काल में सत्यार्थप्रकाश दो प्रमुख विशेषताओं को लेकर अवतीर्ण हुआ। प्रथम इस ग्रंथ ने गद्य-साहित्य को प्रोत्साहित किया उसे जीवन, शक्ति और ओज प्रदान किया, द्वितीय शतियों से प्रचलित पद्य-परम्परा का बन्धन तोड़ गद्य द्वारा न केवल विद्वानों अपितु साधारण पठित वर्ग तक ज्ञान विज्ञान, इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, धर्म आदि विषयों का पठन-पाठन सुलभ कर दिया। आगे हम देखेंगे कि वर्तमान हिन्दी साहित्य सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज से पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ है।

रचना

स्वामी जी को अपने उपदेश पुस्तकाकार मुद्रित करवाने के हेतु मुरादाबाद निवासी राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० ने जो उस समय बनारस में डिप्टी कलक्टर थे परामर्श दिया। राजा महोदय का कथन था कि पुस्तकाकार उपदेश सबको सुलभ हो जायगा और जिन स्थलों पर स्वामी जी नहीं पहुँच सकते वहाँ के निवासी भी ग्रन्थावलोकन द्वारा सदुपदेशों से लाभ उठा सकेंगे। अतः राजा साहब ने पुस्तक लिखाने के लिये एक महाराष्ट्रिय पंडित चन्द्रशेखर को नियत कर दिया और १२ जून, सन् १८७४ ई० से सत्यार्थप्रकाश की रचना आरम्भ हो गई। स्वामी जी बोलते जाते थे और चन्द्रशेखर लिखते जाते थे अन्त को सत्यार्थप्रकाश का पहला संस्करण सन् १८७५ ई० में राजा जयकिशन दास के साहाय्य से मुंशी हरवंशलाल काशी निवासी के लाइट प्रेस में छपकर प्रकाशित हुआ।[1]

इस विषय में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लिखा है :

सन् १८७४ के जुलाई मास की पहिली तारीख को वह प्रयाग पहुँचे और सेप्टेम्बर के अन्त तक (पूरे तीन मास) वह उसी स्थान में रहे वहाँ पर ही श्री राजा जयकृष्ण दास सी० एस० आई० के प्रबन्ध के अनुसार सत्यार्थप्रकाश लिखवाया गया। जीवन चरित्र (पं० लेखराम कृत) के पृष्ट २८३ पर लिखा है :

स्वामी जी ने इलाहाबाद में माह सेप्टेम्बर के आखीर तक रह कर राजा

१—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, देवेन्द्रनाथ, प्रथम भाग, पृष्ठ २७२

"ऋषि दयानंद के ग्रंथों का इतिहास" में परिशिष्ट पृष्ट २६ सत्यार्थ प्रकास प्रथम संस्करण के मुख पृष्ट की प्रतिलिपि से विदित होता है कि यह ग्रंथ लाइट प्रेस में छपकर स्टार प्रेस में छपा था।

साहब को सत्यार्थप्रकाश लिखवा दिया और खुद बल्देवसिंह के आने के ७, ८, रोज बाद बसवारी रेल से जबलपुर रवाना हुये ।[1]

श्री हरविलास शारदा जी का लेख उपर्युक्त दोनों लेखों से भिन्न है। उनके अनुसार स्वामी जी ने १२ जून और ३० जून के मध्य जो कुछ भी सत्यार्थप्रकाश में लिखाना था उसका आशय बता दिया और १ जुलाई को प्रयाग आ गये। तत्पश्चात् पंडितों ने अपने आप ग्रंथ पूर्ण किया। उनके शब्द निम्नलिखित हैं :

"The compositon of the Satyarth Prakash began on 12th june 1874 and we find that Swami Ji left Benares and reached Allahabad on 12th July 1874. This shows that in two weeks' time, Swami ji told the Pandit what he had to say and the pandits then wrote out the books"[2]

शारदा जी के इस कथन से पं० लेखराम के कथन का खंडन होता है और केवल दो सप्ताह में आशय बता कर चले जाने से सम्पूर्ण ग्रंथ का पंडितों द्वारा स्पष्टीकरण कर पूर्णता प्रदान करना भी समझ में नहीं आता क्योंकि स्वामी जी के मन्तव्यों को ठीक अर्थों में न समझने वाले और स्वयं अपनी ओर से मिश्रण का अवसर पाने वाले पंडित उनके भावों की प्रत्येक अध्याय ही नहीं अपितु प्रत्येक पृष्ठ पर हत्या कर डालते। अतः वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि १२ जून सन् १८७४ को स्वामी जी ने बनारस में सत्यार्थप्रकाश का लिखाना प्रारंभ करा दिया और इलाहाबाद जाते समय पं० चन्द्रशेखर को साथ ले जाकर सितम्बर के अन्त तक ग्रन्थ पूर्ण रूप से लिखा दिया होगा। तत्पश्चात् पंडितों की देख-रेख में यह ग्रन्थ बनारस में छपा। सम्भवतः यह ग्रन्थ मार्च अथवा अप्रैल १८७५ ई० तक छप गया होगा क्योंकि २२ फरवरी सन् १८७५ को जो पत्र स्वामी जी ने पं० गोपालराव हरिदेशमुख को लिखा था उस समय १२० पृष्ठ तक छप चुका था।[3]

प्रथम संस्करण का महत्व

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण अनेक दृष्टिकोण से बड़ा महत्वपूर्ण है। इस संस्करण में स्वामी जी ने नमक और जंगलात कानून का विरोध किया है जिसके विरुद्ध महात्मा गांधी ने सन् १९३० ई० में देशव्यापी आन्दोलन छेड़ा था। न्यायालयों में स्टाम्प कर अधिक लगाने की भी निन्दा की है। इसके अतिरिक्त जैनियों का वर्णन, बनावटी छुआ-छूत, महमूद गजनवी का अत्याचार, मूर्ति-पूजा के दुष्परिणाम आदि अनेक विषय हैं जो अगले संस्करण में नहीं हैं।

स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश स्वयं न लिखकर लिखवा दिया था इसका उल्लेख

१—आदिम सत्यार्थ, प्रकाश, स्वामी श्रदानंद, पृष्ट ५
2—Life of Swami Dayanand Saraswati, Har Bilas Sarda, p. 408
३—पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २४

हो चुका है । वे प्रयाग से जबलपुर और नासिक होते हुए बम्बई चले गये और सत्यार्थ-प्रकाश बनारस के स्टार प्रेस में छपता रहा । स्वामी जी को प्रूफ देखने का अवसर न मिल सका अतः विरोधी पंडितों को स्वामी जी के सिद्धान्तों के विरुद्ध अनेक बातें मिलाने का अवसर मिला । मुद्रित ग्रंथ जनता तक पहुँच जाने पर स्वामी जी को जब इसका पता चला तो उन्होंने तत्काल ही इसका प्रतिवाद एक विज्ञापन द्वारा किया । यह विज्ञापन ऋग् और यजुर्वेद भाष्य के १ और २ अंक के मुख पृष्ठ के पीछे छपा है[1] जिसका कुछ अंग निम्न प्रकार है :—

"..........जो सत्यार्थ प्रकाश के ४२ पृष्ठ और २५ पंक्ति में पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करें और जितने मर गये हैं उनका तो अवश्य करें तथा पुष्ठ ४७ पंक्ति २१ मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिये कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो मर गये हों उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुये जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है अन्य नहीं । इस विषय में वेद मंत्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अंक के पृष्ठ २५१ से ले के १२ अंक के २६७ पृष्ठ तक छपा है वहाँ देख लेना ।।[2]"

प्रथम संस्करण के विषय

प्रथम संस्करण में १२ और १४ समुल्लास न छपने के कारण अनेक व्यक्तियों को सन्देह है कि इन्हें स्वामी जी ने नहीं लिखा और पश्चात् ये समुल्लास मिला दिये गये हैं । यह आशंका सर्वथा निर्मूल है । स्वामी जी ने दशम् समुल्लास के अन्त में लिखा है :—

"इसके आगे आर्यावर्तवासी मनुष्य, जैन मुसलमान और अँगरेजों के आचार अनाचार, सत्यासत्य मतान्तर के खंडन और मंडन के विषय में लिखेंगे । इनमें से प्रथम (११वें) समुल्लास में आर्यावर्तवासी मनुष्यों के मतमतान्तर के खंडन और मंडन के विषय में लिखा जायगा । दूसरे (१२वें) समुल्लास में जैनमत के खंडन और मंडन के विषय में लिखा जायगा । तीसरे (१३वें) समुल्लास में मुसलमानों के मत के विषय में खंडन और मंडन लिखेंगे और चौथे (१४ वें) में अँग्रेजों के मत के खंडन-मंडन के विषय में लिखा जायगा । सो जो देखा चाहे खंडन और मंडन की युक्ति, उन चार समुल्लासों में देख ले ।"[3]

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि प्रथम संस्करण में इस्लाम मत की

१—ऋषि दयानंद के ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ २३
२—ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ९४
३—ऋषि दयानंद के ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ २१

समीक्षा १३वें और ईसाई मत की १४वें समुल्लास में की गई है, अगले संस्करण में इसके विपरीत है।

प्रथम संस्करण की भाषा और शैली

इसका उल्लेख हो चुका है कि मई १८७४ ई० में प्रथम हिंदी भाषण के समय स्वामी जी को हिंदी भाषा पर अधिकार न था और वे वाक्य के वाक्य संस्कृत बोल जाते थे। प्रथम संस्करण की रचना १२ जून सन् १८७४ ई० से प्रारम्भ हुई अतः यह निश्चित है कि स्वामी जी की भाषा इस अल्पकाल में परिमार्जित, प्रौढ़ और प्रांजल नहीं हो सकती। एक बार हिंदी भाषण और लेखन का निश्चय कर स्वामी जी उस पर दृढ़ रहे अतएव जिस प्रकार भी हुआ उन्होंने हिंदी में ही सत्यार्थप्रकाश लिखाया। प्रथम संस्करण की भाषा से ज्ञात होता है कि स्वामी जी अभी शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी लेखन-मार्ग के पथिक न थे। मार्गावरोधक ईंट-पत्थरों से उनके पग डगमगा जाते थे। तथापि हिन्दी में ही ग्रन्थ लिखवाना बड़ा श्लाघनीय कार्य था। स्वामी जी के भाषणों से समस्त उत्तर भारत में एक विचित्र हलचल और उथल पुथल सा मच गया था। जन साधारण उनके भाषण सुनने के साथ ही उनके ग्रंथावलोकन द्वारा धार्मिक सुधारों और सामयिक क्रान्तिकारी परिवर्तनों का अध्ययन करना चाहते थे। अतः ग्रंथ छपने के पूर्व ही इतनी माँग हुई कि स्वामी जी को बाध्य होकर केवल १२० पृष्ठ का अंश एक एक रुपये में बेचना पड़ा।[1] ग्रंथ की भाषा से प्रतीत होता है कि मानो कोई हृदय के सत्यभाव बलपूर्वक प्रकट कर रहा है अतः भाषा प्रबल और स्पष्ट कथन युक्त होते हुये भी प्रांजल एवं सुचालित न थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लिखा है कि :—

"यह ग्रंथ ऋषि दयानन्द का लिखवाया हुआ है, लिखा हुआ नहीं है और लिखवाया भी पुस्तक के क्रम से नहीं प्रत्युत व्याख्यानों की रीति से है हमारी तरह जिन सज्जनों ने आचार्य दयानन्द के धर्मोपदेश सुने हैं वे साक्षी देंगे कि संशोधित दूसरा सत्यार्थप्रकाश पढ़कर जहाँ उन्हें एक दार्शनिक आचार्य की रचना का मान होता है वहाँ आदिम सत्यार्थ-प्रकाश को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे वर्तमान समय के सबसे बड़े मूर्ति भंजक का सिंहनाद स्पष्ट सुन रहे हैं। वास्तव में यह ग्रंथ व्याख्यानों का ज्यों का त्यों उल्लेख है जो 'सत्य पूतं वदेत वाचं' की मन्वोक्ति के अनुसार अवधूत दयानन्द ने वज्र की न्याई जनता के अन्दर फेंक दिये थे।"[2]

सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण

सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण छपवाने की आवश्यकता अनेक कारणों से शीघ्र ही प्रतीत हुई। प्रथम संस्करण तीन चार वर्षों में समाप्त हो गया था उसमें तेरहवें और चौदहवें समुल्लास का अभाव खटक रहा था। भारत के विभिन्न भागों में अनेक आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे और प्रत्येक सत्यार्थप्रकाश की आवश्यकता अनुभव कर रहा था। इन परि-

---

१—ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ९४
२—आदिम सत्यार्थ प्रकाश, श्रद्धानंद, पृष्ठ ५

स्थितियों में स्वामी जी द्वितीय संस्करण शीघ्रातिशीघ्र छपवा कर जनता तक पहुंचाना चाहते थे परन्तु ऐसे कारण उपस्थित हुये जिससे स्वामी जी के जीवनकाल में वह मुद्रित होकर न आ सका।

वेदिक मंत्रालय प्रयाग के प्रबन्धकर्ता मुंशी समर्थदान को प्रेषित एक पत्र से विदित होता है कि स्वामी जी ने प्रथम समुल्लास ३२ पृष्ठ की प्रेस कापी २९ अगस्त सन् १८८२ ई० तक भेज दी थी।[१] तत्पश्चात् अनेक पत्र मुद्रण-निर्देश-सम्बन्धी भेजते रहे और समयान्तर से सत्यार्थप्रकाश के भाग भी शुद्ध करके भेजते रहे। मुंशी समर्थदान और ठाकुर विश्वेश्वर सिंह को लिखे गये पत्रों से प्रकट है कि स्वामी जी शीघ्र मुद्रण के लिये बराबर चेतावनी देते रहे हैं ३१ मई सन् १८८३ ई० के पत्र में उन्होंने मुंशी समर्थदान को लिखा था :

"............और देश हितैषी को भी हमने कह दिया है कि वैदिक यंत्रालय को मत भेजो और प्रयाग समाचार भी बन्द कर दो। यदि न करोगे तो हम दंड कर देंगे क्योंकि बहुत वक्त हम लिख चुके हैं...............और छापने को सत्यार्थप्रकाश है उसको एक मास पहले हमको लिख भेजोगे तब ठीक समय पर तुम्हारे पास पत्र पहुँचेगे........"[२]

इसी प्रकार ७ जून सन् १८८३ ई० को ठाकुर विश्वेश्वर सिंह को लिखा था।

"विदित हो कि हम कई बार मुँशी समर्थदान को लिख चुके हैं कि बाहर का छापना बिल्कुल बन्द कर दो। परन्तु उसने अब तक बंद नहीं किया। इसलिए तुम उसको समझा दो कि बाहर का काम कभी न छापे। यदि बंद न करेगा तो हम उस पर दंड कर देंगे ....और कितनी हानि निघंटु उणादि गण और धातुपाठ सत्यार्थप्रकाश के न छपने से बंद हो रहा है।"[३]

इन पत्रों से स्पष्ट है कि स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के शीघ्र मुद्रण के लिए यथा सम्भव प्रयत्न किया।

द्वितीय संस्करण की प्रामाणिकता

कतिपय व्यक्तियों का यह सन्देह है कि सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित नहीं है उसे कुछ आर्यसमाजियों ने स्वामी जी की मत्यु के अनन्तर उनके निर्धारित सिद्धान्तों में परिवर्तन करके छपा दिया है। वस्तुतः इस प्रकार का प्रचार कुछ कथित सनातनधर्मियों ने प्रारम्भ में किया जिससे साधारण जनता में भ्रम फैल गया। इस भ्रम के तीन मुख्य कारण हैं। (१) सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में आर्यसमाज के सिद्धान्त विरुद्ध मृतक श्राद्ध, पशु मांस द्वारा यज्ञ आदि विषय स्वामी जी के परोक्ष में छप जाना (२) पं० भीमसेन जैसे शिष्यों का विश्वासघात और विरुद्ध प्रचार (३) सत्यार्थ-प्रकाश द्वितीय संस्करण का स्वामी जी की मत्यु के पश्चात प्रकाशित होना।

१—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३५८
२—वही, पृष्ठ ४२४
३—वही, पृष्ठ ४२७

सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में विरोधी पंडितों द्वारा जो मिश्रण हुआ उसके निराकरण का उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। दूसरे कारण के विषय में केवल इतना ही पर्याप्त है कि पं० भीमसेन जी जो प्रथम आर्यसमाज में थे और जिनके कपट युक्त व्यवहार का स्वामी जी ने अपने पत्रों में भी वर्णन किया है[1] केवल अर्थ लाभ की दृष्टि से सनातनधर्मी हो गये और मृतक श्राद्ध एवं मांस द्वारा यज्ञ का समर्थन कर आर्यसमाज के विरुद्ध प्रचार करने लगे। पं० जी के जामाता श्री सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी द्वारा लिखित "पं० भीमसेन और आर्यसमाज" नामक पुस्तक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस पुस्तक की भूमिका में द्विवेदी जी ने लिखा है कि "पाठक वर्ग। बस इस पुस्तक द्वारा स्वयं पंडित जी की लेखनी लिखित लेखों के आधार पर यह दिखलाया गया है कि पंडित जी वस्तुतः सत्यता के लिए सनातनी नहीं बने किन्तु क्रमशः वित्तैषणा को लक्ष्य में रखकर सनातनधर्म का आश्रय लिया है........"[२]

तीसरे कारण के उत्तर में स्वामी जी के वे सभी पत्र प्रमाण स्वरुप है जो उन्होंने समय समय पर वैदिक यंत्रालय के प्रबन्धक मुंशी समर्थदान के पास प्रेषित किये हैं। उन पत्रों से स्पष्ट रुपेण ज्ञात होता है कि स्वामी जी ने कब और कितना भाग सत्यार्थप्रकाश का शुद्ध करके भेजा। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाण न देकर केवल एक ही अकाट्य प्रमाण पर्याप्त होगा। श्री हर विलास शारदा जी ने लिखा है :

"(1) The corrections in the manuscript (Press) copy of the whole of the Satyarth Prakash with its fourteen chapters are in Swani Dayanand's handwriting, which proves that the manuscript was corrected by Swani Dayanand himself before it was sent to the press."[3]

अर्थात् "सत्यार्थ प्रकाश के सम्पूर्ण चौदह समुल्लासों की पांडुलिपि में स्वामी दयानन्द के हस्तलेख-द्वारा शुद्धि की गई है जिससे सिद्ध होता है कि यंत्रालय में भेजे जाने के पूर्व स्वामी जी ने स्वयं शुद्ध किया है।"

उपर्युक्त प्रमाणों से ही स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय संस्करण आद्योपान्त स्वामी जी का लिखा हुआ है। प्रथम संस्करण में मिश्रण होने के कारण स्वामी जी इस बार विशेष सतर्क थे।

प्रथम और द्वितीय संस्करण का अन्तर

प्रथम संस्करण स्वामी जी का लिखवाया हुआ है उसमें १३ वां एवं १४ वां समुल्लास मुरादाबाद से शुद्ध होकर देर में आने के कारण न छप सका[४] इसमें क्रमशः

१—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन। पृष्ठ ३८४, ३९६, ३९८ और २९९
२—पं० भीमसेन और आर्य समाज, ले० पं० सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी, भूमिका, पृष्ठ ३
3—Life of Dayanand saraswati by H. B. Sarda. page 410
४—ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २४

इस्लाम और ईसाई मत की समीक्षा थी। उसमें पृष्ठ संख्या ४०७ थी और बनारस के स्टार प्रेस में छपा था। द्वितीय संस्करण भूमिका से लेकर स्वमन्तव्यांमन्तव्यप्रकाश तक स्वामी जी ने आद्योपान्त स्वयं लिखा और शोधा। इसमें तेरहवें में ईसाई और चौदहवें में इस्लाम मत की समीक्षा है। यह वैदिक यंत्रालय प्रायाग में मुंशी समर्थदान के निरीक्षण में मुद्रित हुआ। द्वितीय संस्करण की पृष्ठ संख्या ५९२ है।[1]

सत्यार्थप्रकाश के विषय

किसी ग्रन्थ के विषयालोकन के पूर्व लेखक का उद्देश्य जानना आवश्यक है क्योंकि उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर ही किसी ग्रन्थ का विषय-निर्धारण किया जाता है। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने लिखा है:—

"मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।········परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।"[2]

इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के प्रारंभ में लिखा है :

"मेरा कोई नवीन कल्पना व मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है········"[3]

अर्थात् वे मतप्रवर्तक न होकर केवल सत्यान्वेषक थे। प्रचलित हिन्दू-धर्म के अनाचारों का निवारण और उसमें समुचित सुधार कर वैदिक धर्म की सार्वभौमता स्थापित करना चाहते थे। अतः उनके ग्रन्थ में तत्सम्बन्धी विषयों का विवेचन अनिवार्य है। उक्त दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर स्वामी जी ने प्रथम १० समुल्लासों में वैदिक धर्म के चिरंतन सिद्धान्तों को स्थापित कर मानव-समाज के सम्मुख उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला है एवं अन्तिम चार समुल्लासों में संसार प्रसिद्ध चार धर्मों सनातन हिन्दू, बौद्ध जैन, ईसाई और इस्लाम धर्म की अयुक्त, अनुचित और असम्भव धारणाओं का खंडन किया है।

समुल्लासों के क्रम से निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन है।

प्रथम समुल्लास परमात्मा के नामों की व्याख्या है और यह सिद्ध किया है कि इन्द्र,

---

1—Life of Dayanand Saraswati by H. B. Sarda, page 408

२—सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका, पृष्ठ २

३—वही पृष्ठ ३९० स्वमव्यार्मतव्यप्रकाश

वरुण, मित्र, विष्णु, शिव आदि नाम परमात्मा वाचक क्यों हैं। ओउम् नाम की विशेषता और सगुण-निर्गुण का अर्थ भी बताया है।

द्वितीय समुल्लास गर्भाधान, जातकर्म आदि संस्कारों एवं माता-पिता द्वारा बालकों की प्रारंभिक शिक्षा पर विचार किया है। भूतप्रेत, जन्मपत्र, सूर्यादि ग्रहों का मनुष्य के कर्मों पर प्रभाव तथा फलित ज्योतिष का खंडन भी किया है।

तृतीय समुल्लास के अन्तर्गत अध्ययन, गायत्री मंत्र, प्राणायाम, संध्या, अग्निहोत्र, उपनयन, ब्रह्मचर्य पालन आदि विषयों को स्पष्ट किया है। शास्त्रों के पठन-पाठन एवं प्रामाणिक ग्रंथों के विवरण भी इसमें है।

चतुर्थ समुल्लास इसमें समावर्तन, बाल-विवाह निषेध, विवाह-लक्षण, पंच महायज्ञ, गृहस्थधर्म, मूर्ख और पंडितो के लक्षण आदि का वर्णन है।

पंचम समुल्लास में वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम के विषय में लिखा है।

षष्ठ समुल्लास में राजधर्म, दूतों के लक्षण, दुर्ग-निमार्ण, युद्ध, प्रजारक्षण विधि कर-ग्रहण, मित्र-शत्रु के प्रति व्यवहार, न्याय, चौरादिकों को दंड इत्यादि विषय लिखे हैं।

सप्तम् समुल्लास में आत्मा, परमात्मा और वेद जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया है।

अष्टम् समुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति, प्रकृति, दान, आदि सृष्टि में मनुष्य का स्थान, आर्य और म्लेच्छों की भाषा आदि का वर्णन है।

नवम् समुल्लास में विद्या-अविद्या एवं बन्ध-मोक्ष के विषय में लिखा है।

दशम् समुल्लास में आचार अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य पर विचार किया है।

एकादश समुल्लास में भारतवर्ष में प्रचलित विभिन्न मतमतान्तरों अर्थात् अद्वैतवादी शैव, वैष्णव, वाममार्गी, श्राद्ध, तीर्थ, मूर्तिपूजा, अठारह पुराण, भागवत, सूर्यादि ग्रहों का पूजन, तांत्रिक, कबीर, दादू, नानक आदि पंथों एवं ब्रह्म और प्रार्थना समाज आदि का खंडन किया है।

द्वादश समुल्लास में चार्वाक, बौद्ध, जैनादि नास्तिक मतों का खंडन है।

त्रयोदश समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा है।

चतुर्दश समुल्लास में इस्लाम मत की समीक्षा है।

सबसे अंतमें स्वामी जी ने स्वमन्तव्यामन्तव्य संक्षेप में लिख दिये हैं।

सत्यार्थप्रकाश का महत्व

सत्यार्थप्रकाश अनेक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के मुद्रण काल में ही इतनी प्रसिद्धि हो गई थी और इतनी मांग थी कि स्वामी जी को मुद्रण के पूर्व ही केवल १२० पृष्ठ एक एक रूपये में बेचने पड़े।[1] दूसरे संस्करण की भी यही दशा हुई। चारण नवलदान ने ३६४ पृष्ठ तक मुद्रित दस अध्याय ठाकुर गिरधारी सिंह के लिये खरीदा था। अर्द्ध मुद्रित ग्रंथ के पढ़ने की उत्सुकता ग्रंथ की उपयोगिता और महत्व के साथ ही

१—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २४,२५

तत्कालीन स्थिति पर भी प्रकाश डालती है। मूर्तिपूजा का खंडन, एकेश्वरवाद की स्थापना और गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था द्वारा जो बन्धुत्व का पाठ ऋषि दयानन्द ने वेदों के आधार पर स्थापित किया उसका शिक्षित और अर्द्धशिक्षित दोनों ही ने स्वागत किया। ईसाई और मुसलमान आदि विधर्मियों के प्रति, जो सदा बन्धुत्व और एकेश्वरवाद का निनाद कर हिन्दुओं को अपनी ओर आकर्षित करते थे, यह एक खरा उत्तर था।

उक्त ग्रंथ में हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न वादों, पंथों और कुप्रथाओं का निर्ममता से खंडन किया गया है। खंडन की तीक्ष्णता ने जहाँ उदारचेता बुद्धिमान व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर वैदिक मतानुयायी बनाया वहीं कट्टरपंथियों को रुष्ट कर शत्रु भी बनाया।

सत्यार्थप्रकाश के संस्करण

इस ग्रंथ की महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण इसके संस्करणों की संख्या है। प्रथम संस्करण स्टार प्रेस से १००० की संख्या में मुद्रित हुआ। तत्पश्चात् सन् १८८४ ई० से लेकर सन् १९४६ ई० तक वैदिक यंत्रालय अजमेर से २८ संस्करण छप चुके जिनकी संख्या ३१४००० है। इसके अतिरिक्त श्री गोविन्द राम हासानन्द के यहाँ से सन् १९२४ ई० से लेकर सन् १९४१ ई० तक ७ संस्करणों की संख्या २१०००, आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड अजमेर से सन् १९३३ ई० से १९३९ ई० तक तीन संस्करणों की संख्या ६७००० तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा १९३६ ई० में मुद्रित एक संस्करण की संख्या १०००० है।

सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद

हिन्दी के अतिरिक्त १४ भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद होना भी उसकी प्रसिद्धि और महत्ता का द्योतक है। ये भाषायें संस्कृत, उर्दू, बंगला, सिंधी, मराठी, गुजराती, कर्णाटकी मलयालय, तामिल, उड़िया, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन हैं। अनेक भाषाओं में कई संस्करण छप चुके हैं। पं० गदाधर प्रसाद जी वैद्य ने सत्यसागर नाम से सत्यार्थ प्रकाश का पद्यानुवाद हिन्दी में किया है। इसके चार संस्करण छप चुके हैं।[१]

पंच-महायज्ञ विधि

स्वामी जी की दूसरी पुस्तक पंचमहायज्ञ विधि है। उसका प्रथम संस्करण संवत् १९३१ विक्रमी में बम्बई में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् स्वामी जी ने संवत् १९३४ वि० में एक और संशोधित संस्करण प्रकाशित करवाया था जो काशी के लाजरस प्रेस में छपा था।[२] पुस्तक का उद्देश और विषय इसकी प्रारंभिक पंक्तियों के पढ़ने से ज्ञात हो जाता है। स्वामी जी ने लिखा है "यह पुस्तक नित्य कर्म विधि का है, इसमें पंच महायज्ञ का विधान

१—सत्यार्थ प्रकाश की सार्वभौमता, पं० धर्मदेव जी द्वारा संग्रहीत, वेदवाणी वर्ष ६ अंक १०, अगस्त सन् १९५४ ई०

२—ग्रंथों का इतिहास, पृष्ट ५२

है। जिस के नाम हैं ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। उनके मंत्रों के अर्थ और जो जो करने का विधान लिखा है सो सो यथावत् करना चाहिए।"[१]

वेदान्तिध्वान्त निवारण

इस पुस्तक में स्वामी जी ने नवीन वेदान्तियों के सिद्धान्तों का खंडन किया है। इसकी रचना सन् १८७४ ई० में हुई थी। प्रथम संस्करण में इसकी हिन्दी शुद्ध न थी पश्चात वैदिक यंत्रालय के प्रबन्धक मुन्शी समर्थदान ने इसमें शुद्धि की। उनकी निम्नलिखित सूचना दृष्टव्य है :—

"वेदान्तिध्वान्त निवारण

सब सज्जनों को प्रकट हो कि यह पुस्तक प्रथम बार मुम्बापुरी में मुद्रित हुई थी। उसमें भाषा बहुत अशुद्ध थी, इस लिए मैंने जहाँ तक उचित समझा, द्वितीयावृति में उसको शुद्ध करके छापा है, परन्तु मैंने केवल भाषा मात्र शुद्ध की है, क्योंकि अधिक फेरफार करने से ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय में अन्तर आ जाता है।"[२]

वेद-विरुद्ध-मत-खंडन

यह पुस्तक बल्लभाचार्य-मत-खंडन के विषय में है। इसकी रचना कार्तिक अमावस्या मंगलवार संवत् १९३१ वि० में हुई। मूल ग्रंथ संस्कृत में है इसका भाषानुवाद पं० भीमसेन शर्मा ने किया है।[3] इस पुस्तक में स्वामी जी का नामोल्लेख कहीं नहीं है।

शिक्षापत्री ध्वान्त निवारण

पौष वदी ११ रविवार सं० १९३१ वि० में यह पुस्तक लिखी गई। मूल पुस्तक संस्कृत में है। स्वामी जी का नामोल्लेख कहीं नहीं है। स्वामी नारायण मत के प्रवर्तक स्वामी सहजानन्द की रची पुस्तक "शिक्षापत्री" का इसमें खंडन है। इस पुस्तक का दूसरा नाम "स्वामी नारायण मत खंडन" भी है। इसका भाषानुवाद गुजराती से हुआ है। यह पुस्तक संवत् १९५८ वि० में छपी।[४]

आर्याभिविनय

आर्याभिविनय की उपक्रमणिका के अनुसार इस ग्रंथ की रचना चैत्र सुदी १० गुरुवार सं० १९३२ वि० (१५ अप्रैल सन् १८५७ ई०) को आरम्भ हुई और ग्रंथ वैशाख शुक्ल १४ सं० १९३३ वि० में आर्यमंडल यन्त्रालय बम्बई में मुद्रित हुआ।[५] प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने के पश्चात् द्वितीय संस्करण माघ संवत् १९४० में छपा।[६]

१—पंचमहायज्ञ विधि। रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृष्ठ १

२—ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ ६२

३—ऋषि दयानंद के ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ ६४

४—वही, पृष्ट ६६-६७

५—वही, पृष्ट ७१

६—वही, पृष्ट, ७३

द्वितीय संस्करण की विशेषता के विषय में लिखा है "प्रथम संस्करण की अपेक्षा द्वितीय संस्करण की भाषा पर्याप्त परिष्कृत है। इसमें भाषा के परिष्कार के अतिरिक्त कुछ परिवर्तन भी उपलब्ध होता है। यह संशोधन और परिवर्तन आदि किसने किया इस विषय में हमें कोई संकेत नहीं मिला। संभव है महर्षि ने स्वयं किया हो या वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धकर्ता मुंशी समर्थदान ने किया हो।"[१]

आर्याभिविनय दो "प्रकाश" (अध्याय) में पूर्ण हुआ है। प्रथम प्रकाश में ऋग्वेद के ५३ मंत्रों की व्याख्या की गई है और द्वितीय में ५५ मंत्रों की इसमें पहला तैत्तिरीय आरण्यक के ब्रह्मानन्द बल्ली प्रपाठक १० प्रथमानुवाक का प्रथम मंत्र है एवं शेष यजुर्वेद के मन्त्र हैं।

संस्कार-विधि

संस्कार मनुष्य-जीवन को उच्च और आदर्श बनाते हैं। भारत में प्रचलित बाल-विवाह, अनमेल विवाह आदि कुरीतियों को दृष्टिगत कर स्वामी जी ने शास्त्रोक्त मुख्य १६ संस्कारों के प्रचार की आवश्यकता अनुभव की। अतः उपदेश के साथ ही साथ पुस्तक द्वारा भी प्रचार अपेक्षित था। संस्कार-विधि की रचना कार्तिक अमावस्या शनिवार सं० १९३२ वि० में प्रारम्भ हुई और पौष शुक्ल ७ सं० १९३२ में इसकी समाप्ति हुई।[२] स्वामी जी ने द्वितीय संस्करण की जो भूमिका लिखी थी वह संभवतः पश्चात् सभी संस्करणों में छपती जा रही है, उसमें लिखा है—"श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के सवत् १९४० आषाढ़ वदी १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके पुनः छपवाने के लिए विचार किया।"[३] यह संस्करण छप कर आश्विन सुदी ५ बुधवार सं० १९४१ को तैयार हुआ।[४]

प्रथम और द्वितीय संस्करण में जो अन्तर था उसका उल्लेख स्वामी जी ने द्वितीय संस्करण की भूमिका में स्वयं कर दिया है। उन्होंने लिखा है "उसमें (प्रथम सं०) संस्कृत पाठ एकत्र और भाषा पाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर दूर होने से कठिनता पड़ती थी और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था उनमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है और अबकी बार जो जो अत्यन्त उपयोगी विषय हैं वह अधिक भी लिखा है।"[५]

सन् १९४८ ई० तक वैदिक यंत्रालय द्वारा संस्कार-विधि के शताब्दी संस्करण को लेकर कुल २३ संस्करण छपे और आर्य-सहित-मंडल द्वारा १९४० ई० तक कुल तीन संस्करण छपे। समस्त पुस्तकों की मुद्रित संख्या २०२००० है।[६]

१—वही, पृष्ट ७३
२—ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ ८१ से ८३ तक
३—संस्कार विधि, वैदिक यंत्रालय, भूमिका, पृष्ठ १
४—ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ ८६
५—संस्कार विधि, भूमिका, पृष्ठ १
६—ग्रंथों का इतिहास, परिशिष्ठ, पृष्ठ ५९

आर्योद्देश्य रत्नमाला

इसमें आर्य जनों के हेतु १०० उद्देश्यों का संग्रह है। इसकी रचना पुस्तक के अंत में दी हुई टिप्पणी के अनुसार श्रावण शुक्ल सप्तमी दिन बुधवार सं० १९३४ विक्रमी है। पुस्तक में जन्म, मरण, विद्या, अविद्या, स्तुति, उपासना, मुक्ति, कारण, वर्ण आश्रम, यज्ञ आदि १०० विषयों को परिभाषा रूप में लिखा है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्मरणीय हैं।

भ्रान्ति-निवारण

संस्कृत कालेज कलकत्ता के आचार्य पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने स्वामी जी के वेद-भाष्य के नमूने पर आक्षेप किया था जिसका उत्तर स्वामी जी ने इस पुस्तक द्वारा दिया। इसकी रचना कार्तिक शु० २ संवत् १९३४ विक्रमी में हुई थी।

आत्मचरित्र

स्वामी जी ने संक्षेप में अपना आत्मचरित्र भी लिखा था। यह आत्म चरित्र उन्होंने कर्नल अल्काट के आग्रह से लिखा था और "थियोसोफिकल" पत्रिका के अनेक अंकों में हिन्दी से अंगरेजी में अनुवादित होकर छपा था। इसके अतिरिक्त उन्होंने ४ अगस्त सन् १८७५ ई० में पूना में एक व्याख्यान के अन्तर्गत अपना जीवन चरित्र वर्णन किया था।[1]

संस्कृत-वाक्य-प्रबोध

इस पुस्तक की रचना फाल्गुन सुदी ११ संवत् १९३६ विक्रमी में हुई। इसमें ५२ प्रकरण दिये हैं जो प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन से संबंधित हैं। पहले संस्कृत में सरल वाक्य दिये हैं पश्चात् उसके सम्मुख भाषानुवाद है। अतः इसके पठन से प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाले संस्कृत वाक्यों का बोलना सरलता से आ सकता है। उन्हीं वाक्यों के आधार पर अनेक अन्य वाक्य भी बनाये जा सकते हैं। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में शोधक पंडितों और मुद्रणालय के अन्य कर्मचारियों की असावधानी से अनेक अशुद्धियाँ रह गई थीं। काशी के विरोधी पंडितों को इससे व्यर्थ शोर मचाने का अवसर मिला। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने इसके उत्तर में "अबोध निवारण" नामक पुस्तक छपवा दी जिसमें उन अशुद्धियों के आधार पर स्वामी जी की अयोग्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। इसके विषय में स्वामी जी ने एक पत्र वैदिक यंत्रालय के प्रबन्धक मुंशी बख्तावर सिंह को लिखा था।

"जो संस्कृत वाक्य प्रबोध पर पुस्तक छपाया है सो बहुत ठिकानों में उनका लेख अशुद्ध है। और कै एक ठिकानों में संस्कृत में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के कारण तीन हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन के आधीन शोधने का होना और मेरा न देखना न प्रूफ को शोधना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई

१—इस समय पं० भगवद्दत जी द्वारा संपादित 'ऋषि दयानंद स्वरचित लिखित वा कथित जन्म चरित्र' उपलब्ध है।

भी कम्पोजीटर बुद्धिमान न होना, लैंपों की न्यूनता होनी। इसके उत्तर में जो जो उनकी सच्ची बात है सो शोधक और छापा का दोष रहेगा......"[1]

इसके अतिरिक्त "अबोध निवारण" के लेखक ने अपनी अज्ञानतावश स्वामी जी के जिन वाक्यों को अशुद्ध समझा था उसका उन्होंने एक पंडित से उत्तर लिखवा दिया था यह उत्तर "ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन" में छपा है।[2]

व्यवहारभानु

व्यवहारभानु की रचना फागुन सुदी १५ संवत् १९३६ वि० में हुई। यह पुस्तक बालकों और साधारण पठित व्यक्तियों के लाभार्थ है। इसमें प्रश्नोत्तर द्वारा, विद्या अविद्या पुरुषार्थ, आचार्य और विद्यार्थी के कर्तव्य, ब्रह्मचर्य आदि कितनी ही बातों को संक्षेप में समझाया है। स्थान-स्थान पर चुटकुलों द्वारा शिक्षाओं का स्पष्टीकरण कर बालकों और साधारण व्यक्तियों के लिये ग्राह्य कर दिया है।

इस पुस्तक के सन् १९४८ ई० तक १७ संस्करण वैदिक यंत्रालय से, एक संस्करण आर्य साहित्य मंडल अजमेर से, दो संस्करण १९३९ ई० तक गोविन्द ब्रदर्स अलीगढ़ से एवं तीन संस्करण १९४७ ई० तक रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से छप चुके हैं। समस्त संस्करणों की संख्याओं का योग ९९२०० है। इसमें दो संस्करणों की संख्या सम्मिलित नहीं है।[3]

भ्रमोच्छेदन

राजा शिवप्रसाद जी ने 'निवेदन' नाम से कुछ आक्षेप 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका पर किये थे। इस पर स्वामी विशुद्धानन्द जी के भी हस्ताक्षर थे। अतः स्वामी जी ने ज्येष्ठ सं० १९३७[4] वि० में भ्रमोच्छेदन नामक पुस्तक लिखकर उसका उत्तर दिया। राजा महोदय ने पुनः 'द्वितीय निवेदन' लिखा जिसके प्रत्युत्तर में स्वामी जी ने पं० भीमसेन द्वारा अनुभ्रमोच्छेदन लिखवा दिया था।

गोकरुणानिधि

गो-रक्षा के सम्बन्ध में स्वामी जी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने व्यापक आन्दोलन-की सृष्टि की। उन्होंने अंगरेज सरकार के सम्मुख गोवध बन्द कराने के लिये सामूहिक आन्दोलन खड़ा किया। इस पुस्तक के पठन से स्वामी जी के हृदय में मूक पशुओं के प्रति अपार दया का परिचय मिलता है। पुस्तक की रचना फालगुन बदी १० गुरुवार सं० १९३७ विक्रमी में हुई थी। इसका दूसरा संस्करण भी महर्षि के जीवन काल, अप्रैल सन् १८८२ ई० में छपकर तैयार हो गया था।[5] इस पुस्तक के प्रारंभिक भाग में गो-दुग्ध के लाभ और उसके

१—ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २२१

२—वही, पृष्ठ २२२, २२३

३—ग्रंथों का इतिहास, परशिष्ट ६४

**४—यह तिथि ग्रंथों के इतिहास के लेखक के अनुसार अशुद्ध है।
ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ १२९, १३०**

५—वही पृष्ठ १३७

द्वारा असंख्य मनुष्यों के पालन की बात गणित की रीति से स्पष्ट की है पश्चात हिंसक रक्षक 'संवाद' द्वारा प्रश्नोत्तर रूप में मांस-भक्षण का विरोध किया है और पुस्तक के उत्तरार्द्ध में 'गोकृष्यादिरक्षिणी सभा' के नियमोपनियमों का वर्णन है। वैदिक यंत्रालय द्वारा शताब्दी संस्करण युक्त १४ संस्करण और आर्य साहित्य मंडल द्वारा दो संस्करण छप चुके हैं कुल मुद्रित संख्या ४४००० है। इसमें प्रथम १८८० संस्करण की संख्या सम्मिलित नहीं है।[1]

शास्त्रार्थ

स्वामी जी ने संस्कृत और हिन्दी में कितने ही शास्त्रार्थ किये। पश्चात् अनेक शास्त्रार्थ पुस्तकाकार छप गये। इन शास्त्रार्थ-पुस्तकों में स्वामी जी की हिन्दी नहीं है अतः ये उनकी ग्रन्थ-कोटि में नहीं आ सकते अतएव उनका विवरण यहाँ उचित नहीं है।

व्याख्या ग्रंथ और अनुवाद

अष्टाध्यायी भाष्य

अष्टाध्यायी पाणिनि मुनि रचित संस्कृत-व्याकरण का ग्रन्थ है। स्वामी जी ने इसका भाष्य संस्कृत में किया है। संस्कृत-भाष्य के कुछ अंशों का भाषानुवाद भी प्राप्य है। स्वामी जी इसका भाष्य संभवतः चार ही अध्याय तक कर पाये थे। बीच-बीच में कुछ भाष्यांश लुप्त हैं। इसकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। ऋषि के ग्रन्थों के इतिहास-लेखक श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक ने लिखा है :—

'इस भाष्य से भली भांति सुपरिचित होने के कारण मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि यह भाष्य चतुर्थाध्याय पर्यन्त ऋषि का बनाया हुआ निश्चित है, क्योंकि इन अध्यायों में कई स्थल इतने प्रौढ़ और गम्भीर हैं कि व्याकरण के बड़े पंडित भी उसमें चक्कर खा सकते है।'[2]

परोपकारिणी सभा ने इस भाष्य का सम्पादन दो भागों में डॉ० रघुवीर एम. ए. डि. लिट् से करवा कर प्रकाशित किया है।[3]

वेदांगप्रकाश-ग्रंथ रचना का उद्देश्य

ज्ञान-विज्ञान-कोष संस्कृत के साहित्य का उद्धार करना भी स्वामी जी के उद्देश्यों में था। संस्कृत-सागर के अध्ययन-मंथन से जो विज्ञान-रत्न निकल सकते हैं उससे हिन्दी ही नहीं संसार की अनेक भाषायें समृद्धि हो सकती हैं। स्वामी जी की महती इच्छा थी कि संस्कृत-साहित्य साधारण जनता के लिये अज्ञेय न रहे अतः उन्होंने ऐसे ग्रंथों की रचना करवाई जिससे हिन्दी पठित वर्ग भी संस्कृत व्याकरण को समझ सके। हिन्दी में व्याख्या होने के कारण वेदांग प्रकाश उक्त उद्देश्य की पूर्ति करता है।

१—वही, परिशिष्ट ३, पृष्ट ६५

२—ग्रंथों का इतिहास, पृष्ट ११५

३—महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र, द्वितीय भाग, देवेन्द्रनाथ कृत. पृष्ट ४३०

व्याकरण संबंधी भूल

सम्पूर्ण वेदांगप्रकाश की रचना स्वामी जी द्वारा नहीं हुई । कार्य-व्यस्तता-वश अधिकतर कार्य उन्होंने पंडितों पर छोड़ रक्खा था अनेक स्थानों पर व्याकरण संबंधी ऐसी भूलें हैं जो स्वामी जी से कदापि नहीं हो सकतीं । 'ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास' में लिखा है :—

'इन ग्रंथों में व्याकरण सम्बन्धी बहुत सी ऐसी भयंकर अशुद्धियाँ हैं जिन्हें ऋषि के नाम पर कदापि नहीं पढ़ा जा सकता, साधारण अशुद्धियों की तो गिनती ही नहीं है........[१]

रचयिता

वेदांगप्रकाश की रचना में पं० भीमसेन, पं० ज्वालादत्त और पं० दिनेशराम का मुख्य हाथ रहा है अतः अशुद्धियों का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर है । एक पत्र में स्वामी जी ने मुंशी समर्थदान को लिखा था :—

'ज्वालादत्त चाहे दिन रात काम करे परन्तु तुम देख लिया करो कि कितना काम करना है, कितना नहीं इसको व्याकरण बनाने में देर इसलिए लगती है कि उसको व्याकरण का अभ्यास कम है तभी बहुत सी पुस्तकें रखनी पड़ती हैं । जो इससे आख्यातिक न बन सके तो यहाँ भेज दो । यहाँ भीमसेन आ जायगा, तब उससे बनवा कर शुद्ध करके भेज देंगे ।'[२]

भीमसेन ने एक पत्र में स्वामी जी को लिखा था 'मुझको बड़ा शोक यह है कि आप मेरे काम को देखते ही नहीं । दिनेशराम आदि लोगों ने जैसा काशिका में लिखा है वैसा ही इन पुस्तकों में लिख दिया, बहुधा तो काशिका का संस्कृत ही रख दिया है । उसमें बहुतेरा महाभाष्य से विरुद्ध भी है । किसी वार्तिक या कारिका का अर्थ नहीं लिखा, बहुत से सूत्र जो मुख्य लिखने चाहिए थे नहीं लिखे, बहुत से वार्तिक कारिकायें भी छूट गई हैं जो अवश्य लिखनी चाहिए । यह हाल मेरे बनाए सन्धि विषय नामिक और कारकीय में कहीं आपने देखा ? बराबर लिखने योग्य बात लिखता गया । अब छप गये पर (अब) भी परीक्षा हो सकती है कि सामासिक और कारकीय में कितना अन्तर है ।'[३]

इस प्रकार के अनेक पत्रों से ज्ञात होता है कि उक्त तीनों पंडितों ने जिनका वेदांग प्रकाश की रचना में हाथ रहा है स्वामी जी के निर्देशों की उपेक्षा कर मनमानी ढंग से कार्य किया है ।

ग्रंथ के विषय

इस ग्रंथ के निम्नलिखित १४ भाग हैं । हिन्दी व्याख्या के अतिरिक्त ग्रंथ की यह भी विशेषता है कि इससे वैदिक व्याकरण का भी ज्ञान हो जाता है ।

१—ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ १३७

२—ऋषि दयनन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३६०

३—ग्रंथों का इतिहास पृष्ठ १४७ में म० मुंशीराम सं० पत्रव्यहार पृष्ठ ४० से उधृत

१. वर्णोच्चारण	८. आख्यातिक
२. सन्धि विष	९. सौवर
३. नामिक	१०. पारिभाषिक
४. कारकीय	११. धातुपाठ
५. सामासिक	१२. गण पाठ
६. स्त्रैण तद्धित	१३. उणादि कोष
७. अव्यायार्थ	१४. निघंटु

वेद-भाष्य

वेद-भाष्य की आवश्यकता

हिंदू धर्म में स्वामीजी द्वारा किये गये समस्त सुधारों का आधार वेद हैं। अतः वे स्वयं-प्रतिपादित धर्म को वैदिक धर्म कहते थे। वेद शतियों से नहीं अपितु सहस्त्रों वर्षों से अन्धकार के गर्त में पड़े हुए थे। उनको प्रकाश में लाना आवश्यक था। जब तक साधारण जनता वेदाध्ययन नहीं करती तब तक धर्म के सत्य स्वरूप का उद्घाटन नहीं हो सकता। स्वामी जी से पूर्व वैदिक विद्वानों ने वेदों के भाष्य संस्कृत भाषा में कर साधारण जनता से उसे दूर रखा अतः जनता को सनातन धर्मान्तर्गत अनेक अवैदिक सिद्धान्तों के सन्निविष्ट हो जाने पर भी वेद-निहित और वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों के निर्णय करने का अवसर प्राप्त न हो सका। फलतः पंडितों ने जो कुछ भी बताया जनता ने उसे स्वीकार कर लिया। बात यहीं तक सीमित न थी अपितु पंडित वर्ग ने "स्त्री शुद्रौ नाधीय-ताम्" का राग अलाप कर जनता के बहुत बड़े भाग को वेदाध्ययन से वंचित कर रखा था। इस परिस्थिति में स्वामी जी ने वेदों का भाष्य केवल संस्कृत में ही नहीं अपितु हिंदीं में भी कर मानव जगत के सम्मुख ईश्वरीय ज्ञान का उद्घाटन किया।

स्वामी जी कृत वेद-भाष्य की विशेषता

वेद-भाष्य के विषय में भारतीय और विदेशी भाष्य कर्ताओं का वर्णन पूर्व हो चुका है। उनकी परिपाटी और तत्संबंधी नीति पर भी हम विचार कर चुके हैं अतः यहाँ केवल स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य की विशेषता पर विचार करेंगे।

पूर्व लेखानुसार वेद-भाष्य करने के लिए वेदांग, उपांग, ब्राह्मण, उपनिषदादि का पारदर्शी विद्वान होना आवश्यक है क्योंकि बिना शास्त्रों के गूढ़ाध्ययन के वेद-मंत्रों की जटिलता का उद्घाटन असंभव है। स्वामी जी शास्त्रों के अपूर्व विद्वान् थे, उन्होंने पक्ष-विपक्ष के सहस्त्रों संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन और स्वतंत्र रूप से वेदों का पारायण और मनन किया था। वेद भाष्य के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विज्ञापन में स्वयं लिखा था :—

"......शिक्षा से ले के शाखान्तर पर्यन्त वेद के जे सत्यार्थ युक्त व्याख्यान हैं जैसे कि ब्रह्मा से ले के व्यास जी पर्यन्त ऋषि और मुनियों के किए हैं उन सनातन सत्य ग्रंथों के वचनों का लेख प्रमाण से सहित और मूल वेदों के भी प्रमाणों से सहित यह वेद-भाष्य रचा जाता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की योजना भी इसमें लिखी जाती है। इस कारण से यह

वेद-भाष्य अपूर्व होता है.........तथा वेदों के ऊपर लोगों ने मिथ्या जे व्याख्यान किये हैं उनकी निवृत्ति भी इस भाष्य से अवश्य होगी और जो उन व्याख्यानों के देखने से मिथ्या-जाल जगत में प्रवर्तमान है सो भी इस भाष्य से नष्ट अवश्य हो जायगा।"[1]

स्वामी जी के वेद-भाष्य की विशेषता

स्वामी जी के वेद-भाष्य की विशेषता निम्नलिखित अवतरण से पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो जाती है जिसमें वेदार्थ सम्बन्धी निर्धारित नियमों का वर्णन है :—

(१) वेद अपौरुषेय वा मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य या देवाधि देव की देवी वाक् या ज्येष्ठ ब्रह्म की ब्राह्मी वाक् या प्रजापति की श्रुति या महाभूत का निःश्वास होने से अजर अमर अर्थात् नित्य है। अतएव

(२) वेद में किसी देश, जाति और व्यक्ति का इतिवृत्त नहीं है। इस कारण

(३) वेद के समस्त नाम पद। (प्रातिपादिक) यौगिक (धातुज) है रूढ़ नहीं। अतएव उनके सर्व विधि प्रक्रियानुगामी होने से

(४) वेद सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। इसलिए

(५) वेद में आधिभौतिक तथा आधिदैविक समस्त पदार्थ विज्ञान का सूत्र रूप से वर्णन है। इसके साथ ही आध्यात्मिक दृष्टि से

(६) वेद के किसी भी मंत्र में ईश्वर का परित्याग नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण वेद का वास्तविक तात्पर्य अध्यात्म में है। अतएव

(७) वेद के अग्नि, वायु, इंद्र आदि समस्त देवता वाचक पद उपासना प्रकरण (अध्यात्म) में परमेश्वर के वाचक होते हैं और अन्यत्र भौतिक पदार्थ के। याज्ञिक क्रिया का पर्यवसान अध्यात्म में होने से

(८) मुक्ति प्रमाण सिद्ध याज्ञिक क्रिया कलाप, मन्त्रार्थानुसृत विनियोग और तदनुसारी याज्ञिक अर्थ भी ग्राह्य है, अन्य नहीं।

(९) वेद मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य होने से उसकी वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक हुई है। अतएव

(१०) वेद में भौतिक जड़ पदार्थों से अभिलषित पदार्थों की याचना, अश्लीलता, वर्ग-द्वेष और पशु-हिंसा आदि आदि असंभव तथा अनर्थकारी बातों का उल्लेख नहीं है।

(११) वेद स्वतः प्रमाण हैं, अन्य समस्त वैदिक लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाह्य परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल होने से मान्य हैं। अतएव

(१२) वेद की व्याख्या करने में व्याकरण, निरुक्त, छन्दः ज्योतिष, पदपाठ प्रतिशाख्य, आयुर्वेदादि उपवेद, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शन, कल्प (श्रौत, गृह्य धर्म) सूत्र, ब्राह्मण और उपनिषद आदि अदि समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष अनार्ष वाङ्मय से सहायता ली जा सकती है। क्योंकि इनमें प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी अनेक रहस्यों के संकेत विद्यमान

१—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३६

हैं। परन्तु कोई भी मन्त्र-व्याख्या इन ग्रंथों के अनुकूल न होने या विपरीत होने मात्र से अमान्य नहीं हो सकती, जब तक वह स्वयं वेद से विपरीत न हो।[1]

इन्द्रादि शब्द ईश्वर वाची हैं

स्वामी जी के वेदभाष्य में अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्रादि को भौतिक रूप में न मान कर ईश्वर वाचक मानना एक विवादास्पद विषय बना दिया गया। सायण एवं महीधरादि के वेदभाष्यों के समर्थक सनातनधर्मावलम्बी पंडितों का कथन है कि ये देवता परमात्मा वाची न हो कर भौतिक पदार्थों एवं काल्पनिक देवताओं के द्योतक हैं। स्वामी जी ने निरुक्तादि प्रमाणों के आधार पर इसका अर्थ ईश्वर परक लगाया है।

वस्तुतः वेदभाष्य के विषय में संसार का कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी काल और स्थान का क्यों न हो पूर्णत्व का दावा कर ही नहीं सकता। प्राचीन काल के तपस्वी ऋषियों ने अपना समस्त जीवन वेदाध्ययन और वेद-मंत्रों पर मनन करने में अतिवाहित कर दिया परन्तु पूर्णत्व को कौन पहुँच सका? वेद अथाह विस्तृत महासागर की भाँति है उसमें गोता लगाकर ऋषियों ने कुछ रत्न प्राप्त कर लिए परन्तु असीमित ईश्वरीय ज्ञान की थाह किसे मिली? स्वामी दयानन्द के विषय में इतना ही सत्य है कि कई सहस्र वर्षों के पश्चात् ऐसा वेदवेत्ता उत्पन्न हुआ जिसने वेदों के नाम पर प्रचलित कुरीतियों, अनाचारों और मिथ्या धारणाओं का समूलोच्छेदन कर शुद्ध वैदिक धर्म की स्थापना की, लुप्त प्राय वेदों को जनता के मध्य उपस्थित किया, ब्राह्मणों का एकाधिकार न रख कर प्रत्येक पठित वर्ग को वेदाध्ययन का अधिकार दिया और हिन्दी भाष्य द्वारा असंस्कृतज्ञ व्यक्ति को भी पठन-पाठन का अवसर प्रदान कर वेद को सर्व सुलभ कर दिया।

हिन्दी-भाष्य

लोक भाषा हिन्दी में वेदानुवाद प्रस्तुत कर स्वामी जी ने अभूतपूर्व कार्य किया। आज तक किसी वैदिक विद्वान ने इस प्रकार का साहस नहीं किया। साधारण जनता के लिये वेद केवल एक विश्रुत वस्तु मात्र था। वेद ईश्वरीय ज्ञान है अतः स्वामी जी ने उसका द्वार मनुष्य मात्र के लिये खोल दिया। वेद-पथ-गमन लोकभाषा द्वारा सरल हो गया। आज कोई भी जिज्ञासु वेदाध्ययन कर आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो सकता है क्योंकि स्वामी जी ने परम्परागत कंटकों को दूर कर मार्ग प्रशस्त कर दिया है। हिन्दी वेदानुवाद के विषय में लाला लाजपतराय जी ने लिखा है:

"It was the boldest art of his life to have issued a translation of the Vedas in Hindi, the Vernacular of North India, since this translation had never even been attempted before. This fact should be the best proof of the transparency and the honesty of his motives."[2]

१—"वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन" श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक का लेख "वेदवाणी" वर्ष ६ अंक ७, मई १९५४, पृष्ठ २०,२१।

'The Arya Samaj' by Lala Lajpat Rai, page 106

अर्थात् "उत्तरी भारत की लोकभाषा हिन्दी में वेदानुवाद अभूतपूर्व होने के कारण उनके जीवन में उच्चतम साहस का कार्य था। यह तथ्य उनकी सत्यता और शुद्ध हृदयता का उत्तम प्रमाण है।"

स्वामी जी कृत वेदभाष्य का अंश

कार्य-संलग्नता वश अल्प समय मिलने और अकाल मृत्यु हो जाने के कारण स्वामी जी चारों वेदों का भाष्य नहीं कर सके। वे यजुर्वेद का पूर्ण भाष्य और ऋग्वेद के १० मण्डल और १०५५२ मंत्रों में से सप्तम् मंडल के ६२ वें सूक्त के द्वितीय मंत्र तक अर्थात् ५६४९ मंत्रों का ही भाष्य कर पाये।[1]

वेदभाष्य के हिन्दी लेखक

स्वामी जी ने वेदों का भाष्य संस्कृत में ही किया था उन्हें इतना अवकाश न था कि हिन्दी भाग भी स्वयं लिखते अतः उन्होंने सहायक पंडितों से भाषा-भाष्य करवाया। ये पंडित भीमसेन, ज्वालादत्त और दिनेश राम थे। भाषा-भाष्य स्वामी जी की इच्छानुसार और सन्तोषप्रद कभी न हुआ। वे समय समय पर पंडितों को निर्देश देते रहे परन्तु उन लोगों ने कभी आज्ञानुसार कार्य न किया। उस समय अच्छे पंडितों के न मिलने के दो मुख्य कारण थे। प्रथम यह कि स्वामी जी इतने साधन सम्पन्न न थे कि वे खोज कर अधिक वेतन पर पंडितों को रखते। द्वितीय स्वामी जी का मत प्रचलित विचार-धारा से भिन्न होने के कारण अधिकतर पंडितों का उनसे मतभेद बना रहा। जो पंडित उन्हें मिले वे भी विश्वस्त न थे परन्तु वाध्य होकर स्वामी जी को उनसे काम लेना पड़ा। पंडितों के विषय में स्वामी जी के निम्नलिखित कतिपय पत्रों से पूर्ण प्रकाश पड़ता है :

"भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है उसको शिक्षा कर देना कि भाषा के बनाने में ढील न हुआ करे......[2]

"हमने भीमसेन के शोधे भये पुस्तक देखे तो बहुत भूल निकलती है। इससे ज्ञात होता है कि वह बड़ा गाफिल है।"[3]

"......और जो गण पाठ के १० पुस्तक और उसके साथ भाषा भेजी सो पहुँचेगी। तुम थोड़ी सी भाषा देख लिया करो। यह ज्वालादत्त तो विक्षिप्त पुरुष है। इसका ध्यान सदा मासिक बढ़ाने पर रहता है काम बढ़ाने पर नहीं। यद्यपि मैंने सब पुस्तक गणपाठ का नहीं देखा परन्तु भूमिका के पहले पृष्ठ में दृष्टी पड़ी तो दूर दूर के स्थान में दर दर अशुद्ध छपा है। ऐसी भाषा को तुम भी देख सकते हो और अब यह भाषा भी नहीं बनाता किन्तु घास सी काटता है। इसके नमूने के लिये एक पत्र भेजते हैं जिस की उसने भाषा बनाई है। और बड़ी भूल करी है कि जिसका पदार्थ है कुछ और भाषा कुछ बनाई है। और भावार्थ संस्कृत के अनुसार और पूरी भाषा भी नहीं बनाई है। तुम प्रत्यक्ष देख लो

---

१. **ग्रंथों का इतिहास, पृष्ठ १०२—१०३**

२. **ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३१७**

३. **वही, पृष्ठ ३३४—३३५**

और उसके सामने दिखला दो। और छः मन्त्र की भाषा भी रोज नहीं बनाता । और उस पर भी यह हाल है।...''[१]

"और ऊपर लिखा ज्वालादत्त हमारे पास पन्द्रह दिन पहले पत्र क्यों नहीं भेजता जो कि पत्र हम बराबर भेज दें। और अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसी कि पहले बनाता था। जैसी कि प्रति दिन उन्नति करनी चाहिये यह प्रति (दिन) गिरता जाता है। अब के भाषा में कई पद छोड़ दिये हैं कहीं अपनी ग्रामणी भाषा लिख देता है और (च) का अर्थ भी, और करना चाहिये। यह (भी) कर देता है।''[२]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वामी जी वेदभाष्य के वर्तमान भाषानुवाद से सन्तुष्ट न थे। वे अधिक स्पष्ट, पुष्ट और परिमार्जित भाषा लिखवाना चाहते थे परन्तु अत्यन्त व्यस्त जीवन बिताने के कारण न तो उन्हें भाषा को पूर्ण रूपेण सुधारने का अवसर मिला और न पंडितों ने उनके बार बार चेतावनी देने पर भी भाषा की सन्तोषजनक उन्नति की।

भाषा-भाष्य के उदाहरण

दो मंत्रों के निम्नलिखित भाषा-भाष्य से स्वामी जी द्वारा कराये गये हिन्दी अनुवाद का कुछ आभास मिल सकेगा।

"मनुष्यों को किस किस प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया गया है।

आ वो देवदास ईमहे वामम्प्रयत्यध्वरे। आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥ ५ ॥ (यजुर्वेद चतुर्थ अध्याय ५ वां मंत्र)

पदार्थः हे (देवासः) विद्यादि गुणों से प्रकाशित होने वाले विद्वान् लोगों। जैसे हम लोग (वः) तुमको (प्रयति) सुख युक्त (अध्वरे) हिंसा करने अयोग्य यज्ञ के अनुष्ठान में (वः) तुम्हारे (वामम्) प्रशंसनीय गुण समूह की (ईमहे) अच्छे प्रकार याचना करते हैं। हे (देवासः) विद्वान् लोग। जैसे हम लोग इस संसार में आप लोगों से (यज्ञियाः) यज्ञ को सिद्ध करने योग्य (आशिषः) इच्छाओं को (आ ध्वामहे) अच्छे प्रकार स्वीकार कर सकें वैसे ही हम लोगों के लिये आप लोग सदा प्रयत्न किया कीजिये ॥ ५ ॥

भावार्थः मनुष्यों को योग्य को योग्य है कि उत्तम विद्वानों के प्रसंग के उत्तम-उत्तम विद्याओं का सम्पादन कर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करके इन विद्वानों का संग और सेवा सदा करना चाहिये।[3]

उपदेशक विषय

"दुपदादिव मुमुचानः स्विनः स्नातोमलादिव। पूर्त पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ॥ २० ॥ (यजुर्वेद २० वां अध्याय २० वां मंत्र)

१—ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४५६

२—वही, पृष्ठ ४५५

३—यजुर्वेद भाषा भाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ १०४

पदार्थः हे (आपः) प्राण व जलों के समान निर्मल विद्वान् लोगों आप (दुपदादिव, मुमुचानः) वृक्ष से जैसे फल, रस, पुष्प, पत्ता आदि अलग होते या जैसे (स्विन्नः) स्वेदयुक्त मनुष्य (स्नातः) स्नान करके (मलादिव) मल से छूटता है वैसे वा (पवित्रेणेव) जैसे पवित्र करने वाले पदार्थ से (पूतम) शुद्ध (आज्यम्) घृत होता है वैसे (मा) मुझको (एनसः) अपराध से पृथक् करके (शुन्धन्तु) शुद्ध करें ॥ २० ॥

भावार्थ—इस मंत्र में उपमालंकार-अध्यापक उपदेशक लोगों को योग्य है कि इस प्रकार सब को अच्छी शिक्षा से युक्त करें जिससे वे शुद्ध आत्मा नीरोग शरीर और धर्म युक्त कर्म करने वाले हों ।[1]

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका

वेद-भाष्य के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण विद्वानों के सम्मुख रखने के हेतु स्वामी जी ने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका की रचना की । इसमें भारतीय और यूरोपीय पूर्व भाष्य कर्ताओं की त्रुटियों को दर्शाते हुये जिन आधारों पर उन्होंने भाष्य किया उसे युक्ति पूर्वक प्रस्तुत किया है । यह ग्रंथ चारों वेदों की भूमिका है जिसमें स्वामी जी ने वेदों के विषय में सभी ज्ञातव्य और आवश्यक बातों का वर्णन किया है ।

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का लेखन २० अगस्त सन् १८७६ ई० को आरम्भ और ६ नवम्बर १८७६ ई० के लगभग समाप्त हुआ ।[2] इसमें संस्कृत और हिन्दी दोनों भाग हैं । संस्कृत भाग स्वामी जी द्वारा लिखित है और हिन्दी अनुवाद पंडितों द्वारा किया गया है । कहीं-कहीं संस्कृत का ठीक अनुवाद नहीं हुआ क्योंकि 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का जो भाषानुवाद वैदिक यंत्रालय से प्रकाशित होता है, वह पंडितों का किया हुआ है । इसका केवल संस्कृत भाग ऋषि का रचा हुआ है । इस भाषानुवाद में कहीं कहीं मूल संस्कृत से अत्यन्त प्रतिकूलता है । कई स्थानों पर संस्कृत और भाषानुवाद का मेल ही नहीं मिलता । अर्थात् जो संस्कृत छपी है उसका भाषानुवाद उपलब्ध नहीं होता और जो भाषानुवाद है उसकी संस्कृत ढूंढने पर नहीं मिलती । इसका मुख्य कारण यह है कि ऋषि संस्कृत भाग लिखाकर भाषानुवाद के लिए पंडितों को दे देते थे । भाषानुवाद के अनन्तर ऋषि मूल संस्कृत में संशोधन कर देते थे । परन्तु पंडित लोग संस्कृत में किये गये संशोधन के अनुसार पुनः भाषा का पूरा-पूरा संशोधन नहीं करते थे ।'[3]

भूमिका के विषय

ज्ञान, कर्म और उपासना के अन्तर्गत मनुष्य जीवन से सम्बन्धित लगभग सभी विषयों की ओर वेद-भाष्य-ग्रन्थ में संकेत किया गया है । यथा ईश्वर, वेद और सृष्टि की उत्पत्ति, मुक्ति, नौका तथा विमान निर्माण वैद्यक, विवाह, राजधर्म, वर्णाश्रम, ब्रह्मचर्यादि

१—यजुर्वेद भाषा-भाष्य, द्वितीय भाग, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ७४२
२—ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ९६-९८
३—वही, पृष्ठ ९८-९९

चार आश्रम, पंच महायज्ञ, वेद की अलंकार युक्त कथायें, मूर्तिपूजा, पठन-पाठन महीधरादि भाष्यकारों का खंडन, व्याकरण नियम इत्यादि ।

आर्यभाषा में वेद-भाष्य हिन्दी साहित्य के प्रति स्वामी जी की एक स्थायी देन है । यदि वे अन्य प्रकार से साहित्य सेवा न कर केवल इतना ही कार्य कर जाते तो भी हिन्दी संसार उनका ऋणी रहता । हिन्दी-साहित्य में वेद-भाष्य एक युगान्तरकारी घटना है । भविष्य में विद्वत् समुदाय इस दिशा में विचार कर अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सकेगा । हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपने ग्रंथों में हिन्दी-वेद-भाष्य को महत्व न देकर इस विषय की अवहेलना की है ।

स्वामी दयानंद और तत्कालीन प्रसिद्ध गद्य-लेखक

खड़ीभाषा-गद्य-काल का प्रारंभ

हिन्दी में खड़ी बोली गद्य का विकास काल १९ वीं शती का उत्तरार्द्ध है । इस काल में हिन्दी के रंगमंच पर अनेक विद्वान् उपस्थित हुये जिन्होंने अपनी देन से हिन्दी गद्य को साहित्यिक रूप देने और एक चलती हुई सर्वमान्य भाषा बनाने का प्रयत्न किया । राजा शिवप्रसाद ने भाषा को उर्दूमय बनाना चाहा और उसमें फारसी शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया फलतः उनकी भाषा ने अभारतीय रूप धारण किया । राजा लक्ष्मण सिंह ने इसका विरोध किया और भाषा को अधिकतर संस्कृतमय बना दिया । यद्यपि संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से युक्त भाषा अरबी फारसी शब्दों से लदी हुई भाषा की अपेक्षा अधिक ग्राह्य थी और पठित समाज में उसका सम्मान था परन्तु सामान्य वर्ग से भाषा कुछ दूर हट जाती थी और बोलचाल की स्वाभाविकता न रह कर कृत्रिमता की झलक आती थी । बोलचाल के शब्दों के साथ-साथ तत्सम और तद्भव शब्दों के विरल प्रयोग द्वारा ही स्वाभाविकता की रक्षा हो सकती थी क्योंकि एकमात्र तत्सम शब्दान्वित भाषा जनसाधारण में प्रचलन की योग्यता नहीं रखती । इस क्षेत्र में स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने प्रशंसनीय कार्य किया ।

राजा शिवप्रसाद की नीति

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द स्वामी जी के समकालीन थे । प्रथम और द्वितीय निवेदन द्वारा इन्होंने स्वामी जी से जो प्रश्न पूछे थे उसका वर्णन 'भ्रमोच्छेदन' के अन्तर्गत पूर्व हो चुका है । राजा महोदय जिज्ञासु होकर स्वामी दयानन्द से ज्ञान-ग्रहण करना नहीं चाहते थे अपितु काशी के पंडितों और विशेषतया स्वामी विशुद्धानन्द के प्रोत्साहन से व्यर्थ का वितंडा खड़ा करना चाहते थे इसीलिए स्वामी जी ने लिखा था :—

'जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुन के यथाशक्ति सन्देह निवृत्ति कर आनंन्दित होना योग्य न था ? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है । देखो मार्गशीर्ष से ले के वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के

पश्चात मैं और वे काशी में निवास करते रहे क्यों न मिलके सन्देह निवृत्ति किये ? जब मेरी यात्रा सुनी तभी पत्र भेज के प्रत्युत्तर क्यों चाहे ?"[१]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि राजा साहब कोई सिद्धान्तवादी व्यक्ति न थे जो सत्य को ग्रहण और असत्य का त्याग करते केवल प्रसिद्धि के वशीभूत होकर उन्होंने जनता पर यह प्रकट करना चाहा कि वे भी संस्कृतज्ञ थे और स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने वालों में थे। उनकी यह यश-लिप्सा ही हिन्दी को उर्दूमय बनाने के लिए उत्तरदायी है क्योंकि एक ओर धार्मिक क्षेत्र में वे स्वामी विशुद्धानन्दादि के सहयोगी बनकर संस्कृत के विद्वान् होने का दावा करते थे दूसरी ओर अँग्रेजों की गतिविधि देखकर उर्दू का समर्थन कर हिन्दी का अस्तित्व ही मिटाये दे रहे थे। अतः स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु जी से उनकी न पटी। स्वामी जी से कैसा सम्बन्ध था उसका आभास तो ऊपर मिल चुका है। भारतेन्दु से व्यवहार के विषय में शुक्ल जी ने लिखा है कि "भारत के प्रेम में मतवाले, देशहित की चिन्ता में व्यग्र, हरिश्चन्द जी पर सरकार की जो कुदृष्टि हो गई थी उसके कारण बहुत कुछ राजा साहब ही समझे जाते थे।"[२]

स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु

स्वामी दयानंद और भारतेन्दु जी जिस समय हिन्दी गद्य-भूमि पर अवतरित हुये उस समय अनेक उलझनें उत्पन्न हो चुकी थीं। तत्कालीन गद्य में व्रजभाषा, पंडिताऊपन, संस्कृत के तत्सम और अरबी फारसी युक्त चार प्रकार की भाषायें चल रही थीं परन्तु भाषा की एकरूपता का निश्चय न हो पाया था। भारतेन्दु जी को इसका श्रेय है कि उन्होंने भाषा का परिष्कार किया और जनप्रिय चालू भाषा का निर्माण किया। सीधे और सरल वाक्यों में तत्सम तद्भव और उर्दू फारसी के जनसाधारण में प्रचलित शब्दों के मेल से एक शुद्ध भाषा बनाकर संचालित की इसीलिए भारतेन्दु को आधुनिक गद्य का निर्माता कहा जाता है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो भारतेन्दु जी के गद्य में भी पंडिताऊपन और व्रज-भाषा की झलक कहीं कहीं मिलेगी इसके अतिरिक्त शब्दों के शुद्ध प्रयोग की भी अशुद्धियाँ खोजने से मिल जायँगी परन्तु ये अभाव उपेक्षणीय इसलिये हैं कि उस समय भाषा की एकरूपता का निश्चय न हो सका था। भारतेन्दु जी ने सर्वमान्य मध्यमार्ग ग्रहण किया था अतः भाषा सम्बन्धी उपर्युक्त अभाव नगण्य हैं। विचारणीय और आश्चर्य का विषय यह है कि स्वामी दयानन्द ने भी तत्कालीन परिस्थिति में हिन्दी के निर्माण और प्रचार में भारतेन्दु जी की अपेक्षा कम सहयोग नहीं दिया तथापि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने उनका वर्णन अन्यमनस्कता से किया और यदि उनका कार्य इतना महान् व्यापक और दीप्त न होता तो वे उन्हें बिल्कुल ही छोड़ जाते। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द ने जो धार्मिक सुधार का महाक्रान्तिकारी रूप प्रस्तुत किया वह अधिकांश में जनमत के विरुद्ध

१—भ्रमोच्छेदन, पृष्ठ २

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४६०

पड़ा। मूर्तिपूजा, श्राद्ध और अवतारवाद जैसी व्यापक धारणाओं का सीधे प्रबल और ओजस्विनी भाषा में खंडन बड़ा ही अप्रिय सिद्ध हुआ। संभव है ऐसे भयंकर व्यक्ति और उसके कार्यों का वर्णन हिन्दी इतिहास लेखकों ने उपेक्षात्मक रूप से करना ही ठीक समझा हो।

दोनों महापुरुषों की हिन्दी सेवा की तुलना

जिस समय हम स्वामी जी के भाषा कार्य पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि उन्हें इस कार्य में भारतेन्दु जी की अपेक्षा अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। हिन्दी, भारतेन्दु जी की मातृभाषा थी, वे एक धनी पिता के लाड़ले पुत्र थे, बाल्यावस्था में ही पिता का देहान्त हो जाने से जीवन अनियन्त्रित सा रहा और अपना भविष्य-मार्ग-निर्धारण स्वतन्त्र रूप से किया, रसिक और सौन्दर्योपासक थे ही अतः काव्य-रचना और नाटक-लेखन आदि कार्य शौक के कारण किये। कुशाग्र बुद्धि के होने के कारण यौवन के प्रथमोत्थान के पश्चात् उन्होंने देश की तत्कालीन दशा पर भी विचार करना प्रारम्भ किया। भारत-दुर्दशा और भारत जननी क्रमशः संवत् १९३३ और १९३४ की रचनायें हैं परन्तु १९३० में लिखित मौखिक नाटक "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में भी सुधार की भावना है। इसमें मांस-मदिरा सेवन करने और पशुवलि करने वालों पर तीखा व्यंग किया है। उनके पत्रों में भी सुधार सम्बन्धी लेख बराबर निकलते थे जो उत्तरोत्तर प्रौढ़ता के द्योतक हैं। उधर स्वामी जी के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि हिंदी उनकी मातृभाषा न थी। उन्हें पहले हिन्दी सीखना पड़ा और शीघ्र ही सीखकर व्याख्यान और पुस्तक लेखन का का कार्य करना पड़ा। हिन्दी का प्रारंभ उन्होंने सन् १८७४ ई० से किया और केवल नव वर्ष ही, भारतेन्दु के कार्यकाल का लगभग आधा ही काम करने को मिला। इसी बीच में हिन्दी सीखकर लिखने और बोलने का अभ्यास किया, अनेकों पुस्तकें रचीं, पत्र और विज्ञापन लिखे, व्याख्यान दिए, राजाओं में उपदेश कार्य किये और वेद-भाष्य भी किया। इस अल्प-काल और प्रतिकूल परिस्थिति में अनेक बाधाओं से लड़ते हुये हिन्दी के लिये जो कार्य किया उसका मूल्य भारतेन्दु से अधिक है और स्तुत्य है।

भारतेन्दु जी की साहित्य सेवा में यह विशेषता अवश्य है कि उन्होंने इसकी चतुर्मुखी सेवा की। उनकी रचनायें गद्य और पद्य दोनों में ही है। विषय भी अनेक हैं और समाज सुधार, धर्म, नीति, जीवन चरित्र आदि सभी पर लिखे हैं। कविता भी उनकी बहुमुखी है और नाटकों में गद्य-पद्य का समन्वय हैं। स्वामी दयानन्द की हिन्दी सेवा इन सभी रूपों में इसलिये संभव नहीं कि उनका कार्य-क्षेत्र भिन्न था। वे एक धर्म-प्रचारक आचार्य थे अतः उनकी रचनाओं में विचारशीलता और गंभीरता के गुण अनिवार्य थे। शृंगारिक कविताओं और नाटकों के वे घोर विरोधी थे अतएव उनकी रचनाओं में भारतेन्दु जैसा चुलबुलापन और अभद्र व्यंग एवं परिहास नहीं है। हाँ! धर्म की व्याख्या राजनीति, इतिहास, वेदशास्त्रों के गूढ़ विषयों का सूक्ष्मचिन्तन यह सब उनकी रचनाओं में अवश्य मिलेगा। व्याख्यान के अन्तर्गत जिस मनोरंजक चित्रण और शिष्ट हास्य की सृष्टि वे किया करते थे उसके अनेक उदाहरण "व्यवहारभानु" नामक पुस्तक में दिये हुये अनेक दृष्टान्तों के अन्तर्गत मिलेंगे।

स्वामी जी के ग्रंथों का प्रभाव

रचनाओं की दृष्टि से स्वामी जी का सत्यार्थप्रकाश भारतेन्दु जी के समस्त मौलिक गद्य रचनाओं के लगभग बराबर ही बैठेगा परन्तु प्रभाव की दृष्टि से यह सन्देह रहित है कि सत्यार्थप्रकाश ने अधिक मनुष्यों को प्रभावित किया। भारतेन्दु के ग्रन्थों की अपेक्षा सत्यार्थप्रकाश का अधिक प्रचार हुआ और हिन्दी गद्य में प्रबलता ओज, विवादात्मकता एवं व्यंग का संचार इस ग्रंथ ने प्रचुर मात्रा में किया। हिन्दी का प्रचार इस ग्रंथ ने अन्य प्रकार से भी किया। १९ वीं शती के चौथे और बीसवीं शती के प्रथम चरण में विरुद्ध मतवालों ने इसका बड़ा विरोध किया। परिणामस्वरूप कितने ही हिन्दी के ग्रंथ इसके विरोध में छप गये। पं० कालूराम ने तो सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण की दूसरी आवृत्ति ही इसलिये प्रकाशित करवा दी कि उसमें पंडितों की असावधानी से आर्यसमाज के सिद्धान्त विरुद्ध छपे हुये कुछ अंशों का आश्रय लेकर विरोध कर सकें। सत्यार्थप्रकाश की व्यापकता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि यह संसार की सोलह प्रमुख भाषाओं में पांच लाख बयालिस हजार तीन सौ की संख्या में छप चुका है। केवल हिन्दी में इसकी संख्या तीन लाख सोलह हजार है।[1] स्वामी जी के सभी ग्रन्थों के कितने ही संस्करण छप चुके हैं। मुख्य-मुख्य ग्रन्थों के संस्करणों का उल्लेख स्वामी जी के ग्रंथों के विवरण के अन्तर्गत हो चुका है अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि जनसाधारण पर उनके ग्रंथों का कितना प्रभाव पड़ा। सत्यार्थप्रकाश और स्वामी जी के तत्कालीन प्रचार ने भारतेन्दु जी पर भी प्रभाव डाला और वे चाहे मूर्तिपूजा अवतारवाद आदि के खंडन से सहमत न हों परन्तु समाज-सुधार सम्बन्धी लगभग सभी विचारों के वे समर्थक थे।

भारतेन्दु की उदारता और समाज-सुधार

भारतेन्दु जी ने 'दूषण मालिका' नामक छोटी सी पुस्तक में और अपने पत्रों में यदा कदा स्वामी जी के विरुद्ध अनुचित शब्दों के प्रयोग किये हैं। 'दूषण मालिका' काशी शास्त्रार्थ के पश्चात् लिखी गई है। उस समय भारतेन्दु जी की आयु १९-२० वर्ष की थी। उनकी बुद्धि परिपक्व न हो पाई थी। समस्त काशी स्वामी जी का विरोधी था अतः सबके स्वर में स्वर मिलाना आश्चर्यजनक नहीं। परम्परागत रूढ़ियों का विरोध सहसा कोई भी नहीं सह सकता। आगे चलकर विचार-शक्ति की वृद्धि के साथ भारतेन्दु ने स्वयं अनेक समाज-सुधारों का समर्थन किया। विदेश-यात्रा और विधवा-विवाह के वे पक्षपाती थे। बाल-विवाह, मांस-भक्षण, पशुबलि, मदिरापानादि के वे स्वामी जी की भाँति ही विरोधी थे और अपने ग्रंथों और लेखों में इन प्रथाओं की निंदा की है। उनके बलिया व्याख्यान से उनके क्रान्तिकारी विचारों का आभास मिलता है। उस समय यह कहना कि "बहुत सी बातें जो समाज विरुद्ध मानी हैं किन्तु धर्म शास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइये। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन ही में व्याह करके उनका बल वीर्य आयुष्य सब मत घटाइये।........कुलीन

१—वेद'वाणी' अगस्त १९५४ पृष्ठ २२ (संग्रहीता पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति।

प्रथा बहु विवाह को दूर कीजिये। लड़कियों को भी पढ़ाइये......"[१] इत्यादि, एक वैष्णव के लिये बड़े साहस का काम था। "स्वर्ग में विचार सभा के अधिवेशन" में भी स्वामी दयानन्द के विषय में जो कुछ कहा है उससे भारतेन्दु की उदारता का ही परिचय मिलता है यद्यपि कुछ पंक्तियां उन्होंने अपने विचारानुसार विरुद्ध भी लिखी हैं। वे 'कविवचन सुधा' में स्वामी जी के विज्ञापन छापते थे और सबसे बडी उदारता तो यह थी कि 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के अन्तिम पृष्ठ पर भिन्नमत होते हुये भी स्वामी दयानन्द का नाम श्री नवीनचन्द्र राय, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पं० सत्यव्रत सामश्रमी आदि विद्वानों की नामावली के साथ रखते थे।[२]

तत्कालीन गद्य-शैली की स्वामी जी की शैली से भिन्नता

भारतेन्दु-युग के गद्य-साहित्य की अनेक विशेषतायें बताई जाती हैं। उस काल के गद्य लेखकों ने देश की दशा सामाजिक बुराई, शासकों की नीति आदि विषयों पर बड़ी चतुरता से प्रकाश डाला है। विषय-वस्तु को सीधे ढंग से न कह कर उन्होंने विभिन्न रुप से इसे दर्शाया है। किसी ने प्रहसन लिखा उसके अन्तर्गत हास्य विनोद के साथ साथ अनाचारों और कुरीतियों पर भी प्रकाश पड़ गया। किसी ने उपन्यास लिखा उसमें सामाजिक हीनावस्था का चित्रण कर दिया, किसी ने भंग की तरंग में अनाप शनाप बकने के बहाने राजनीति और समाजशास्त्र जैसे गहन विषयों पर सूक्ष्म विचार प्रस्तुत कर दिये। इस प्रकार के लेखों का लिखना निस्संदेह चातुर्य-पूर्ण है और उनका साहित्यिक महत्व भी है क्योंकि श्लेष वक्रतादि को साहित्य में स्थान देना ही पड़ेगा, परन्तु जिन उद्देश्यों को लक्ष्य कर ये रचनायें की जाती हैं उसकी पूर्ति इस प्रकार अत्यन्त मन्दगति से होती है और बहुधा पाठक उसे परिहास मात्र ही समझ क्षणिक मनोरंजन कर सब बातें विस्मृति-सागर में डुबो देते हैं। स्वामी दयानन्द की यह विशेषता, चरित्र की उच्चता और दृढ़ता थी कि जिस बात का उन्हें उपदेश देना होता था, जिसे वे मनुष्यमात्र के लिये कल्याण-कारी समझते थे उसे बिना घुमाये फिराये स्पष्ट और सीधे ढंग से कहते और लिखते भी थे। इसके उदाहरण आगे दिये गये हैं। उनके व्याख्यान और सत्यार्थप्रकाश इसके प्रमाण हैं। इस प्रकार इस प्रबल सुधारक ने सत्य का प्रतिपादन मानव-हित के लिये समसामयिक लेखकों और सुधारकों से भिन्न रूप में किया। यह अदम्य साहस, निस्वार्थता और तपस्या के परिणामस्वरूप था। साधारण व्यक्ति और गृहस्थी जन जिनके स्वार्थ एक दूसरे से आबद्ध रहते हैं स्पष्टतः सत्योद्घाटन कर ही नहीं सकते। अतः तत्कालीन अन्य लेखकों से भिन्न यथातथ्य उद्देश्य-कथन भी साहित्य के प्रति एक देन है। वस्तुतः इस तथ्य-वर्णन और अप्रिय सत्य-भाषण के कारण ही हिन्दी में खंडनमंडनात्मक साहित्य की उस समय बाढ़ सी आ गई। समाचार-पत्र भी उस समय इन्हीं विषयों से भरे रहते थे। समस्त

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली तृतीय खंड, पृष्ठ ६०१

२ 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के कुछ अंकों के अंत में सम्पादकों की नामावली छपी है। यह नामावली सन् १८७४ जून से लेकर सन् १८७४ सितम्बर तक की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की प्रतियों में देखी जा सकती है।

उत्तरी भारत में आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द, मूर्ति पूजा, शास्त्रार्थ, विरोधी पक्ष खंडन, स्वपक्ष-प्रतिपादन की धूम सी मची हुई थी। अतः हिन्दी-गद्य को प्रबलता, ओज, व्यंग, वक्रता आदि की जो प्राप्ति नवीन रूप में हुई वह भुलाई नहीं जा सकती।

नाटक के प्रति स्वामी जी के विचार

नाटक के स्वामी जी घोर विरोधी थे। उन्हें नाटक इसलिये मान्य नहीं थे कि उससे शृंगारिकता एवं वासना का उद्भव होने से ब्रह्मचर्य-पालन में बाधा पहुंचती है। इसीलिये उन्होंने एक पत्र में लिखा था "विदित हो कि तुम आर्य समाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापों। यह अनुचित बात है। यह आर्य समाज है। मड़ुआ समाज नहीं। जो तुम नाटक का विषय छापते हो ऐसा करना भड़ुआपन की बात है। इसलिये ऐसा बर्तना उचित नहीं।"[1] इसी प्रकार एक दूसरे पत्र में स्वामी जी ने लिखा था "अब भारत-सुदशा-प्रवर्तक पं० लक्ष्मीदत्त जी से लिखाना चाहिये। वे संस्कृतयुक्त अच्छा विषय लिखेंगे। और नाटक का विषय तो नाममात्र भी नहीं आना चाहिए। जो अच्छा विषय भी लिखना हो वह प्रश्नोत्तर वा अन्य प्रकार से लिखा जावे। नाटक (नाम) तमाशे का है। क्योंकि तुम्हारे नाटक को (लिखा) देख के लखनऊ समाज में नाटक का व्याख्यान ही होने लगा। जब हमने मने किया तो कहने लगे कि अपने फर्रुखाबाद समाज (के) पत्र में नाटक क्यों छपता है। यह नाटक से बिगाड़ का उदाहरण है।"[2]

इन पत्रों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी जी नाटकों से हानि समझते थे अतः उन्होंने आर्यसमाज के अन्तर्गत नाटक का होना सर्वथा मना कर दिया।

स्वामी जी की गद्य-शैली और उसके उदाहरण

पहले कहा जा चुका है कि स्वामी जी गुजराती थे और धर्म प्रचारार्थ उन्होंने हिन्दी में भाषण, शास्त्रार्थ एवं ग्रन्थलेखन का कार्य किया। यद्यपि उन्हें हिन्दी सीखने में कठिनाई हुई परन्तु सतत् अभ्यास द्वारा उन्होंने इस भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया और तत्कालीन प्रमुख हिन्दी गद्य लेखकों में अपना स्थान बनाया। उनकी गद्य-शैली के विषय में बहुधा हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों का विचार है कि वे 'लक्कड़तोड़' एवं वादविवादात्मक भाषा ही लिखते थे। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी जी को शास्त्रार्थ अधिक संख्या में करने पड़े और आवश्यकतानुसार उन्होंने कठोर शब्दों का व्यवहार भी किया परन्तु यह केवल उनकी शैली का एक रूप है। उन्होंने ईश्वर, जीव, प्रकृति एवं वेद व्याख्या सम्बन्धी गम्भीर विषय भी गद्य में लिखे, भाषा को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये व्यंग का प्रयोग किया, आवैदिक मतों के खंडनार्थ कठोर आक्रमणात्मक भाषा का उपयोग किया और देश एवं जाति की अधोगित का चिंतन कर अपने गद्य में करुणत्व का आभास भी दिया।

१—**ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३६६. ३६७**
२—**वही, पृष्ठ ३७६**

गंभीर तर्क-शैली (निराकार ईश्वर का प्रतिपादन)

'ईश्वर साकार है वा निराकार ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुये स्वामी जी लिखते हैं :

"निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न होता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु में गुण कर्म स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन, भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिए। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए। जो कोई यहाँ ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था। इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता किन्तु निराकार होने से सब जगत को सूक्ष्म कारणों से स्थुलाकार बना देता है।'[1]

यहाँ ईश्वर के निराकारत्व को अत्यन्त सरल शब्दों में स्वामी जी ने स्पष्ट किया है। उनके तर्क अकाट्य और मान्य हैं। वाक्य छोटे हैं जिसे साधारण पठित व्यक्ति भी ग्रहण कर सकते हैं। उक्त उद्धरण में कोई भी निरर्थक शब्द नहीं है। आधुनिक हिन्दी के दृष्टिकोण से "बनाने हारा" शब्द खटकता है। स्वामी जी बहुश्रुत थे। समस्त उत्तरी भारत में वे कई बार भ्रमण कर चुके थे। ईसाइयों के प्रचार-साहित्य में जो उस समय हिन्दी में प्रकाशित होते थे "हारा" शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है। अतः स्वामी जी द्वारा इसका प्रयुक्त होना आश्चर्यजनक नहीं। हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा तो अभी निश्चित ही हो रही थी।

करुणत्व पूर्ण तर्क-शैली

महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ के मंदिर की लूट पर दुःख प्रकट करते हुये स्वामी जी ने लिखा है।

"जब मूर्ति तोड़ी तब सुनते हैं कि अठारह क्रोड़ के रत्न निकले जब पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े तब रोने लगे। कहा, कि कोष बतलाओ। मार के मारे झट बतला दिया। तब सब कोष लूट मार कूट कर पोप और उनके चेलों को "गुलाम" बिगारी बना, पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मलमूत्रादि उठवाया और चना खाने को दिए। हाय ! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुये ? क्यों परमेश्वर की भक्ति न की जो म्लेच्छों के दाँत तोड़ डालते। और अपना विजय करते। देखो। जितनी मूर्तियाँ हैं उतनी शूर वीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती। पुजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की परन्तु मूर्ति एक भी उन शत्रुओं के शिर पर उड़के न लगी। जो किसी एक

१—सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ११४

शूर वीर पुरुष की मूर्ति के सदृश सेवा करते तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।"

उपर्युक्त उद्धरण में विदेशी आक्रमणकारी द्वारा सोमनाथ मंदिर के कोष लुटने और पुजारियों पर अत्याचार होने से स्वामी जी को अत्यन्त दुःख हुआ। उनके विचारानुसार इस दुर्घटना का मूलकारण मूर्तिपूजा है। उनके तर्क भी तदनुकूल ही हैं। "म्लेच्छों" के दाँत तोड़ डालने में आक्रमणकारी के प्रति क्रोध, पुजारियों के "गुलाम, विगारी" बनने पर दया और मूर्तिपूजा से कोई लाभ न होने पर शोक के भाव उक्त गद्य-खंड में स्पष्ट हैं।

इतिवृत्तात्मक शैली

"देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्यों कर जा सकतीं और युद्ध कर सकतीं। इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये। जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये वैसा करना कराना वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें.........."[1]

यह स्वामी जी के शुद्ध गद्य का नमूना है। इसमें स्त्रियों की शिक्षा के बिषय में प्रकाश डाला है। इस गद्य अवतरण में "जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म, वैद्यक, गणित शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये" यह वाक्य इसलिये विचारणीय है कि इसमें "स्त्रियों को भी सब विद्या सीखनी चाहिये" न कह कर "स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये" कहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वामी जी का वाक्य शिथिल है अपितु वे बल देकर कहना चाहते थे कि स्त्रियों को कौन कौन सी विद्या सीखनी चाहिये इसीलिये प्रत्येक विद्या को अलग अलग स्पष्टरूपेण कहा है। उक्त गद्य-खंड के अंत में "रहें" शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसे देखकर कुछ आलोचक यह कह सकते हैं कि यह पंडिताऊ भाषा है। संभवतः इसी प्रकार के कतिपय शब्दों को लक्ष्य कर ही स्वामी जी की भाषा को पंडिताऊ भाषा कही जाती है। वस्तुतः इस प्रकार के शब्द इतनी अल्प मात्रा में हैं कि उनके आधार पर "सत्यार्थप्रकाश" की भाषा को पंडिताऊ कहना स्वामी जी के साथ अन्याय करना है। अवतरण का अन्तिम वाक्य अधिक विस्तृत है और उसका विन्यास भी आधुनिक गद्य की भाँति नहीं है परन्तु भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

---

१. "सत्यार्थप्रकाश" पृष्ठ ४६

हास्य और व्यंग की शैली (क) पुराण खंडन

"(प्रश्न) जो यमराज राजा, चित्रगुप्त मंत्री, उसके बड़े भयंकर गण कज्जल के पर्वत के तुल्य शरीर वाले जीव को पकड़ ले जाते हैं। पाप पुण्य के अनुसार नरक स्वर्ग में डालते हैं। उसके लिये दान, पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, गोदानादि, वैतरणी नदी तरने के लिये करते हैं। ये सब बातें झूठ क्यों कर हो सकती हैं।"

"(उत्तर) ये सब बातें पोप लीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहाँ जाते हैं उनका धर्मराज चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिये कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं ? और मरने वाले जीव को लेने में छोटे द्वार में उनकी एक अंगुली भी नहीं जा सकती और सड़क गली में क्यों नहीं रुक जाते ? जो कहो कि वे सूक्ष्म देह भी धारण कर लेते हैं तो प्रथम पर्वतवत् शरीर के बड़े बड़े हाड़ पोप जी बिना अपने घर के कहाँ धरेंगे ? जब जंगल में आगी लगती है तब एक दम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिये असंख्य यम के गण आवें तो वहाँ अंधकार हो जाना चाहिये और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जायँगे तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूट कर पृथ्वी पर गिरते हैं वैसे उनके बड़े बड़े अवयव गरुड़ पुराण के वाँचने सुनने वालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे ? श्राद्ध, तर्पण, पिंड प्रदान उन मरे हुये जीवों को तो नहीं पहुँचता किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोप जी के घर उदर और हाथ में पहुँचता है। जो वैतरणी के लिये गोदान लेते हैं वह तो पोप जी के घर में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती पुनः किसका पूँछ पकड़ कर तरेगा ? और हाथ तो यहीं जलाया वा गाड़ दिया गया फिर पूँछ को कैसे पकड़ेगा ?"[1]

इस गद्य-खंड में प्रारंभ से लेकर अंत तक हास्य और व्यंग का पुट है। "जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूट कर पृथ्वी पर गिरते हैं वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव गरुड़ पुराण के बांचने सुनने वालों के आंगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे ?" पोपलीला के गपोड़ों की और गरुड़ पुराण के पढ़ने और सुनने वालों पर पर्वत-शिखरों के गिरने की बातें पौराणिकों के हृदयों पर आघात करने वाली हैं तथा उक्त अंधविश्वासों में जिनकी आस्था नहीं है उनके लिए हास्यास्पद हैं। पौराणिक कथाओं की स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में अनेक स्थानों पर चर्चा की है और इसी प्रकार कठोर आलोचना की है जिससे पुराण मतावलम्बियों का रुष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है।

उक्त गद्य खंड में "पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं ?" "पर्वतवत् शरीर के बड़े बड़े हाड़ पोप जी बिना अपने घर के कहाँ धरेंगे ? "असंख्य यम के गण आवें तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिये" "वैतरणी पर गाय नहीं जाती पुनः किसका

१—"**सत्यार्थप्रकाश**", **पृष्ठ २२१**

पूँछ पकड़ कर तरेगा ?" "हाथ तो यहीं जलाया वा गाड़ दिया गया फिर पूँछ को कैसे पकड़ेगा ?" इत्यादि वाक्यांश हास्य और व्यंग से भरे हुए हैं जो पौराणिकों के हृदयों में चुभने वाले हैं। वस्तुतः ये बातें इतनी कपोलकल्पना से युक्त हैं कि यदि स्वामी जी कठोर वाक्यों का प्रयोग न करते तो उसका किंचिन्मात्र भी प्रभाव न पड़ता। जो बातें उन्हें अयुक्त एवं वेद-विरुद्ध प्रतीत हुईं उनका खंडन उन्होंने निर्भीकता से किया चाहे वह किसी उच्च पदाधिकारी और राजा-महाराजा के ही विरुद्ध क्यों न हो। स्वामी जी के इस प्रकार के समस्त खंडन-वाक्य ओज और बल से पूर्ण हैं।

(ख) बाइबिल खंडन

"३. और ईश्वर ने कहा कि पानियों के मध्य में आकाश होवे और पानियों को पानियों से विभाग करे तब ईश्वर ने आकाश को बनाया और आकाश के नीचे के पानियों को आकाश के ऊपर के पानियों से विभाग किया और ऐसा हो गया। और ईश्वर ने आकाश को स्वर्ग कहा और सांझ और विहान दूसरा दिन हुआ। पर्व १ (आ० ६) "(८)।" "समीक्षक....क्या आकाश और जल ने भी ईश्वर की बात सुन ली ? और जो जल के बीच में आकाश न होता तो जल रहता ही कहाँ ? प्रथम आयत में आकाश को सृजा था पुनः आकाश को स्वर्ग कहा तो वह सर्वव्यापक है इसलिये सर्वत्र स्वर्ग हुआ फिर ऊपर को स्वर्ग है यह कहना व्यर्थ है। जब सूर्य उत्पन्न ही नहीं हुआ था तो पुनः दिन और रात कहाँ से हो गई ऐसी असंभव बातें आगे की आयतों में भरी हैं।।३।।"[1]

उक्त आलोचना में छोटे छोटे वाक्यों में आयत की निस्सार बातों का खंडन है। वैज्ञानिक आधार पर आयत की बातें मान्य नहीं हैं। स्वामी जी ने अपने वाक्यों में इसे स्पष्ट कर दिया। वाक्य छोटे सार युक्त और व्यंगपूर्ण भी हैं उनमें शिथिलता कहीं भी लक्षित नहीं होती।

(ग) कुरान-खंडन

"९४. अल्लाह वह है कि जिसने खड़ा किया आसमान को बिना खंभे के देखते हो तुम उसको फिर ठहरा ऊपर अर्श के आज्ञा वर्तने वाला किया सूरज और चाँद को। और वही हैं जिसने बिछाया पृथ्वी को।। उतारा आसमान से पानी बस बहे नाले साथ अन्दाज अपने के अल्लाह खोलता है भोजन को वास्ते जिसके चाहे और तंग करता है। (३) सि० १३ (सू० १३) आ० २ (३) १७ (२६)।

"समीक्षक...मुसलमानों का खुदा पदार्थ विद्या कुछ भी नहीं जानता था जो जानता तो गुरुत्व न होने से आसमान को खंभे लगाने की कथा कहानी कुछ भी न लिखता यदि खुदा अर्श रूप एक स्थान में रहता है तो वह सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक नहीं हो सकता। और जो खुदा मेघविद्या जानता तो आकाश से पानी उतारा लिख पुनः यह क्यों न लिखा कि पृथ्वी से पानी ऊपर चढ़ाया इससे निश्चय हुआ कि कुरान का बनाने वाला

१—'सत्यार्थ प्रकाश' पृष्ठ ३०६

मेघ की विद्या को भी नहीं जानता था। और जो बिना अच्छे बुरे कामों के सुख दुःख देता है तो पक्षपाती अन्यायकारी निरक्षर भट्ट है ॥९४॥[1]

इस समीक्षा में "मुसलमानों का खुदा पदार्थ विद्या कुछ भी नहीं जानता था" यह वाक्य कुरान शरीफ के विरुद्ध एक चुनौती रूप में है यद्यपि इस वाक्य के लिखने का कारण भी दिया है तथापि अनुदार विचारों के मुसलमानों को यह बात चुभने वाली है अन्त में खुदा को "पक्षपाती, अन्यायकारी निरक्षरभट्ट" कहना भी कठोरता है। स्वामी जी के इन शब्दों के प्रयोग करने का एकमात्र कारण यह था कि वे कुरान शरीफ में सम्मिलित अवैज्ञानिक तथ्यों का निराकरण करना चाहते थे। उनका उद्देश्य था कि जनता धर्म के नाम पर प्रचलित तथ्यहीन, निस्सार और अवैज्ञानिक बातों को त्याग कर सर्वमान्य नियमों को ग्रहण करे। "और जो खुदा मेघविद्या जानता तो आकाश से पानी उतारा लिख पुनः यह क्यों न लिखा कि पृथ्वी से पानी ऊपर चढ़ाया" इस वाक्य में "पुनः यह क्यों न लिखा" इस वाक्य-खंड में विशेष बल है।

आक्रमणात्मक शैली

कठोर व्यंग की ही भाँति स्वामी जी ने कठोर आक्रमणात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। उन्होंने भागवत की कथाओं में विनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा से कुत्ते स्यार एवं अन्य स्त्रियों से हाथी घोड़े ऊँट वृक्षादि की उत्पत्ति को लक्ष्य कर कहा है :—

"वाह रे वाह भागवत के बनाने वाले लाल बुझक्कड़। क्या कहना तुमको, ऐसी ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई, निपट अन्धा ही बन गया। भला स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य के संयोग से मनुष्य तो बनते ही हैं परन्तु परमेश्वर की सृष्टि क्रम के विरुद्ध पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। और हाथी, ऊँट सिंह, कुत्ता, गधा और वृक्षादि का स्त्री के गर्भाशय में स्थित होने का अवकाश भी कहां हो सकता है ? और सिंह आदि उत्पन्न होकर अपने माँ-बाप को क्यों न खा गये ? और मनुष्य शरीर से पशु-पक्षी वृक्षादि का होना क्योंकर संभव हो सकता है ? धिक्कार है पोप और पोप रचित इस महा असंभव लीला को जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रक्खा है। भला इन महा झूठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर भीतर की फूटी आँखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं या अन्य कोई। इन भागवतादि पुराणों के बनाने वाले क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गए ? या जन्मते समय मर क्यों न गए ? क्योंकि इन पोपों से बचते तो आर्यावर्त देश दुःखों से बच जाता।"[2]

उक्त गद्यावतरण में भागवत के लेखक और उसके मानने वालों पर सीधा आक्रमण है। इसमें किसी व्यंग एवं अन्योक्ति का आश्रय नहीं लिया गया। सारहीन एवं अवैज्ञानिक कल्पित कथाओं को सत्य मान कर हिन्दू जाति अनेक शतियों से भ्रमित रही। स्वामी जी

१—वही, पृष्ठ ३६७. ३६८
२—सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २१५

के विचार से आर्यजाति को अज्ञान एवं अविद्या ग्रस्त करने में पुराणकार भी मुख्य कारणो में से हैं अतः उन्हें कठोर खंडन करना पड़ा ।

खंडन का उद्देश्य और शैली

उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि स्वामी जी ने खंडन करने में किसी भी धर्म के साथ नम्रता और अवाँछित शिष्टता का व्यवहार नहीं किया । जो सिद्धान्त उन्हें अनुचित प्रतीत हुए, जो बातें सारहीन जँची, जो धारणायें मनुष्य-मात्र में भ्रम और अविद्योत्पादक थीं उनका खंडन उन्होंने कठोरता से किया, चाहे वे सिद्धान्त किसी भी धर्म के क्यों न हों । धार्मिक खंडन मंडन में उन्होंने अन्योक्ति का आश्रय नहीं लिया अपितु जिस कथन का उन्हें खंडन करना था उसे स्पष्ट रूप से निर्भीकता पूर्वक किया और जो सिद्धान्त उन्हें मान्य थे उन्हें भी जनता के सम्मुख सरल और बिना हेर-फेर के रक्खा । उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है । जहाँ सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दस अध्यायों में उन्होंने विशेष रूप से उपदेश और अपना पक्ष-स्थापन किया है वहां अन्तिम चार अध्यायों में विभिन्न मतमतान्तरों की अविद्या-गाँठों को तर्क-छुरी से काट कर फेंक दिया है । इस प्रकार हिन्दी गद्य में तर्क पूर्ण भाषा लिखने का प्रथम और व्यापक प्रयास स्वामी जी ने किया । उनके हास्य और व्यंग में शिष्टता है । वह किसी के चिढ़ाने के उद्देश्य से नहीं अपितु अशिक्षित एवं अविद्याग्रस्त जनता को शिक्षित बनाने के उद्देश्य से लिखा गया है ।

———

३

आर्यसमाज का संगठन और प्रमुख संस्थाओं द्वारा हिन्दी-कार्य

स्वामी दयानन्द जी ने सर्वप्रथम बम्बई में १० अप्रैल सन् १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना की थी। उस समय आर्यसमाज के सिद्धांत और संस्था-सम्बन्धी नियम मिश्रित थे। दो वर्ष पश्चात् लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना के समय उन्होंने सिद्धान्त-सम्बन्धी दस नियम और संस्था-सम्बन्धी नियम पृथक कर दिये। पूर्व कथनानुसार आर्यसमाज के सैद्धान्तिक दस नियम सार्वभौम और अपरिवर्तनीय हैं। संस्था सम्बन्धी नियम आवश्यकतानुसार विशेष परिस्थिति में परिवर्तित किये जा सकते हैं। उन्हीं सैद्धान्तिक और संस्थागत नियमों के आधार पर आर्य समाज आज समस्त संसार में कार्य-रत है।

विभिन्न प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना

स्वामी जी के जीवन-काल में अनेक आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे परन्तु वे असंगठित रूप में थे। यद्यपि बम्बई के तृतीय नियम में आर्यसमाज के केन्द्रीकरण और सुसंगठित करने का विचार प्रस्तुत था जो स्वामी जी की दूरदर्शिता को प्रकट करता है।[1] परन्तु आर्यसमाजों का तदनुकूल संगठन उनके जीवन-काल में न हो सका। जब समाजों की संख्या अधिक बढ़ गई तो उन्हें एक संगठन-सूत्र में आवद्ध करने के हेतु प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि-सभा की स्थापना का विचार हुआ फलतः सबसे पूर्व आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की स्थापना हुई। तत्पश्चात् आर्य-प्रतिनिध-सभा संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) १८८६ ई०, राजस्थान व मालवा सन् १८८८ ई०, विहार व बंगाल १८९९ ई०, मध्य प्रदेश व विदर्भ १८९९ ई०, बम्बई सन् १९०२ ई०, सिंध सन् १९१९ ई० पुनः बंगाल व आसाम अलग सन् १९३० ई० और हैदराबाद रियासत १९३१ ई० में स्थापित हुई। इन सभाओं के अतिरिक्त विदेशों में भी आर्य-प्रतिनिधि-सभाएँ स्थापित हुईं। आर्य-प्रतिनिधि-सभा मौरिशस सन् १९२६ ई०, पूर्वी अफ्रीका सन् १९२० ई०, नैटाल (दक्षिण अफ्रीका)

१—तृतीय नियम निम्नलिखित है :

"इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा प्रशाखा होंगे।"

महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, देवेन्द्रनाथ, प्रथम भाग, पृ० ३३२

सन् १९२५ ई०, फीजी सन् १९१६, ई० में स्थापित हुई। सुरीनाम (डच गायना) और बरमा में भी आर्यसमाजों की पुनः प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हो चुकी है।

आर्य-प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब सिंध व विलोचिस्तान का संगठन आर्य-प्रतिनिधि-सभा-पंजाब से अलग है क्योंकि यह संगठन पंजाब के कालेज दल के आर्यसमाजियों द्वारा किया गया है। यह सभा सन् १८९२ ई० में स्थापित हुई थी।

सार्वदेशिक सभा की स्थापना अनेक प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं के पश्चात् हुई परन्तु स्थापित होने के पश्चात् समस्त प्रान्तीय सभायें उसके अन्तर्गत हो गईं। इस प्रकार एक केन्द्र-मंडल की स्थापना हो गई अतः उसका विशेष महत्व है। हम इन सभाओं का वर्णन स्थापन-तिथि-क्रम से न करके सार्वदेशिक सभा और तदनन्तर बड़ी प्रतिनिधि सभाओं के प्रभाव-क्षेत्र और कार्य की दृष्टि से करेंगे।

स्वामी जी द्वारा स्थापित की हुई परोपकारिणी सभा का महत्व अलग है वह सार्वदेशिक सभा के अन्तर्गत नहीं आती अतः इसका वर्णन सब के अन्त में होगा।

आर्यसमाज के अन्तर्गत सहस्रों शिक्षा-संस्थायें चल रही हैं जिनके द्वारा हिन्दी की संतोषजनक सेवा और उन्नति हुई है। समस्त उत्तर भारत में हिन्दी की प्रसिद्धि और प्रचार का श्रेय इन्हीं संस्थाओं को है। इन सब का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है अतः हम उन्हीं संस्थाओं का वर्णन करेंगे जो अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण हैं एवं जिन्होंने हिन्दी की स्तुत्य सेवा अनेक रूपों से की है।

सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा

सार्वदेशिक सभा की स्थापना और उसके उद्देश्य

इस सभा की नियमानुसार स्थापना ३१ अगस्त सन् १९०९ ई० में दिल्ली में हुई। उस समय पंजाब, संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) राजस्थान, बंगाल व बिहार, मध्यप्रदेश व विदर्भ और बम्बई प्रान्त की प्रतिनिधि सभायें इसमें सम्मिलित हुईं। प्रारम्भ में यह भारतवर्षीय आर्य-संस्थाओं की ही प्रतिनिधि सभा थी परन्तु कालान्तर में आर्यसमाज का क्षेत्र-विस्तार संसार के विभिन्न देशों में होने के कारण यह अखिल विश्व की केन्द्रीय प्रतिनिधि सभा मान ली गई और अफ्रीका, सीरिया, फीजी, ब्रिटिश और डच गायना, ट्रिनीडाड, बर्मा, बैंकोक आदि अन्य देशों की प्रतिनिधि सभायें और समाज इसमें सम्मिलित हुये।

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा की रजिस्ट्री सन् १८६० ई० के २१ वीं ऐक्ट के अनुसार २५ अगस्त सन् १९१४ ई० में हुई। इस सभा के निम्नलिखित उद्देश्यों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि सामाजिक और धार्मिक सुधारों के साथ साथ इसने हिन्दी-प्रचारार्थ कितना व्यापक, सतत और सफल प्रयत्न किया और करती रहेगी। सभा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

"(१) वैदिक धर्म के योग्य उपदेशक बनाने के लिए एक महाविद्यालय स्थापित करना।

(२) आर्यावर्त तथा अन्य देश देशान्तरों में आवश्यकतानुसार वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न करना।

(३) प्रान्तिक आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पुरुषार्थ को संयुक्त करना तथा उनके पारस्परिक विचारों और उनके विरुद्ध पुनर्निवेदनों (अपील) का अन्तिम निर्धारण करना।

(४) ऋषि दयानन्द कृत ग्रंथों की वास्तविक लिपि के अनुसार उनकी यथातथ्य रक्षा करना और इस बात पर दृष्टि रखना कि उनमें कोई भाग प्रक्षिप्त तो प्रवेश नहीं किया गया।

(५) धर्म सम्बन्धी पुस्तकों का एक बृहद् पुस्तकालय सर्व साधारण के लाभार्थ स्थापित करना।

(६) वैदिक धर्म की उन्नति तथा वृद्धि और रक्षा के उपायों को प्रयोग में लाना।"[1]

उद्देश्यों में हिन्दी-प्रचार

सार्वदेशिक सभा तथा अन्य प्रान्तीय सभाओं एवं आर्यसभाओं के कार्य तो हिंदी में होते ही हैं परन्तु उक्त उद्देश्यों में से प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और पंचम उद्देश्य हिन्दी को व्यापकता प्रदान करने वाले हैं। हिन्दी-उद्देश्यों के आधार पर आर्यसमाज के उपदेशकों ने देश के विभिन्न भागों में हिन्दी का प्रचार किया, विदेशों में प्रवासी भारतीयों में हिन्दी का संचार हुआ, स्वामी जी के ग्रंथ लाखों की संख्या में हिन्दी भाषा में मुद्रित करवा कर जनता तक पहुचाये गये और पुस्तकालय द्वारा भी साधारण जनता को हिन्दी में ही अधिक तर पुस्तकें अध्ययनार्थ दी गईं।

हिन्दी-प्रचार के प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप

उपर्युक्त उद्देश्यों को ध्यान में रख कर सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा ने जो हिन्दी की सेवा की उसे मुख्यतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम प्रत्यक्ष और द्वितीय परोक्ष। प्रत्यक्ष हिन्दी-सेवा में हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन, हिन्दी समाचार-पत्रों के प्रचलन और हिन्दी प्रचारार्थ किये गये सम्मेलनादि आते हैं। परोक्ष रूप में आर्यसंसार के वे सभी महोत्सव, आन्दोलन और प्रचार कार्य आते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य तो हिन्दी प्रचार न था परन्तु उन महान् कार्यों के लिए प्रचार-साहित्य इतनी प्रचुर मात्रा में हिन्दी में मुद्रित ओर जनता में वितरित एवं संचालित किये गये जिनके द्वारा परोक्ष रूप से हिन्दी का प्रचार हो गया। इस प्रकार के देश व्यापी आन्दोलन की ओर आर्य समाजेतर व्यक्ति आकर्षित हुये हैं और उन्होंने आर्यसमाज के दृष्टिकोण और आन्दोलन के उद्देश्यों को समझने के लिए हिन्दी का अध्ययन किया। जो अध्ययन नहीं कर सके

१—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का २७ वर्षीय इतिहास (कार्य विवरण), पृ० १४

उन्होंने दूसरों से पढ़वा कर सुना इस प्रकार हिन्दी और संस्कृत के अनेक शब्दों को उन्होंने ग्रहण किया है।

हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन

सार्वदेशिक सभा के प्रकाशन-विभाग की स्थापना १७ जून सन् १९२४ ई० की सभा की प्रस्ताव-संख्या ५ के अनुसार हुई थी।[1] इस विभाग द्वारा हिन्दी की निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं :

वैदिक संध्या रहस्य, दयानन्द-जन्म-शताब्दी मथुरा वृत्तान्त, विदेशों में आर्यसमाज यम पितृ परिचय, आर्यसिद्धान्तविमर्श, दयानन्द सिद्धान्त भास्कर, वेदों में असित शब्द।

उपर्युक्त पुस्तकों के प्रकाशित करवाने के अतिरिक्त इस विभाग ने श्री मद्दयानन्द-जन्म-शताब्दी सभा मथुरा द्वारा प्रकाशित उन समस्त ग्रन्थों को अपने अधिकार में ले लिया जो शताब्दी महोत्सव पर बिकने से बच गये थे। इनमें 'श्री मद्दयानन्द-ग्रन्थ-माला' के अतिरिक्त 'वैदिक सिद्धान्त' 'भजन भास्कर' 'आर्य समाज क्या है' 'पर्व पद्धति' 'प्राणायाम विधि' भी हैं।

समाचार-पत्र

सार्वदेशिक सभा की ओर से हिन्दी का केवल एक ही मासिक पत्र 'सार्वदेशिक नाम का निकलता है। यह पत्र सन् १९२७ ई० से संचालित हुआ है। सभा इस पत्र को घाटा उठा कर भी प्रकाशित कर रही है।

हिन्दी-सम्मेलन

यद्यपि केवल हिंदी के ही प्रचारार्थ सार्वदेशिक सभा की ओर से कोई सम्मेलन नहीं हुआ किन्तु सभा के तत्वावधान में होने वाले दयानन्द-जन्म-शताब्दी और दयानन्द-निर्माण-अर्ध शताब्दी के महोत्सवों में अन्य सम्मेलनों के साथ क्रमशः कवि-सम्मेलन और हिंदी-सम्मेलन भी हुये हैं।

परोक्ष रूप से हिन्दी सेवा

आर्यसमाज की अनेक बार परीक्षा हुई है और उसे अत्यन्त प्रबल शक्तियों के विरुद्ध अनेक आन्दोलनों का संचालन करना पड़ा। इस प्रकार के आन्दोलनों में निजाम के विरुद्ध मौलिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये हैदराबाद का सत्याग्रह और सत्यार्थ-प्रकाश की जब्ती के निराकरणार्थ कराची में किया गया सत्याग्रह अत्यन्त प्रसिद्ध है। हैदराबाद के सत्याग्रह के दिनों में प्रतिदिन सार्वदेशिक सभा की ओर से सत्याग्रह की प्रगति और सूचनाओं के सम्बन्ध में विज्ञप्ति प्रकाशित होती थी। हिंदी की यह विज्ञप्ति देश के प्रत्येक भाग में नवीन और प्रामाणिक सत्याग्रह सम्बन्धी समाचार जनता को पहुँचाती

१—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का २७ वर्षीय इतिहास, कार्य विवरण, पृष्ठ ११८

थी। उन दिनों साधारण हिंदू जनता विशेष रूप से इन विज्ञप्तियों को पढ़ने के लिए उत्सुक रहती थी क्योंकि यह समस्त भारत का तत्कालीन प्रमुख आन्दोलन था।

सत्यार्थप्रकाश की जब्ती के विरुद्ध किये गये आन्दोलन का भी अच्छा प्रचार हुआ। आन्दोलन के संगठन और प्रचार के लिए तो हिंदी में पर्याप्त मात्रा में लिखा गया परन्तु इस महत्व पूर्ण ग्रंथ की जब्ती के कारण जनता के पढ़ने की उत्सुकता जगी और इस प्रकार सहस्त्रों प्रतियाँ अति शीघ्र बिक गईं। कितने ही लोगों ने सत्यार्थप्रकाश पढ़ने के लिए हिंदी सीखी।

आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब

स्थापना

आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब की स्थापना सन् १८८५ ई० में हुई थी। इसका कार्यालय गुरुदत्त भवन लाहौर में था परन्तु पाकिस्तान निर्माण के पश्चात् सभा की अत्यन्त हानि हुई। आजकल इसका कार्यालय गुरुदत्त भवन जालंधर नगर में है। इस सभा के अन्तर्गत लगभग ७०० आर्य समाज हैं जिनमें ५०० समाज अच्छी दशा में हैं। सभा की निम्नलिखित संस्थाओं द्वारा भी हिंदी-प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है।

आर्य-विद्या-सभा

इसके आधीन प्रतिनिधि-सभा के गुरुकुल, गुरुकुल कांगड़ी और कन्या-गुरुकुल आदि संस्थायें हैं। जिनका वर्णन अन्यत्र होगा।

पंजाब वैदिक पुस्तकालय

लाहौर स्थिति-काल में इस पुस्तकालय में सन् १९४०–४१ में १६४८३ पुस्तकें थीं इसके अतिरिक्त वाचनालय में ६ दैनिक, १९ साप्ताहिक, १८ मासिक, ४ त्रैमासिक और एक चौमासिक पत्र आते थे।

चमूपति साहित्य विभाग

इस विभाग के अन्तर्गत "चमूदेवता" "वैदिक रथ" "महिष देवता" निसक्त का मूल वेद में" आदि ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं। वैदिक कोष भी कई भागों में छपा है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में (१) वानर और राक्षस मनुष्य थे ? (२) ऋषि दयानन्द के उपकार आदि ट्रैक्ट (लघु पुस्तिकायें) भी छप चुके हैं।

दयानन्द उपदेशक-विद्यालय, आर्य विद्यार्थी आश्रम गुरुकुल वेट सोहनी, दयानन्द मथुरादास कालेज मोगा, डी० ए० वी० हाई स्कूल मांटगोमरी आदि शिक्षा संस्थाओं द्वारा भी हिन्दी का कार्य होता रहा है।

प्रतिनिधि-सभा द्वारा हिंदी अपनाने का प्रयत्न

पंजाब उर्दू-प्रधान प्रान्त है अतः वहां के हिन्दू भी हिन्दी न पढ़कर उर्दू ही पढ़ते रहे हैं, आर्यसमाज के विस्तार से यद्यपि हिन्दी का कुछ प्रचार हुआ परन्तु बहुत दिनों तक समाज की कार्यवाहियां और रजिस्टर आदि उर्दू में ही लिखे जाते रहे। इसमें अकस्मात्

परिवर्तन हुआ । सन् १९०८ ई० से सभा की कार्यवाही डा० चिरंजीव भारद्वाज के आने से हिन्दी में लिखी जाने लगी । "उन्होंने आते ही इस कार्यवाही का उल्लेख केवल हिन्दी में करना आरंभ कर दिया । उर्दू लिपि दांई से बांई ओर को लिखी जाती है और नागरी इसके विपरीत बांई से दांई ओर को । इन वर्षों के रजिस्टर में यह विचित्र बात देखने में आती है कि अक्टूबर १९०८ से पूर्व की कार्यवाही उर्दू में होने के कारण, इससे आगे की नागरी में लिखी हुई कार्यवाही के पृष्ठों का क्रम भी दाँई से बांई ओर को चलता है ।"[१]

उन दिनों हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का अभाव तो था ही अतः अंगरेजी और उर्दू शब्दों के स्थान पर हिन्दी-शब्दों के गढ़ने की भी प्रवृत्ति स्वभावतः होना ही चाहिये अतः "प्रारम्भ में शब्द गढ़ने का रोचक प्रयत्न दृष्टि गोचर होता है । Nonvating को असंगत, वैनामा को व्ययनामा, प्रतिनिधि को स्थानापन्न, जिम्मेदारी को अनुयोगाधीनता, निरीक्षण को अधीक्षण, इस वर्ष को वर्तमानाब्द, सम्मेलन को संवाद, संमति को मति, नियुक्ति को नियति । ये भारी भर्कम परिभाषायें सभा के उस समय के प्रबन्धकों के परिश्रम के प्रमाण हैं । वे शब्द बनाते भी हैं, लिखते भी । धीरे-धीरे इस भाषा में संशोधन होता है और अंत में वर्तमान मुहावरे ही का प्रयोग होने लगता है ।"[२]

उर्दू और अंगरेजी के स्थान पर हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों के गढ़ने का प्रयत्न निस्संदेह प्रशंसनीय है परन्तु हिन्दी के कुछ पूर्व प्रचलित शब्दों को भी परिवर्तित कर देना उचित प्रतीत नहीं होता, प्रतिनिधि को स्थानापन्न, निरीक्षण को अधीक्षण, सम्मेलन को संवाद, संमति को मति और नियुक्ति को नियति कहना शब्दों के साथ बल प्रयोग करना है । इस प्रकार के गढ़न से भावों की हत्या के साथ ही हिन्दी पठित जनता को भी धोखे में रखना है । संभव है इन शब्दों के रचयिता नवीन शब्द गढ़ने का श्रेय लेना चाहते हों ।

आर्यप्रतिनिधि-सभा उत्तर प्रदेश

स्थापना

आर्य-प्रतिनिधि-सभा उत्तर प्रदेश की स्थापना २९ दिसम्बर सन् १८८६ ई० में हुई । इस समय इसका मुख्य और स्थायी कार्यालय नारायण स्वामी भवन, ५ मीरावाई मार्ग लखनऊ है ।

सभा के उद्देश्य और हिन्दी

सभा के उद्देश्यों को देखने से प्रतीत होता है कि उसमें हिंदी सेवा भाव कहाँ तक सन्निहित हैं । उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(१) वेद वेदांग तथा प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के पढ़ाने तथा आर्योपदेशक बनाने के लिए विद्यालय स्थापित करना ।

१—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास, पृष्ठ ३२२-३२३

२—वही, पृष्ठ ३२३

(२) सर्वसाधारण के उपकारार्थ धर्म और पदार्थ-विद्या सम्बन्धी तथा अन्य पुस्तकों का पुस्तकालय नियत करना।

(३) छोटी बड़ी पुस्तकें वैदिक शिक्षा के प्रचारार्थ प्रकाशित करना।

(४) संयुक्त प्रान्त आगरा और अवध तथा अन्य स्थानों में उपदेश करना और कराना।

(५) आर्यावर्त के अनाथ और दीनों के पालन, पोषण, शिक्षा और सुधारार्थ उपयुक्त प्रबन्ध करना।

(६) सामान्य प्रकार के वैदिक धर्म के प्रचारार्थ उपयुक्त उपायों को काम में लाना।"[1]

इन उद्देश्यों में से साधारणतया सभी और विशेष रूप से प्रथम तीन उद्देश्य हिन्दी प्रचार से सम्बन्धित हैं। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के हेतु सभा ने अनेक विद्वानों एवं समितियों के निरीक्षण में गुरुकुल, विद्यालय, महाविद्यालय आदि की स्थापना की है। जिनमें हिन्दी-माध्यम से शिक्षा दी जाती है। द्वितीय-उद्देश्य को दृष्टि में रखकर आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यालय एवं अधिकांश आर्यसमाजों के अन्तर्गत पुस्तकालय खुले हुये हैं। इन पुस्तकालयों में हिन्दी की ही पुस्तकें अधिक संख्या में हैं। प्रतिनिधि सभा ने तृतीय उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर अनेक छोटी बड़ी पुस्तकें प्रकाशित करवाई हैं। इस प्रान्त में विद्वान् उपदेशक हिन्दी में ही प्रचार और उपदेश देकर चतुर्थ और षष्ठ उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

अन्तर्गत संस्थायें

इस सभा के अंतर्गत लगभग ५८० आर्यसमाज हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी संस्थायें हैं जिनके द्वारा हिन्दी की सेवा किसी न किसी रूप में हो रही है। इस प्रान्त में वृन्दावन ज्वालापुर सिकन्दराबाद, विरालसी, डौरली, आर्थाला, बदायूं, अयोध्या, गोरखपुर, देवरिया, हापुड़, मेरठ आदि स्थानों पर गुरुकुल सुचारु से चल रहे हैं, जिनमें वृन्दावन और ज्वालापुर के गुरुकुल अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कानपुर, देहरादून, बनारस, लखनऊ, अनूप शहर और मेरठ में डी० ए० वी० कालेज हैं। इसके अतिरिक्त डी० ए० वी० हाई स्कूल, कन्या पाठशालायें, संस्कृत पाठशालायें, अनाथालय विधवाश्रम एवं अन्य संस्थायें भी हैं।

वेद-प्रचार कार्य के लिये समस्त प्रान्त बारह मंडलों में वंटा हुआ है। प्रत्येक मंडल का एक मंडलाधीश है उनके पास सभा का एक प्रचारक भेज दिया जाता है जिससे वेद-प्रचार का कार्य सम्यग् प्रकार चलता रहता है। प्रत्येक वर्ष रक्षाबन्धन से लेकर जन्माष्टमी तक उत्तर प्रदेश के लगभग सभी समाज वेद-प्रचार-सप्ताह मनाते हैं। इस अवसर वेदों की कथायें और विद्वानों के व्याख्यान वेद-विषय पर होते हैं। प्रचार-कार्य सब हिन्दी में होता है। इस प्रकार लाखों व्यक्ति वेद-सम्बन्धी व्यांख्यान के साथ साथ वैदिक साहित्य का भी हिंदी में अवलोकन करते हैं। जनसाधारण के लिए आर्यसमाज का कोई कार्य केवल संस्कृत

---

१. वैदिक वैजयन्ती (सभा के २५ वर्षों की रिपोर्ट), पृष्ठ १६०

अथवा अन्य भाषा में नहीं होता। जनता को वेद-शास्त्र एवं अन्य संस्कृत ग्रंथों का सार हिन्दी के माध्यम से ही दिया जाता है।

प्रकाशन-विभाग और पुस्तकें

इस सभा के अन्तर्गत एक प्रकाशन-विभाग भी है जिसमें अनेक लघु पुस्तिकायें (ट्रेक्ट) अन्य पुस्तक और विज्ञप्तियां हिन्दी में छप चुकी हैं और बहुधा मुद्रित होती रहती है। सन्ध्योपासन, मानवधर्म, ईश्वर की सत्ता, ईसाई मत परीक्षा, ईश्वर भक्त, सत्यप्रकाश, आर्यसमाज क्या है, वर्ण-व्यवस्था, गंगा-महात्म्य आदि कुछ मुद्रित लघु पुस्ताओं के नाम हैं।

प्रेस और समाचार पत्र

हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से इस सभा के पास एक अमूल्य सम्पत्ति है। यह "आर्य भास्कर प्रेस है जिसे पं० भगवान दीन जी ने सभा को दान दिया था। यह प्रेस मुरादाबाद और आगरा में रहकर लखनऊ में स्थायी रूप से आ गया है। सभा के प्रस्ताव, विज्ञप्तियाँ पुस्तक, विज्ञापन, वार्षिक विवरण आदि इसी प्रेस में छपते हैं। उत्तर प्रदेशीय प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र 'आर्यमित्र' है। यह लगभग ५५ वर्षों से हिंदी में जनता की सेवा कर रहा है।

आर्य समाजस्थ व्यक्तियों को हिन्दी से सुपरिचित कराने और आर्यभाषा को सार्वजनिक बनाने के विचार से सन् ९८९४ ई० से ही सभा की कार्य-भाषा हिन्दी हो गई। तत्कालीन सभा के रजिस्टर में यह बात अंकित है कि "नागरी लिपि में सभा की कार्यवाही लिखी जावे" [1]

आर्य-प्रतिनिधि-सभा-राजस्थान व मालवा

स्थापना

इस सभा की स्थापना सन् १८८८ ई० में अजमेर में हुई थी। इसकी रजिस्ट्री १३ अक्टूबर सन् १८९६ ई० में हुई। आजकल इस सभा का प्रधान कार्यालय आर्यसमाज किशनपोल बाजार जयपुर में है।

संस्थायें और हिंदी

राजस्थान की इस केन्द्रीय संस्था से लगभग २०५ आर्यसनाज संबंधित हैं। अनेक शिक्षा-संस्थायें भी सभा के अन्तर्गत हैं जिनके द्वारा हिन्दी का प्रसार हो रहा है। इनमें गुरुकुल चित्तौड़ के अतिरिक्त कन्या पाठशालायें, वनिता-आश्रम अजमेर और अनाथालय अजमेर और मुरार (ग्वालियर) में हैं।

इस सभा का मुखपत्र आर्य मार्तन्ड है जो वर्षों से हिन्दी की सेवा कर रहा है।

१— वैदिक वैजयन्ती (सभा के २५ वर्षों की रिपोर्ट) पृष्ठ ६१

आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार

स्थापना

पहले बिहार और बंगाल की संयुक्त आर्य प्रतिनिधि सभा थी। इसकी स्थापना सन् १८९९ ई० में हुई थी। इसका कार्यालय दानापुर, पटना, रांची और कलकत्ता में रहा। कार्यालय के कलकत्ता स्थानान्तरण से बिहार प्रान्त का कार्य कुछ शिथिल हो गया। बिहार में आर्यसमाजों की संख्या बढ़ जाने से यहाँ के आर्यों ने २९ मार्च सन् १९२६ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार की स्थापना की जिसकी रजिस्ट्री ८ मई सन् १९२६ ई० को हो गई। सभा का मुख्य कार्यालय 'मुनीश्वरानन्द भवन' बांकीपुर में है।

संस्थायें

इस सभा के अन्तर्गत १५८ आर्यसमाज हैं। वैद्यनाथधाम, हरजानपुर, ब्रह्मचर्याश्रम देवघर, आरा और शाहाबाद में गुरुकुल चल रहे हैं। मुस्तफापुर पटना में वेदरत्न विद्यालय और दानापुर, मुंगेर, मोतीहारी में अनाथालय हैं। सीवान (सारन) में डी० ए० वी० कालेज तथा अन्य अनेक स्थानों पर डी० ए० वी० हाई स्कूल और प्राइमरी एवं संस्कृत पाठशालायें भी इस सभा के अन्तर्गत हैं।

हिन्दी-प्रचार के अन्य उपाय

संस्थाओं द्वारा हिन्दी-प्रचार करने के अतिरिक्त यहाँ की सभा ने अन्य उपायों से हिन्दी की उन्नति करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उपदेशक और भजनोपदेशक न केवल ग्रामों और नगरों में ही जाकर प्रचार करते हैं अपितु छोटा नागपुर, संथाल परगना जैसे अन्य प्रदेशों में जाकर संथाल, भील, उरांव, डों आदि जंगली जातियों के मध्य भी प्रचार करते हैं। सिहः मेला, आरा और राजगृह के मेलों के अतिरिक्त भारत प्रसिद्ध हरिहर-क्षेत्र के मेले में १० दिनों तक प्रति वर्ष निरन्तर प्रचार होता है। हिन्दी-भाषण और भजनों के साथ ही लघु पुस्तिकायें (ट्रैक्ट) और विज्ञापनादि हिन्दी में वितरित किये जाते हैं।

"मुनीश्वरानन्द भवन" में आर्यकुमार सभा का एक पुस्तकालय भी है जिसमें हिन्दी की पुस्तकें हैं।

प्रकाशन विभाग

प्रकाशन एवं प्रचार-विभाग द्वारा प्रति तीसरे महीने सभा की ओर से एक पत्रिका निकलती है और समयानुसार विज्ञप्तियाँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ

स्थापना

इस सभा की स्थापना २७ दिसम्बर सन् १८९९ ई० को और रजिस्ट्री २९ मार्च सन् १९०७ ई० को हुई। इसका कार्यालय नरसिंहपुर और जबलपुर रहने के पश्चात सन् १९३४ ई० से सदर बाजार नागपुर में है।

संस्थायें और हिन्दी

इस सभा के अन्तर्गत १२५ आर्यसमाज है। शिक्षा संस्थाओं में गुरुकुल होशंगाबाद और डी० ए० वी० स्कूल नागपुर है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त हिन्दी-प्रचार के दूसरे साधन उपदेशक और भजनीक हैं जो हिन्दी में प्रचार-कार्य करते रहते हैं। मासिक पत्र "आर्य सेवक" इस प्रदेश की प्रतिनिधि सभा का मुख्य पत्र है।

आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई प्रदेश

स्थापना

बम्बई प्रदेशीय प्रतिनिधि सभा की स्थापना ३० दिसम्बर सन् १९०२ में हुई। इसका कार्यालय आर्यसमाज मन्दिर काकड़वाड़ी बम्बई ४ में है। सभा के अन्तर्गत ६२ आर्यसमाज हैं जिनमें ३९ आर्यसमाज अच्छी दशा में है और कार्य-रत हैं।

हिन्दी-कार्य

यहाँ की प्रतिनिधि सभा द्वारा हिन्दी-प्रचारार्थ कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। इस अहिन्दी प्रान्त में सभा का मुख पत्र 'आर्य प्रकाश' गुजराती भाषा में निकलता है। हिन्दी-प्रचार केवल सभा के उपदेशकों और भजनीकों द्वारा होता है जो अपने भाषणादि हिन्दी में ही देते हैं। अन्य कार्य-व्यवहार भी हिन्दी में होता है। समय समय पर विज्ञप्तियों और लघु पुस्तिकाओं द्वारा भी प्रचार कार्य हिन्दी में हुआ है विशेषकर हैदराबाद सत्या-ग्रह के समय परन्तु आर्यसमाज द्वारा हिन्दी के व्यापक और स्थायी प्रचार का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल व आसाम

स्थापना

बिहार और बंगाल की संयुक्त प्रतिनिधि सभा के भिन्न होने के पश्चात इस सभा की स्थापना १५ मार्च सन् १९३० को हुई। इस सभा का मुख्य कार्यालय २४।२ कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता में है।

संस्थाएँ और हिन्दी-कार्य

इस सभा के अन्तर्गत ३०० आर्य समाज हैं। इसके अतिरिक्त आर्य विद्यालय, आर्य महाविद्यालय और आर्य कन्या विद्यालय हैं। इन विद्यालयों में हिन्दी भी पढ़ाई जाती है। सभा में २० उपदेशक भी कार्य करते हैं। आवश्यकतानुसार हिन्दी में भी विज्ञाप्तियाँ छपवा कर वितरित की गई हैं।

पत्र

सभा की संरक्षता में यद्यपि 'आर्य' पत्र बंगला भाषा में निकलता है परन्तु हिन्दी की अवहेलना नहीं की गई। सभा के पदाधिकारी श्री मिहिरचन्द जी धीमान की संरक्षता में साप्ताहिक और दैनिक 'जागृति' नियमानुसार निकलता है।

आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद स्टेट

स्थापना

हैदराबाद राज्य की प्रतिनिधि सभा ४ अप्रैल सन् १९३१ में स्थापित हुई थी। इनका कार्यालय बैगमपेठ, हैदराबाद दक्षिण है।

संस्थाएँ और हिन्दी-कार्य

सभा के अन्तर्गत १९६ आर्यसमाज हैं। एक कन्या गुरुकुल भी बैगम पेठ हैदराबाद में है। इस सभा के अधिकार में एक 'आर्य प्रिंटिंग प्रेस' शोलापुर में है जिसमें हिन्दी में विज्ञप्तियाँ और अन्य आवश्यक कार्य छपा करते हैं। सभा में ३३ उपदेशक हैं जिनके द्वारा हिन्दी में प्रचार और उपदेशादि होते रहते हैं। सभा की ओर से हिन्दी में एक साप्ताहिक पत्र 'आर्य-सन्देश' प्रकाशित होता है।

आर्य प्रतिनिधि सभा सिंध

स्थापना और हिन्दी-कार्य

इस सभा की स्थापना सन् १९१९ ई० में हुई थी। पाकिस्तान निर्माण के पूर्व इसका कार्यालय करांची सदर में था। इसके अन्तर्गतपचास आर्यसमाज और लरकाना में एक बाजीगर विद्यालय भी था। तीन वैज्ञानिक और १२ अवैतनिक उपदेशक यहाँ प्रचार कार्य करते थे। इन उपदेशकों ने अधिकतर व्याख्यान हिन्दी में दिये। हिन्दी-प्रचारार्थ उन्होंने विशेष प्रयत्न भी किया। स्वामी सर्वदानन्द जी के प्रधानत्व में होने वाले महा-सम्मेलन में 'हिन्दी सम्मेलन' भी हुआ था। सभा की ओर से एक सरस्वती पुस्तकालय शिकारपुर में था।

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, सिंध व विलोचिस्तान

स्थापना

पंजाब के कालेज विभाग के आर्यसमाजियों की इस संस्था की स्थापना १ जून सन् १८९२ ई० में हुई थी। पाकिस्तान निर्माण के पूर्व इसका कार्यालय म० हंसराज भवन, हंसराज रोड लाहौर में था इस समय जालंधर में है।

संस्थायें

प्रादेशिक सभा के अन्तर्गत लगभग १५० आर्यसमाज चल रहे हैं। ४०-५० उपदेशक और भजनोपदेशक भी कार्य करते रहते हैं। म० हंसराज वैदिक साहित्य विभाग, दयानन्द दलितोद्धार मंडल, कांगड़ा वैली वेद प्रचार ट्रस्ट सोसाइटी, दयानन्द चेरीटेवल मेडिकल मिशन, सिंध-वेद-प्रचारिणी सभा, आर्य अनाथालय मुल्तान आदि संस्थायें भी इस सभा की देख रेख में हैं।

हिन्दी-कार्य

इस सभा ने आसाम, मालावार, मध्य भारत, बिहार, दक्षिण भारत एवं देश के

अन्य विभिन्न भागों में अपने उपदेशकों को भेजकर धर्म-प्रचार का कार्य करवाया है। उपदेशकों ने दलितों का उद्धार और बिछुड़े भाइयों को शुद्ध कर वैदिक धर्मी बनाया है इन कार्यों के हेतु हिन्दी भाषण द्वारा ही उपदेशादि दिये गये। आसाम में तो विशेष रूप से हिन्दी-प्रचार किया गया जिसका वर्णन अन्यत्र होगा।

'आर्य जगत' हिन्दी में सभा का मुख्य पत्र है।

श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर

स्थापना

परोपकारिणी सभा की स्थापना स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने की थी। उदयपुर निवास-काल में जीवन की क्षण भंगुरता का विचार कर उन्होंने "स्वीकार पत्र" (वसीयत नामा) लिखने का पूर्णरूपेण निश्चय कर लिया तदनुसार फाल्गुन ५ संवत् १९३९ विक्रमी अर्थात् २७ फरवरी सन् १८८३ ई० में उन्होंने "स्वीकार पत्र" लिखकर नियमानुसार उसकी रजिस्ट्री करवा दी। पत्र का प्रारम्भिक भाग निम्न प्रकार हैं।

"मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेइस सज्जन आर्य पुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ और उसको परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अध्यक्ष बनाकर यह "स्वीकार पत्र" लिखे देता हूँ कि समय पर काम आवे।

इस सभा का नाम परोपकारिणी सभा है और निम्नलिखित तेइस महाशय इसके सभासद हैं।"[१]

इसके पश्चात् पदाधिकारियों सहित २३ सभासदों के नाम हैं। इनमें महाराणा सज्जनसिंह जी उदयपुराधीश सभापति थे तथा राजा जयकृष्णदास जी, श्री महादेव गोविंद रानाडे और पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा जैसे सुप्रसिद्ध व्यक्ति सभासदों में थे।

नियम, उद्देश्य और हिन्दी

"स्वीकार पत्र" में १४ नियमों का उल्लेख है परन्तु हिन्दी के दृष्टिकोण से इसके प्रथम नियमान्तर्गत उद्देश्यों पर ही विचार करना अभीष्ट है। नियम और उद्देश्य निम्नलिखित हैं।

(१) उक्त सभा जैसे कि मेरी जीवितावस्था में मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके निम्नलिखित परोपकार के कार्यों में लगाने का अधिकार रखती है वैसे ही मेरे पीछे अर्थात् मरने के पश्चात् भी लगाया करे।

१. वेद और वेदांगादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने कराने, पढ़ने पढ़ाने, सुनने सुनाने, छापने छपवाने आदि में।

२. वैदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक मंडली नियत करके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग आदि में।

१—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित देवेन्द्रनाथ द्वि० भाग, पृ० ३१३

३. आर्यावर्त के अनाथ और दीन जनों की शिक्षा और पालन में खर्च करे और करावे।"[१]

प्रथम दो उद्देश्यों में तो हिन्दी की सेवा स्पष्ट रूप से आ जाती है परन्तु तीसरे उद्देश्य में भी जहाँ दीन जनों की शिक्षा का प्रश्न है वहाँ निश्चय ही हिन्दी अनिवार्य है क्योंकि लगभग समस्त उत्तरी भारत में बिना हिन्दी के शिक्षा दी ही नहीं जा सकती।

स्वामी जी अपने जीवन-काल में तो वेद-वेदांगादि शास्त्रों का उपदेश समस्त भारत में मौखिक ही नहीं अपितु ग्रन्थ-प्रकाशन द्वारा भी जनसाधारण को हिन्दी में ही दिया करते थे परन्तु मृत्यु के अनन्तर परोपकारिणी सभा को अपना सर्वस्व दान कर भविष्य में भी वेद-प्रचार और जन-सेवा-कार्य हिन्दी और संस्कृत में पुस्तकादि के मुद्रण एवं उपदेश मंडल के निर्माण-योजना द्वारा सम्पन्न कर गये।

संस्थायें

परोपकारिणी सभा के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध वैदिक यंत्रालय है जिसकी स्थापना स्वामी जी के प्रयत्न से हुई थी। स्वामी जी द्वारा लिखित समस्त ग्रन्थ वहाँ मुद्रित होते हैं। इन ग्रन्थों के कितने ही संस्करण वहाँ छप चुके हैं।

दूसरी संस्था वैदिक पुस्तकालय है। इसके दो विभाग हैं। एक विभाग ग्रन्थों का प्रकाशन और विक्रय करता है। इस विभाग ने सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि के सस्ते संस्करण क्रमशः चार आने और दो आने में निकाले थे। दूसरे विभाग में संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी आदि भाषाओं के तीन सहस्र पुस्तकों का संग्रह है। प्रतिवर्ष पुस्तकों की वृद्धि होती रहती है।

परोपकारिणी सभा की ओर से सन् १९३३ ई० में श्री स्वामी दयानन्द जी की निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी मनाई गई थी। जिसमें देश-विदेश के अनेक विद्वान सम्मिलित हुये थे। स्वामी जी के ग्रन्थों का शताब्दी-संस्करण हिन्दी में एवं उनकी स्मृति में (Commemoration volume) अंग्रेजी और हिन्दी में छपवाया गया था।

भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद

स्थापना

आर्यसमाज के अन्तर्गत बालकों और नवयुवकों का एक अलग संगठन है जो आर्यकुमार सभा के नाम से प्रसिद्ध है। अधिकतर आर्यकुमार सभायें स्थानीय आर्य समाजों की संरक्षकता में काम करती हैं। भारतवर्ष की समस्त आर्यकुमार सभाओं की केन्द्रीय संस्था का नाम 'आर्यकुकार परिषद' है। परिषद का प्रारम्भ सन् १९०९ ई० के रावलपिंडी के आर्यकुमार-सम्मेलन से होता है। इसके स्थापन कर्ताओं में प्रो० सुधाकर जी, डॉ० केशवदेव शास्त्री, प्रो० सिद्धेश्वर जी और श्री बलभद्र जी हैं। इसका कार्यालय अनेक स्थानों पर रह चुका है परन्तु अब स्थायी रूप से आर्यसमाज दीवान हाल दिल्ली में है।

१—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, पृ० ३१४

उद्देश्य और हिन्दी-कार्य

परिषद के अन्तर्गत समस्त भारतवर्ष में इस समय सैंकड़ों आर्यकुमार सभायें हैं इनका मुख्य उद्देश्य "आर्य तथा अन्यकुमारों को ईश्वर, वैदिक धर्म और देश के सच्चे और क्रियाशील उपासक बनाना है।"[१] इन उद्देश्यों की पूर्ति के जो साधन हैं उनमें अनेक नियम ऐसे हैं जो हिन्दी-प्रचार से सम्बन्धित हैं। यथा—

"(७) वादानुवाद, व्याख्यान और निबन्धों द्वारा तर्क-शक्ति वक्तृता शक्ति तथा विचार-शक्ति को बढ़ाना।

(८) कुमारों में धार्मिक ग्रथों के स्वाध्याय का प्रचार तथा विद्या और विज्ञान की वृद्धि के निमित्त पुस्तकालय और वाचनालय आदि खोलना।

(११) आर्य भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करना"।[२]

इस प्रकार ग्यारहवें नियम के अतिरिक्त जो निश्चित रूप से हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार की आज्ञा देता है सातवें और आठवें नियमों द्वारा भी हिन्दी की सेवा होती है क्योंकि वाद-विवाद, व्याख्यान, निबन्ध लेखन एवं धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय आदि सब कार्य हिन्दी में ही होता है।

पत्र और साहित्य प्रकाशन

श्री डॉ० युद्धवीर सिंह जी के प्रयत्न से परिषद का एक मासिक पत्र 'आर्यकुमार' नाम से सितम्बर सन् १९२३ ई० से निकाला गया। प्रारम्भ में श्री डॉ० केशवदेव जी शास्त्री इसके सम्पादक थे। अनेक बाधाओं के कारण यह पत्र सुचारु रूप से निरन्तर न चल सका। लखनऊ से द्विमासिक रूप में प्रकाशित होने पर भी यह दो तीन अंक के पश्चात बन्द हो गया 'फिर श्री मथुरा प्रसाद जी शिवहरे वर्तमान अध्यक्ष, आर्य साहित्य मंडल अजमेर ने इसे फतहपुर से साप्ताहिक रूप में कई मास तक बड़ी शान से निकाला मगर वह कुछ मास बाद बन्द हो गया। दिल्ली से 'आर्य कुमार' पत्र कलकत्ते चला गया था और वहाँ पर श्री विश्वम्भर प्रसाद जी शर्मा ने इसे बड़ी शान के साथ साल डेढ़ साल तक निकाला। बीच में कुछ बन्द होकर फिर दिल्ली से यह पत्र निकलता रहा और जब परिषद् का दफ्तर दिल्ली से चला गया, तो पत्र बन्द हो गया, मगर फिर कानपुर से कुछ मास निकला और बन्द हो गया।"[३]

अन्य प्रकाशन में 'शहीद श्रद्धानन्द सन्यासी' 'आर्य कुमार गीता' 'आर्य कुमार स्मृति आदि प्रसिद्ध हैं।

धार्मिक परीक्षायें

हिन्दी की सेवा और नवयुवकों में वैदिक-धर्म-ज्ञान का संचार कराने के हेतु परिषद ने कुछ धार्मिक परीक्षायें प्रचलित की हैं। ये परीक्षायें लाभदायक और सफल सिद्ध हुई

१—उन्नति की ओर संपादक डॉ० युद्धवीर सिंह, पृष्ठ १४९

२—वही, पृष्ठ १५०

३—वही, पृष्ठ १३८

हैं इसके केन्द्र न केवल समस्त उत्तरी भारत में अपितु दक्षिण हैदराबाद तक में है। इन परीक्षाओं में प्रतिवर्ष लगभग १२०० परीक्षार्थी बैठते हैं ।

इस समय चार परीक्षायें (१) सिद्धांत सरोज (२) सिद्धांत रत्न (३) सिद्धांत भास्कर और (४) सिद्धांत शास्त्री प्रचलित हैं। परीक्षाओं के प्रमाण-पत्र एवं विशेष सफलता प्राप्त परीक्षार्थी को पुरस्कार मिलता है आजकल इसके संयोजक डा० सूर्यदेव जी शर्मा, आचार्य डी० ए० वी० कालेज, अजमेर है।

आर्य-समाज की शिक्षण-संस्थाओं द्वारा हिन्दी का प्रचार

भूमिका

समस्त भारतवर्ष में आर्यसमाज के अन्तर्गत आज सैकड़ों शिक्षण संस्थायें चल रही हैं। यें संस्थायें मुख्यतः दो प्रकार की हैं। प्रथम, गुरुकुल जहाँ विद्यार्थी गुरु के निरीक्षण में निश्चित अवधि तक रह कर और ब्रह्मचर्य-व्रत पालन कर भारत की प्राचीन प्रथानुसार शिक्षा प्राप्त करते हैं। द्वितीय, कालेज और स्कूल जहाँ विदेशी शासकों द्वारा संचालित शिक्षा प्रणाली द्वारा भारतीय विद्यार्थी अंग्रेजी एवं अन्य विषयों की शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन शिक्षालयों में स्वराज्य स्थापित होने के पश्चात भी कुछ समय तक अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा प्रचलित रही और कतिपय विद्यालयों में अब भी अंग्रेजी भाषा द्वारा ही शिक्षा दी जाती है।

विदेशी शासन के समाप्ति के पश्चात यद्यपि अंग्रेजी का प्रभाव उत्तरोत्तर कम हो रहा है परन्तु शिक्षा के भारतीकरण के निमित्त प्रचलित प्रणाली में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। भारत सरकार और सुप्रसिद्ध शिक्षा-विशारद इस दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु भारतीय वातावरण के अनुकूल परिवर्तन होते होते अभी पर्याप्त समय लग जायगा। वर्तमान राज्याधिकारी और शिक्षा-विज्ञ संभव है निकट भविष्य में कोई मान्य और सर्वप्रिय शिक्षा पद्धति संचालित कर सकें परन्तु गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की उपादेयता संभवतः प्रत्येक समय में बनी रहेगी। देशी और विदेशी सभी विद्वानों ने मुक्त कंठ से इस शिक्षा की प्रशंसा की है।

गुरुकुल-शिक्षा की विशेषतायें

आर्यसमाज ने अब तक राष्ट्रीय जागरण, वेद-प्रचार और हिन्दी की उन्नति का जो कुछ भी श्रेय प्राप्त किया है उसका अधिकांश गुरुकुल की देन है। महर्षि दयानन्द के जीवन का उद्देश्य, जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, आर्यभाषा (हिन्दी) का प्रसार करना भी था गुरुकुल ने इसकी जो पूर्ति की है उसकी समता भारत की अन्य कोई शिक्षा संस्था नहीं कर सकती। गुरुकुल ही एक ऐसी संस्था थी जिसने हिन्दी-माध्यम द्वारा सर्व प्रथम उच्च शिक्षा दी, हिन्दी में अनेक पारिभाषिक शब्दों की सृष्टि की, विज्ञान, कृषि, अर्थशास्त्र आदि विषयों में उस समय हिन्दी पुस्तकों की रचना की, जब अंग्रेजी शिक्षा-प्रभावित व्यक्ति हिन्दी द्वारा इन विषयों का शिक्षण असम्भव समझते थे। गुरुकुल शिक्षा की निम्नलिखित मुख्य विशेषतायें हैं :

(१) घरेलू झंझटों और नागरिक वातावरण से दूर शान्त जीवन का निर्वाह ।

(२) सह-शिक्षा के प्रभाव से दूर ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन ।

(३) हिन्दी माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा ।

(४) अन्य आधुनिक विषयों के साथ वैदिक साहित्य का अध्ययन और आर्य संस्कृति की शिक्षा ।

(५) गुरू शिष्य का निकट सम्पर्क और खान-पान एवं व्यवहार में समता ।

उक्त विशेषताओं पर विचार करने से गुरुकुल-शिक्षा की महत्ता स्पष्ट हो जाती है । यद्यपि गुरुकुलों में उक्त विशेषतायें सर्वांश में प्राप्य नहीं है क्योंकि कतिपय गुरुकुलों का वातावरण अनेक दिशा में नागरिक वातावरण के समकक्ष हो गया है परन्तु जिन आधारों पर गुरुकुल-शिक्षा प्रचलित की गई है उसकी उपादेयता से कोई इनकार नहीं कर सकता और जिन सिद्धान्तों पर गुरुकुल की आधार शिला रक्खी गई है अधिकांश में उनका पालन होता ही है विशेषकर हिन्दी द्वारा शिक्षा और हिन्दी प्रचार का कार्य गुरुकुल की अनुपम देन है । गुरुकुल द्वारा किये गये हिन्दी-कार्य के विस्तार में जाने से पूर्व गुरुकुलों के विभिन्न प्रकार और उनका इतिहास जानना आवश्यक है ।

मुख्यतः तीन प्रकार के गुरुकुल आर्य समाज में पाये जाते हैं । प्रथम वे गुरुकुल जहाँ विद्यार्थियों से केवल भोजन वस्त्रादि का व्यय लेकर उन्हें निःशुल्क शिक्षा दी जाती है और अँग्रेजी एवं विज्ञान आदि प्राचीन और अर्वाचीन सभी विषय पढ़ाये जाते हैं । द्वितीय प्रकार के गुरुकुलों में अँग्रेजी की शिक्षा नहीं दी जाती और वहाँ भोजन वस्त्रादि भी ब्रह्मचारियों को दिये जाते हैं । तृतीय प्रकार के गुरुकुल पूर्णरूपेण स्वामी जी द्वारा निर्धारित विषयों को पढ़ाते हैं ।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना

आर्यसमाज के प्रथम प्रकार के गुरुकुलों में गुरुकुल कांगड़ी और उसकी शाखाओं की गणना है । गुरुकुल-संचालन का आन्दोलन सबसे पूर्व महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी ने अपने पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' में किया । नवम्बर सन् १८९८ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साधारण अधिवेशन में गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ । एतदर्थ महात्मा मुंशीराम जी तीस सहस्र रुपया एकत्रित करने की प्रतिज्ञा कर घर से निकल गये और आठ मास पश्चात् सफलता प्राप्त कर लौटे ।

गुरुकुल का प्रारम्भ १६ मई सन् १९०० ई० में गुजरांवाला के वैदिक पाठशाला से हुआ और ४ मार्च १९०२ ई० में यह कांगड़ी नामक स्थान पर लाया गया । यहीं हरिद्वार के निकट गंगा के पवित्र तट पर हिमालय की उपत्यका में प्राचीन आर्य संस्कृति की पोषक इस संस्था का बीज अंकुरित हुआ । इस संस्था के प्रथम आचार्त श्री पं० गंगादत्त जी पश्चात् स्वामी शुद्धबोध तीर्थ जी महाराज थे ।

शिक्षा और विभिन्न परीक्षाओं का स्तर

गुरुकुल का महाविद्यालय विभाग सन् १९०७ ई० से प्रारम्भ हुआ । गुरुकुल का शिक्षाकाल १४ वर्ष का है । आयुर्वेद लेने वाले विद्यार्थियों को एक साल अधिक पढ़ना पड़ता

है। ८ वर्ष की आयु का बालक २२-२३ वर्ष की आयु में स्नातक बन कर निकलता है। अधिकारी परीक्षा, जो अन्य विश्वविद्यालयों की मैट्रीकुलेशन परीक्षा के समकक्ष है और जिसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त संस्कृत अनिवार्य रूप से पढ़ना पड़ता है, उत्तीर्ण करने के पश्चात् विद्यार्थी महाविद्यालय में प्रवेश करते हैं। महाविद्यालय के तीन भाग हैं, वेद, साधारण और आयुर्वेद महाविद्यालय। वेद महाविद्यालय में वैदिक साहित्य और विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन विशेष रूप से करना पड़ता है और साधारण महाविद्यालय में उच्च हिन्दी का साहित्यिक ज्ञान विशेष रूप से कराया जाता है। वेद, साधारण और आयुर्वेद महाविद्यालयों से निकलने वाले स्नातकों को क्रमशः वेदालंकार, विद्यालंकार और आयुर्वेदालंकार की उपाधि मिलती है। अलंकार परीक्षा को आगरा विश्वविद्यालय और कुछ प्रादेशिक सरकारों ने बी० ए० के समकक्ष मान लिया है।

अलंकार परीक्षा के पश्चात किसी एक विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने वाले स्नातक को दो वर्ष गुरुकुल में अधिक रहकर अध्ययन करने पर वाचस्पति की उपाधि मिलती है। वाचस्पति की परीक्षा में अन्य विषयों के साथ हिन्दी साहित्य भी एक विषय है।

विश्वविद्यालय का रूप

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने सन् १९२१ ई० से इसे विश्वविद्यालय का रूप दिया। उपर्युक्त तीन महाविद्यालय के अतिरिक्त यहाँ कृषि महाविद्यालय भी खुल गया है और निकट भविष्य में शिल्प महाविद्यालय के संचालन का प्रयत्न हो रहा है। गुरुकुल के अधिकारी इस प्रयत्न में भी है कि यह संस्था अन्य विश्वविद्यालयों की भाँति एक स्वीकृत विश्वविद्यालय (Chartered University) हो जाय।

हिन्दी-कार्य

इस संस्था ने हिन्दी की सेवा अनेक प्रकार से की है। इस सेवा कार्य को हम चार भागों में बाँट सकते हैं (१) स्नातकों एवं अध्यापकों द्वारा (२) अन्तर्गत संस्थाओं द्वारा (३) पुस्तक प्रकाशन द्वारा और (४) पत्र-पत्रिकाओं द्वारा।

(१) स्नातकों एवं अध्यापकों द्वारा साहित्य-सृजन

गुरुकुल के स्नातकों द्वारा की गई हिन्दी-सेवा से समस्त उत्तरी भारत प्रभावित है। विद्वान स्नातकों ने विभिन्न प्रकार से हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया। जिस समय हिन्दी शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम था और पश्चिमीय शिक्षा-प्रचार से अभिभूत विद्वान हिन्दी में पुस्तक-रचना अपना अपमान समझते थे, उस समय गुरुकुल के अध्यापकों एवं स्नातकों ने हिन्दी में विभिन्न विषयों की उत्तम पुस्तकें लिखी। वैदिक साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र दर्शन, विज्ञान आदि कितने ही विषयों की पुस्तकें स्नातकों ने लिखीं। विशिष्ट पुस्तक रचना पर दो स्नातकों को मंगलाप्रसाद पारितोषिक और एक को बंगाल हिन्दी मंडल द्वारा दो पुरस्कार विभिन्न पुस्तकों पर मिले। हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग को परिपुष्ट करने को श्रेय गुरुकुल के स्नातकों को विशेष रूप से है। पत्र-संपादन क्षेत्र में भी ये स्नातक

भारत के अनेक प्रदेशों में प्रसिद्ध पत्र पत्रिकाओं का सम्पादन कर रहे हैं। कितने ही स्नातक विश्वविद्यालय, महाविद्यालय और गुरुकुलों में अध्यापन कार्य कर रहे हैं, कितने ही प्रचारक और व्याख्याता बन कर हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। हिन्दी की गौरव-वृद्धि इन स्नातकों की प्रमुख देन है।

(२) अन्तर्गत संस्थाओं द्वारा हिंदी-कार्य

गुरुकुल की अनेक शाखायें हैं जिनमें मुख्य गुरुकुल कुरुक्षेत्र, गुरुकुल मटिंडू, गुरुकुल रामकोट, गुरुकुल झज्जर, गुरुकुल भटिंडा, गुरुकुल सूपा (सूरत), गुरुकुल वैद्यनाथ (बिहार) और गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ हैं। इन समस्त गुरुकुलों में गुरुकुल कांगड़ी की पाठ-विधि के अनुसार हिन्दी-माध्यम द्वारा ही शिक्षा होती है।

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी के अन्तर्गत एक पुस्तकालय और वाचनालय भी है। पुस्तकालय में विभिन्न भाषाओं की लगभग तीस सहस्र पुस्तकें हैं जिनमें हिन्दी-पुस्तकों की संख्या लगभग सात सहस्र है। वाचनालय में अनेक भाषाओं के समाचार पत्र और पत्रिकायें आती हैं। दैनिक साप्ताहिक और मासिक हिन्दी पत्र पत्रिकाओं की संख्या लगभग सैंतालीस हैं।

(३) पुस्तक रचना विभाग

गुरुकुल कांगड़ी और उसकी शाखाओं में प्रचलित अधिकतर पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन इस विभाग द्वारा होता है। 'आचार्य रामदेव जी द्वारा रचित भारतवर्ष का इतिहास, वेदालंकार पं० चन्द्रगुप्त रचित वृहत्तर भारत, स्वामी अभयदेव जी लिखित वैदिक विनय आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ गुरुकुल के पुस्तक-रचना-विभाग से ही प्रकाशित हुये। भौतिकी और रसायन नामक विज्ञान की हिन्दी में पुस्तकें सर्वप्रथम गुरुकुल-पुस्तक-रचना-विभाग ने प्रकाशित की हैं।[१]

सूर्यकुमारी ग्रन्थमाला

यह ग्रन्थमाला महाराजा श्री उम्मेदसिंह जी शाहपुराधीश द्वारा अपनी स्वर्गीय रानी सूर्यकुमारी देवी जी की स्मृति में प्रदत्त, ५००० रु० के स्थिर कोष से संचालित हैं। इस ग्रन्थमाला में अब तक चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं (१) योगेश्वर कृष्ण (२) सोम सरोवर (३) त्याग की भावना (४) वृहत्तर भारत।

वैदिक अनुसंधान विभाग

इस विभाग की स्थापना आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने की थी परन्तु पाकिस्तान निर्माण के पश्चात् इसे गुरुकुल कांगड़ी के अन्तर्गत रखना पड़ा। वैदिक साहित्य की शिक्षा तथा अनुसंधान के लिये इस विभाग की स्थापना की गई है। अब तक प्रकाशित ग्रंथों के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) अथर्ववेद का भाष्य (अपूर्ण) (२) शतपथ ब्राह्मण का भाष्य (अपूर्ण) (३) वेदार्थ

---

१. 'गुरुकुल पत्रिका' स्वर्ण जयंती विशेषाँक, कर्तिक २००६, पृष्ड ८

कोष, ३ भागों में (४) ब्रह्मयज्ञ, (५) देवयज्ञ, (६) शतपथ में एक पथ, (७) सोम, (८) मरुत् (९) स्वर्ग, (१९) सृमुदेवता, (११) वैदिक स्वप्न विज्ञान (प्रथम भाग), (१२) सोम सरोवर।

"श्रद्धानन्द-प्रतिष्ठान"

गुरुकुल के अधिकारियों ने "श्रद्धानन्द प्रतिष्ठान" के नाम से दस लाख की एक विस्तृत योजना बनाई है। इस योजना के पूर्णरूपेण कार्यान्वित होने में पर्याप्त समय लगेगा। सम्प्रति "प्रतिष्ठान" के अन्तर्गत अंग्रेजी-संस्कृत-हिन्दी भाषा-कोष का सम्पादन हो रहा है जिसमें पारिभाषिक शब्दों को मिलाकर लगभग पचास सहस्र शब्द होंगे।

(४) पत्र-पत्रिकायें

गुरुकुल से अनेक हिन्दी पत्र प्रकाशित हुये। सबसे प्रथम "श्रद्धा" नामक साप्ताहिक पत्र निकला जिसके सम्पादक श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी थे। इसके समाप्त होने के पश्चात् "गुरुकुल" नाम से दूसरा साप्ताहिक निकला परन्तु यह भी कुछ समय पश्चात् स्थगित हो गया। आजकल "गुरुकुल पत्रिका" मासिक रूप में प्रकाशित हो रही है। इसमें गंभीर रोचक और ज्ञानवर्धक लेख निकलते रहते हैं।

मुद्रणालय

गुरुकल में मुद्रणालय भी है जिसमें वहां की पुस्तकें आवश्यक पत्रादि एवं फार्म मुद्रित होते रहते हैं। मासिक "गुरुकुल-पत्रिका" भी यहीं छपती हैं।

गुरुकुल वृन्दावन

गुरुकुल वृन्दावन का प्रारम्भ

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के पश्चात् आर्यसमाज का दूसरा प्रसिद्ध गुरुकुल वृन्दावन का है। पंजाब में गुरुकुल स्थापित होने की चर्चा से संयुक्तप्रान्त के आर्यसमाजियों ने भी तद्वत एक गुरुकल खोलने का विचार किया। इस प्रान्त की प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल संचालनार्थ १५ अप्रैल सन् १९०० ई० को बीस सहस्र रूपया एकत्रित करने के लिए एक शिष्ट-मंडल निकाला। सन् १९०४ ई० तक कुछ धन संग्रह हुआ। इसी समय इस प्रान्त की प्रतिनिधि सभा ने पंजाब प्रतिनिधि सभा से मिलकर कुछ शर्तों पर एक ही गुरुकुल चलाना उचित समझा परन्तु समझौता न होने से वह विचार स्थगित करना पड़ा।

स्वामी दर्शनानन्द जी ने सिकन्दराबाद नामक स्थान पर एक गुरुकुल इस प्रान्त में पहले से ही स्थापित कर दिया था। इस गुरुकुल की समिति ने आर्य प्रतिनिधि सभा को यह संस्था बिना किसी प्रतिबन्ध के प्रदान करना स्वीकार किया। इस समय तक प्रतिनिधि सभा के पास बीस सहस्र से कुछ अधिक रुपये एकत्र हो चुके थे अतः सभा ने गुरुकुल अपने प्रबन्ध में ले लिया। कुछ समय के पश्चात् अस्वास्थ्यकर वातावरण और अन्य असुविधाओं के कारण गुरुकुल सिकन्दराबाद से हटा कर १७ सितम्बर सन् १९०७ ई० को फर्रुखाबाद लाया गया।

फर्रुखाबाद में भी स्थान गुरुकूल के अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ अतः अन्यत्र गुरुकुल

ले जाने का प्रयत्न होता रहा। सन् १९१३ ई० में महाराजा हाथरस (श्री राजा महेन्द्र प्रताप जी) ने बिना प्रतिबन्ध के गुरुकुल के लिए वृन्दावन में भूमि देना स्वीकार कर लिया। इससे एक बड़ी समस्या हल हो गई और गुरुकुल-कमीशन द्वारा स्थान स्वीकृत किये जाने पर १६ दिसम्बर सन् १९११ ई० को गुरुकुल वृन्दावन की भूमि पर स्थायी रूप से आ गया। यह स्थान मथुरा से पांच मील दूर महाराजा जयपुर के मन्दिर निकट यमुना तट पर है।

परीक्षायें और उनका स्तर

गुरुकुल वृन्दावन में भी कांगड़ी की ही भांति विद्यालय और महाविद्यालय विभाग हैं। विद्यालय की अन्तिम अधिकारी परीक्षा जो साधारणतः इलाहाबाद बोर्ड की हाईस्कूल एवं अन्य विश्वविद्यालयों की मैट्रीकुलेशन परीक्षा के समकक्ष है, उत्तीर्ण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी महाविद्यालय में प्रविष्ट होते हैं महाविद्यालय का अध्ययन काल चार वर्ष का है और ब्रह्मचारी को निम्नलिखित ऐच्छिक विषय में से किसी एक का अध्ययन विशेष रूप से करना पड़ता है :

(१) वेद, (२) आयुर्वेद (३) सिद्धान्त (तुलनात्मक धर्म विज्ञान) (४) तर्क, पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दर्शन (५) राजशास्त्र, इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र (६) साहित्य, संस्कृत, आर्य भाषा और अंग्रेजी।

महाविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् यहां भी स्नातकों को उसी प्रकार उपाधि मिलती है जिस प्रकार गुरुकुल काँगड़ी के स्नातकों को परन्तु यहां अलंकार के स्थान पर शिरोमणि की उपाधि स्नातक के विषयानुसार मिलती है यथा आयुर्वेद-शिरोमणि सिद्धान्त-शिरोमणि इत्यादि। आगरा विश्वविद्यालय ने शिरोमणि परीक्षा भी बी० ए० के समकक्ष मान लिया है और स्नातक शिरोमणि परीक्षा के पश्चात् उक्त विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में बैठ सकते हैं।

स्नातकों द्वारा हिन्दी-कार्य

गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक भी अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् विभिन्न प्रकार से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। अनेक स्नातकों ने उच्चकोटि की पुस्तकें लिखी हैं, कितने ही उपदेश कार्य और धर्म प्रचार में संलग्न हैं, कुछ संख्या पत्र-सम्पादकों की भी है।

गुरुकुल के अन्तर्गत हिन्दी प्रसारक संस्थायें

गुरुकुल वृन्दावन के अन्तर्गत तीन प्रमुख संस्थायें हैं जिनका उद्देश्य वैदिक साहित्य, भारतीय दर्शन तथा संस्कृत साहित्य की उच्चकोटि की पुस्तकों की विशद हिन्दी-व्याख्यायें प्रस्तुत करना है। इन संस्थाओं के नाम हैं (१) वैदिक अनुसन्धान विभाग (२) रामदास दर्शन पीठ तथा (३) श्रीधर अनुसन्धान विभाग।

वैदिक अनुसंधान विभाग (१) रामदास दर्शन पीठ (२)

(१) इस विभाग के अन्तर्गत यजुर्वेद का सरल हिन्दी-भाष्य प्रकाशित किया गया है।

(२) रामदास दर्शन-पीठ की ओर से हिन्दी कुसुमाँजलि तथा हिन्दी तर्क भाषा नामक दो उच्चकोटि के दर्शन ग्रंथ प्रस्तुत किये गये हैं। हिन्दी कुसुमांजलि श्री उदयनाचार्य के ईश्वर-सिद्ध परक कुसुमांजलि नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ की हिन्दी व्याख्या है और हिन्दी तर्क भाषा श्री केशव मिश्र की तर्क भाषा का हिन्दी रूपान्तर है।

श्रीधर-अनुसंधान-विभाग (३)

इस विभाग के अन्तर्गत तीन अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना हिन्दी में हुई है। "हिन्दी ध्वन्यालोक", "हिन्दी काव्यालंकार सूत्र" और "हिन्दी वक्रोक्ति जीवित"। इसी विभाग द्वारा "हिन्दी काव्य प्रकाश" एवं "हिन्दी अभिनव भारती" नामक दो अन्य ग्रंथ भी तैयार हो चुके हैं और शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले हैं।

रामदास दर्शन पीठ एवं श्रीधर अनुसंधान विभाग के अध्यक्ष भी आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि हैं। उक्त विभागों द्वारा निर्मित समस्त पुस्तकों के रचयिता भी वही हैं। लेखक महोदय अपनी पुस्तकों पर डालमिया, उत्तर प्रदेश एवं विन्ध्य प्रदेश शासन द्वारा अनेक पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं।

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर

स्थापना और प्रारम्भिक दशा

इस संस्था की स्थापना संवत् १९६४ में हुई। इसके संस्थापक स्वामी दर्शनानन्द जी थे। श्री बाबू सीताराम जी ने अपना उपवन और बंगला इस गुरुकुल के लिये दान कर दिया था। इसी भूमि पर यह महाविद्यालय आज भी चल रहा है। आचार्य श्री पं० गंगादत्त जी गुरुकुल कांगड़ी से इस संस्था में आ गये। उनके आगमन से इस विद्यालय की अच्छी प्रगति हुई। श्री पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, पं० पद्मसिंह जी शर्मा, पं० भीमसेन शास्त्री आदि विद्वान प्रारम्भ में यहां के आचार्य प्रबन्धक और अध्यापक रह चुके हैं। धन और विद्या के साहाय्य से यह विद्यालय उत्तरोत्तर उन्नतिशील होकर गुरुकुल महाविद्यालय का रूप धारण कर सका।

स्थान

यह महाविद्यालय ज्वालापुर स्टेशन से ६ फर्लांग की दूरी पर गंगा नहर के तट पर स्थित है। वर्तमान गुरुकुल कांगड़ी और इसकी स्थिति में विशेष अन्तर नहीं है। नहर के किनारे किनारे जाने पर गुरुकुल कांगड़ी और इस संस्था के बीच केवल कुछ खेत ही स्थित हैं।

संस्था की विशेषता

यह महाविद्यालय अंगरेजी के वातावरण से रहित है। यहाँ आते ही प्राचीन ऋषि आश्रम का साक्षात दर्शन होता है। ब्रह्मचारियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया ज़ाता और उन्हें निश्चित रह कर वेदवेदांगादि के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त होता है।

पाठ्य विषय

यहां निम्नलिखित विषयों के पढ़ने का प्रबन्ध है : ।१। सांगोपांग एक या अनेक वेद, ।२। दर्शन उपनिषदादि ।३। प्राचीन व नवीन संस्कृत व वैदिक साहित्य, ।४। हिंदी साहित्य ।५। अन्य उपयोगी प्रचलित या राजकीय भाषायें ।५। उपदेशकी और अध्यापकी के अतिरिक्त अन्य आजीविकाप्रद वैद्यक तथा कृषि आदि विद्या।

परीक्षायें और उपाधि

इस शिक्षा संस्था की उपाधि चार प्रकार की हैं। विद्याभूषण, विद्यारत्न, विद्याभास्कर और विद्या निधि। आठवीं और दसवीं श्रेणी तक शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को क्रमशः विद्याभूषण और विद्यारत्न की उपाधि मिलती है। पूर्ण रूपेण महाविद्यालय की शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विषयानुसार विद्याभास्कर अथवा आयुर्वेद भास्कर की उपाधि मिलती हैं। इसके अतिरिक्त विद्यानिधि की उपाधि उन विद्यार्थियों को दी जाती है जो नियमानुसार महाविद्यालय में प्रविष्ट नहीं हुये हैं परन्तु यथाविधि देवाश्रम में शिक्षा प्राप्त की है।

स्नातक और हिन्दी-कार्य

इस विद्यालय से अब तक सैकड़ों स्नातक निकल चुके हैं जो अनेक प्रकार से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। अध्यापक प्राध्यापक, पुस्तक लेखक उपदेशक आदि अनेक प्रकार से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रहकर स्नातकों ने साहित्य-सेवा और हिन्दी-प्रचार का कार्य किया है और कर रहे हैं।

अंतर्गत संस्थायें—पुस्तकालय

महाविद्यालय के अन्तर्गत एक बड़ा पुस्तकालय एवं वाचनालय है। पुस्तकालय में विभिन्न विषयों की छः सहस्र से अधिक पुस्तकें है। अधिकतर पुस्तकें हिन्दी और संस्कृत में ही हैं। वाचनालय में दैनिक साप्ताहिक मासिक आदि सब मिलाकर लगभग ४५ समाचार पत्र आते हैं।

विद्वतकला परिषद और आय-विद्वत-सभा

ब्रह्मचारियों की 'विद्वत्-कला-परिषद' भी है। इस सभा के अन्तर्गत संस्था के छात्र निबन्ध पाठ, वाद-विवाद और व्याख्यान द्वारा ज्ञान और वक्तृत्व-शक्ति का विकास करते हैं। 'आर्य विद्वत् सभा' में अनेक आर्य विद्वान् सम्मिलित हैं और समय समय पर गंभीर विषयों पर विचार करते रहते हैं।

उत्तरप्रदेश के अन्य गुरुकुल

उपर्युक्त गुरुकुलों के अतिरिक्त गुरुकुल सिकन्दराबाद, गुरुकुल डीरली (मेरठ), आर्य महाविद्यालय किरठल (मेरठ) गुरुकुल आर्योला (बरेली), गुरुकुल सूर्यकुंड (बदायूँ) गुरुकुल अयोध्या, गुरुकुल गोरखपुर, गुरुकुल विरालसी, आदि उत्तर प्रदेश में प्रसिद्ध हैं।

भारत के अन्य प्रान्तों के गुरुकुल

भारत के अन्य प्रान्तों में भी गुरुकुल चल रहे हैं जिनमें से प्रसिद्ध गुरुकुलों के नाम निम्नलिखित हैं :

गुरुकुल चित्तौड़, गुरुकुल वैद्यनाथ धाम (बिहार) गुरुकुल हरपुर जान सारन (बिहार) गुरुकुल होशंगाबाद (मध्यप्रदेश) गुरुकुल महाविद्यालय आर्यन रोड आणद (बम्बई) गुरुकुल सोनगढ़ (काठियावाड़) गुरुकुल अनन्तगिरि (हैदराबाद निजाम) आदि प्रसिद्ध हैं।

श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ

तीसरे प्रकार की संस्थायें अथवा गुरुकुल जो स्वामी जी द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रमानुसार शिक्षा प्रदान करते हैं श्री मद्दयानन्द विद्यापीठ के नाम से प्रसिद्ध हैं। आर्य पुस्तकों का पठन-पाठन और प्रचार इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य है। मेरठ में संयुक्तप्रान्त की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर आर्य विद्वानों ने मिलकर विद्यापीठ की स्थापना की। इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

उद्देश्य

१. ऋषि प्रदर्शित आर्ष पाठ-विधि का कार्य रूप में परिणत करना।
२. ऋषि दयानन्द के विचारों के प्रतिकूल उत्पन्न हुये वातावरण का निराकरण करके ऋषि प्रदर्षित मन्तव्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करना।
३. उनका विश्व में प्रचार करना।[1]

संस्थाओं का संगठन

उपर्युक्त उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर विद्यापीठ ने निम्नलिखित संस्थाओं को अपने आधीन संगठित किया।

१. श्री गुरुकुल चित्तौड़ २. श्री विरजानन्द वैदिक विद्यालय अजमेर ३, श्री दयानन्द वेद-विद्यालय देहली ४. श्री गुरुकुल हापुड़ ५. श्री घनश्यामदास वैदिक विद्यालय देवरिया ६. श्री गुरुकुल अहरौला बरेली।

विद्यापीठ ने ऋषि दयानन्द की आर्य-पद्धति के अनुसार वेद-वेदांगों की परीक्षायें उक्त संस्थाओं में प्रचलित की हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी जी के ग्रन्थों के संशोधित संस्करण प्रकाशित करने का भार भी इस संस्था ने अपने ऊपर लिया है।

संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान एवं वैयाकरण श्री पंडित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु काशी में विरजानन्द आश्रम[2] और उसके अन्तर्गत पाणिनि महाविद्यालय का संचालन बड़े उत्साह, लगन और परिश्रम पूर्वक कर रहे हैं।

---

१. आर्य डाइरेक्टरी, पृष्ठ ११७

२. पंडित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के एक पत्र के अनुसार विरजानन्द आश्रम के उत्थान पतन की निम्नलिखित कथा है :—

दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज और स्कूल

लगभग समस्त भारतवर्ष में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज और स्कूल फैले हुये हैं। ये शिक्षण संस्थायें आर्यसमाज की ही देखरेख में चल रही हैं। साधारणतः स्थानीय आर्यसमाज उनका प्रबन्ध करता है। आर्यसमाज के अन्तर्गत होते हुये भी इन संस्थाओं का पाठ्य-क्रम विश्वविद्यालय अथवा शिक्षा पटल (बोर्ड) विशेष के अनुसार है और ये संस्थायें भी उनके द्वारा निर्मित नियमों से संचालित होती हैं।

आर्यसमाज के अन्तर्गत होने के कारण इन संस्थाओं में हिन्दी अनिवार्य रूप से रक्खी गई है। पंजाब के शिक्षालयों में भी यही प्रयत्न किया गया है इसके अतिरिक्त इनमें से अधिकतर संस्थायें अपनी पत्रिका निकालती हैं। उन पत्रिकाओं में हिन्दी को महत्व प्रदान किया गया है। धर्म-शिक्षा द्वारा भी इन संस्थाओं में आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रचार का कार्य किया है।

"यह आश्रम सन् १९२०-२१ ई० में साधु आश्रम पुलवाली नदी पर था। पीछे यही आश्रम अमृतसर गंडासिंह वाला अमृतसर में दिसम्बर सन् १९२५ ई० तक चला। वहां से यही आश्रम काशी (कर्णघंटा भोलाशाह के बगीचे में) मार्च १९२८ ई० तक चला। वही आश्रम पुनः अमृतसर में राम भवन (दुर्ग्याना) में नवम्बर १९३१ ई० तक चला वहां से फिर दिसम्बर १९३१ से फरवरी १९३५ तक काशी रामसदन (शीतला घाट) में चलता रहा वहां से सन् १९३५ मार्च से २४ अगस्त सन् १९४७ तक लाहौर बारहदरी (शाहदरा) में रहा वहाँ से पाकिस्तान बन जाने पर लाहौर छोड़ देना पड़ा"।

सन् १९४७ के पाकिस्तान निर्माण सम्बन्धी उपद्रवों का वर्णन करते हुये जिज्ञासु जी ने लिखा है :

" ५ मार्च सन् १९४७ से पढ़ाई कुछ नहीं हुई। यह विचार था कि यदि हम भाग गये तो लाहौर की रक्षा कौन करेगा। यह पागलपन सवार था। रात मैं ८० भाले और अन्य शस्त्रों से लैस होकर पहरे देते थे और.... ....निर्माण कार्य में लगे रहते थे। यही वेदाध्ययन था विशेष स्थिति १० अगस्त से खराब हुई ११ ता० को रावी रोड में सब लकड़ी के टालों को आग लगा दी, १८ तक लाहौर खाली हो गया, पर मैं २० अगस्त तक रावी तट पर भ्रमण करने जाता रहा। २४ को निकले। बड़ी घटनायें घटीं। मृत्यु के साक्षात् दर्शन दो तीन बार हुये। ३० आलमारी बड़ी ५-५ खाने की पुस्तकों की थीं, ९० मन तो ले आये। ५०-६० मन जल गई। लगभग ढाई वर्ष बिना स्थान भटकते रहे। अन्त में ४९ के अन्त में ५० रु० मासिक किराये का मकान लेकर रह रहे हैं। विरजानन्द आश्रम चल रहा है उसके अन्तर्गत एक पाणिनि महाविद्यालय सन् ५२ से चल रहा है।"

कन्या-शिक्षण-संस्थाओं द्वारा हिन्दी-सेवा

१९ वीं शती में स्त्रियों की बड़ी दयनीय दशा थी। वे अनेक प्रकार की कुप्रथाओं में ग्रस्त थीं। अशिक्षा, बाल-विवाह, परदा, सती आदि प्रथाओं ने उनके स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध कर रक्खा था। ब्रह्म-समाज के आद्य नेता श्री राजा राममोहन राय ने अनेक विरोधों के होते हुए भी बड़ी कठिनता से सती-प्रथा के विरुद्ध कानून पास करवाया था। इस समाज के प्रयत्न से बंगाल में कुछ जागृति उत्पन्न हो चली थी परन्तु उत्तरी भारत का नारी-समाज पूर्णतया अविद्यान्धकार में लिप्त था। महर्षि दयानन्द के महान व्यक्तित्व, प्रभावशाली व्याख्यान और सतत् प्रयत्नों के फलस्वरूप उत्तरी भारत में भी जागृति की लहर फैलने लगी। स्थान स्थान पर आर्यसमाज स्थापित कर उन्होंने हिन्दू-समाज में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किया उसका विशेष प्रभाव पंजाब पर पड़ा। अतः कन्या महाविद्यालय के रूप में प्रथम आर्य स्त्री-संस्था स्थापित करने का श्रेय पंजाब को ही है।

महर्षि दयानन्द के देहावसान के पश्चात् पंजाब के आर्यसमाजियों में बड़ा भारी पारस्परिक कलह हुआ। स्वामी जी के अधूरे कार्य को पूर्ण करने के हेतु उन्होंने प्रतिज्ञा की परन्तु स्वामी जी के स्मारक और भविष्य कार्य-क्रम के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण वहाँ के आर्यसमाजियों के दो दल बन गये जो कालेज और गुरुकुल दल के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार दो विभिन्न विचार धारायें प्रवाहित हुईं। दोनों दल पृथक रूप से कालेज और गुरुकुल की स्थापना द्वारा स्वामी जी के स्मारक को चिरस्थायी बनाना चाहते थे। समयान्तर से कालेज और गुरुकुल दोनों की स्थापना हुई और बालकों की शिक्षा आर्यसमाज के अन्तर्गत दो विभिन्न शिक्षा प्रणालियों द्वारा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार बालकों की शिक्षा दिन प्रति दिन विकसित होती गई और नये नये डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुल भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में खुलने लगे।

कन्या-महाविद्यालय जालंधर

बालकों की शिक्षा का विकास समाज की एकांगी उन्नति थी। स्वामी दयानन्द जी ने बालक और बलिकाओं दोनों की पूर्ण शिक्षा का उपदेश दिया था। उनकी उत्कट इच्छा थी कि देश के युवक और युवतियाँ पूर्ण शिक्षित होकर एवं शारीरिक-मानसिक उन्नति कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करें जिससे बलिष्ठ सन्तान हो और देश का उत्थान हो। उस समय किसी का ध्यान बालिकाओं की शिक्षा की ओर नहीं गया परन्तु जालन्धर का एक कर्मयोगी स्त्री-शिक्षा की रूपरेखा पर शान्त चित्त से विचार कर रहा था। ये थे लाला देवराज जी जिन्हें आर्यसमाज की प्रथम महिला संस्था कन्या-महाविद्यालय जालंधर की स्थापना का श्रेय प्राप्त है।

कन्या-महाविद्यालय का प्रारंभिक इतिहास

लाला देवराज जी ने जालंधर आर्यसमाज के अंतर्गत एक कन्या पाठशाला खुलवाने के लिये प्रयत्न किया फलतः २६ सितम्बर सन् १८८६ ई० को अंतरंग सभा में यह प्रस्ताव

स्वीकार हुआ कि "एक जनाना स्कूल भी खोला जाये, जिसके लिये एक रुपया माहवार खर्च करना मंजूर है।"[१] यह स्कूल संतोषजनक रूप से न चल सका और आर्यसमाज ने एक रुपया मासिक सहायता भी बंद कर दी। तत्पश्चात् माता काहन देवी (लाला देवराज जी की माता) के घर पर माई लाडी दो तीन बालिकाओं को पढ़ाती रहीं। माता जी माई लाडी को १ रु० मासिक और चार रोटियाँ प्रति दिन देतीं थी। यह जनाना स्कूल था।

सन् १८८९ और १८९० में आर्यसमाज की ओर से स्कूल के लिये नियमावली बनाने और योग्य अध्यापिका प्राप्त करने के प्रयत्न हुए परन्तु असफलता रही। जनाना स्कूल का नाम परिवर्तित कर "गर्ल्स स्कूल पुनः सन् १८९१ ई० में उसी का नाम कन्या-पाठशाला रक्खा। सन् १८९२ ई० की जालन्धर आर्यसमाज की वार्षिक रिपोर्ट में लिखा है :

"आर्य कन्या पाठशाला का जो एक दिन कन्या महाविद्यालय जालंधर होगा, समाचार सुनिये। इसमें ५५ कन्यायें पढ़ती हैं एक खास बात यह भी है कि इस पाठशाला में बहुत सी ऐसी कन्यायें मिलेंगी जिन्होंने गहनों को निन्दनीय समझकर उतार दिया है" इसी रिपोर्ट में आगे चलकर लिखा है "लोगों ! हम इससे कहीं आगे बढ़ना चाहते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि अधूरी शिक्षा हमारे जीवन में आर्यत्व संचारित नहीं कर सकती इस बात को विचार कर जालन्धर समाज कन्या महाविद्यालय कायम करना चाहता है, और कायम हो भी जावेगा तुम सुनो कि विरोध की तुन्द हवा के होते हुये भी हम स्त्री-शिक्षा रूपी नौका पार ले जायेंगे।"[२]

सन् १८९५ ई० में कन्या आश्रम खुला और १५ जून १८९६ ई० से पाठशाला का नाम कन्या महाविद्यालय हो गया। १२ अक्टूबर सन् १८९८ ई० से विद्यालय के अन्तर्गत एक कन्या अनाथालय भी आ गया जो पहले आर्यसमाज के प्रबन्ध में था।

महाविद्यालय का विकास और हिन्दी-प्रचार

महाविद्यालय के अन्तर्गत कन्या-आश्रम, अनाथालय और विधवा-आश्रम के आने से इसके शिक्षा-क्षेत्र की वृद्धि हुई और उत्तरोत्तर विकास होने लगा। सन् १९१३-१४ से महाविद्यालय नगर से दो मील दूर अपनी जमीन पर अन्य संस्थाओं सहित चला गया। अतः नगर विद्यालय और महाविद्यालय दो भाग हो गये। सन् १९१८ ई० में महाविद्यालय की प्रसिद्धि केवल भारतवर्ष ही नहीं अपितु विदेशों तक हो गई और फिजी एवं अफ्रीका से भी लड़कियाँ पढ़ने के लिये आने लगीं। पंजाब और निकटवर्ती प्रान्तों में महाविद्यालय की शाखायें खुलने लगीं। हिन्दी-प्रचार का इससे अधिक ठोस कार्य और कोई नहीं हो सकता था। समस्त कन्या पाठशालाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही था। "सन् १९१८ में १०४ पाठशालाओं में महाविद्यालय की पाठविधि का अनुकरण किया जा रहा था। उन दिनों

१—'जलविद सखा' सितम्बर १९३४, पृष्ठ ७
२—वही, पृष्ठ ९

पंजाब का कोई ऐसा आर्यसमाज न था जिसने जालंधर आर्यसमाज के उदाहरण से प्रेरित होकर कन्या-पाठशाला न खोली हो। महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर जाने वाली अनेक लड़कियों ने भी अपने यहाँ पाठशालायें स्थापित कीं इन सब में महाविद्यालय की पाठ-विधि का अनुसरण कर यहाँ की ही पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। कुछ सरकारी पाठशालाओं में भी जिनमें हिन्दी पढ़ाई जाती थी, महाविद्यालय की ही पुस्तकें पाठ-विधि में रखी गईं। उस समय और पुस्तकें थीं ही कहाँ।"[१]

शिक्षा

कन्या-महाविद्यालय से अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण करने वाली बालिका को पहले स्नातिका की पदवी मिलती थी। सन् १९१४ ई० तक स्नातिका का पाठ्यक्रम संभवतः १२ वर्ष से कम था। सन् १९१८ ई० से नवीन व्यवस्थानुसार ५ श्रेणी तक सभ्या, ७ तक शिक्षिता, ९ तक दीक्षिता, १० तक उपस्नातिका और १२ तक के लिये स्नातिका का पद निश्चित किया गया था। सन् १९३२ ई० से महाविद्यालय की बालिकायें पंजाब विश्व-विद्यालय की रत्न, भूषण, प्रभाकर, प्राज्ञ आदि परीक्षाओं में भी बैठने लगीं। सन् १९३७ ई० से उक्त विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा में भी बालिकाओं के बिठाने का प्रबन्ध हो गया और अब तो स्नातिका-परीक्षा पूर्ण रूपेण समाप्त होकर केवल पंजाब विश्वविद्यालय की ही परीक्षायें रह गईं।

हिन्दी की उन्नति के अन्य कार्य

कन्या-महाविद्यालय की शिक्षा तो हिन्दी माध्यम द्वारा होती ही थी परन्तु अन्य कार्यों द्वारा भी इस संस्था ने हिन्दी की सेवा की और ऐसा ही कार्यक्रम अन्तर्गत संस्थाओं का भी था। "विद्यालय मंडली" "बाला समाज" "तर्किनी संगत" "वाग्वर्द्धिनी सभा" आदि अनेक सभायें विद्यालय में थीं जहाँ छोटी-बड़ी बालिकायें, वाद विवाद, व्याख्यान, लेख-पठन आदि द्वारा अपनी मानसिक उन्नति और हिन्दी की सेवा करती थीं।

पाठ्य पुस्तकें और लाला देवराज का प्रयत्न

सबसे महत्वपूर्ण कार्य लाला देवराज जी ने हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों को लिखकर किया। १९ वीं शती के अन्त और २० वीं शती के प्रारम्भ में हिन्दी पाठ्य पुस्तकों का न केवल पंजाब में अपितु उत्तरप्रदेश और बिहार जैसे हिन्दी-प्रान्तों में भी अभाव था। लाला जी ने बड़े उत्साह से हिन्दी लिखने का अभ्यास किया और विद्यालय के लिये हिन्दी में स्वयं ही पाठ्य पुस्तकें लिखीं। इन पाठ्य पुस्तकों की शीघ्र ही प्रसिद्धि हो गई। पंजाब और युक्तप्रान्त की सरकारों ने भी विद्यालय की अनेक पाठ्य पुस्तकें बालिकाओं के लिये स्वीकृत कीं "१९०४ में आपको पंजाब-सरकार की ओर से आपके बाल-साहित्य के लिये २०० रुपया पारितोषिक दिया गया।"[२] उसकी पुस्तकों में किसी किसी पुस्तक के ११, १२, १६, २० और २७ संस्करण तक छप चुके हैं।

१—'लाला देवराज' ले० सत्यदेव विद्यालंकार, पृष्ठ १५६
२—वही, पृष्ठ २५२

"पाठशाला की कन्या", "पहली पाठावली" "दूसरी पाठावली", "सुबोध कन्या", "अक्षर दीपिका", "शब्दावली", "बालविनय", "पत्र कौमुदी", "कथा विधि", "बालोद्यान संगीत", "संत वाणी", "ऐतिहासिक दृश्य माला", दान मीमांसा, "मायाधारी", उनकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम हैं। लाला जी ने कुल मिलाकर लगभग चार दर्जन पुस्तकें लिखीं हैं।

प्रारम्भिक अवस्था में जब हिन्दी में पाठ्य पुस्तकों का नितान्ताभाव था कोई भी चतुर व्यक्ति इन पुस्तकों को लिखकर अच्छा धन-संग्रह कर सकता था परन्तु लाला जी की तो एकमात्र अभिलाषा हिन्दी-प्रसार और स्त्री-शिक्षा की उन्नति थी। हिन्दी के प्रति प्रेम और उसकी उन्नति के प्रयत्नों की एक झलक उनकी "पाठशाला की कन्या" नामक पुस्तक के द्वितीय संस्करण की भूमिका से मिलती है। उन्होंने लिखा है "यह पुस्तक हिन्दी जगत के प्रति मेरी पहली तुच्छ भेंट थी। इसके अनन्तर मुझे पहले की अपेक्षा हिन्दी लिखने का उत्तरोत्तर अधिक अभ्यास सा हो गया और मैंने "अक्षर दीपिका" "सुबोध कन्या" "सावित्री नाटक" "पत्र कौमुदी" आदि कई पुस्तकें रचीं। खेद हैं कि मैं उत्तम हिन्दी लिखना नहीं जानता और न हम पंजाबी युक्त प्रान्तीय भाइयों की तरह उत्तम हिन्दी लिखने का दावा ही कर सकते हैं परन्तु पुस्तक के भाव कन्याओं के लिये उपयोगी और शिक्षा-प्रद हैं, जिनसे उन्हें लाभ पहुँचा और पहुँच रहा है। इसलिये भाषा की त्रुटि की ओर ध्यान न देकर मैं इसी में प्रसन्न हूँ और सन्तुष्ट हूँ कि मेरा परिश्रम सफल हुआ और हो रहा है।"[1]

वास्तव में हिन्दी के विषय में ये लाला जी के सच्चे भाव हैं। उनके गद्य और पद्य-लेख की हिन्दी यद्यपि उच्चकोटि की नहीं है परन्तु वे हृदय के भावों से ओत-प्रोत हैं। पंजाब में हिन्दी की नींव जमाने में लाला जी का यह प्रयत्न सहस्र-मुख से स्तुत्य है।

पत्र-पत्रिकायें

इस विद्यालय से सब से प्रथम सन् १८९७ ई० में "पांचाल पंडिता" नामक एक मासिक पत्रिका लाला देवराज और लाला बद्रीदास जी के सम्पादकत्व में निकली। दूसरी पत्रिका "भारती" पं० संतराम जी के सम्पादकत्व में सन् १९२० ई० में निकली और तीसरी "जलविद सखा" सन् १९२२ ई० से चल रही है। आजकल इसकी सम्पादिका कुमारी शकुंतला देवी जी हैं। पत्रों का विशेष विवरण "आर्य समाज की पत्र-पत्रिकाओं" के अध्ययन में देखिये।

कन्या-महाविद्यालय का वर्तमान रूप

कन्या महा विद्यालय यद्यपि गुरुकुल-दल वालों के प्रभाव में प्रारम्भ से ही रहा परन्तु यह पूर्ण रूपेण गुरुकुल के आदर्शों पर न चल कर मध्य मार्गानुगामी रहा है। इसके विषय में ट्रिब्यून के निम्नलिखित शब्द हैं:—

The Kanya Maha vidyalaya is a happy reconciliation of the two opposed ideals and perspectives in education.

१:—"देवराज" ले० सत्यदेव विद्यालंकार, पृष्ठ २५०-२५१

placing due emphasis on both religious instruction and Sanskrit, it has imbibed the spirit of the western system of learning. And, what is more, throughout its eventful career it kept Hindi as the medium of instruction and, by so doing, popularised Hindi in state which was hitherto supposed to be the citadel cf Urdu."[1]

अर्थात् "कन्या महाविद्यालय शिक्षा के दो विरोधी आदर्शों और रूपों का सफल समन्वय है। धार्मिक शिक्षा और संस्कृत पर विशेष ध्यान देते हुये इसने पश्चिमी शिक्षा प्रणाली के भावों को अपनाया और अपने घटना-प्रधान-जीवन में हिन्दी को ही शिक्षा माध्यम रक्खा। इस प्रकार ऐसे प्रदेश में हिन्दी की प्रसिद्धि की जो अब तक उर्दू का गढ़ समझा जाता था।"

वास्तव में महाविद्यालय में अपनी प्रचलित की हुई परीक्षाओं का अब कोई अस्तित्व न रहा और उसने अपनी मौलिकता खो दी। पंजाब विश्वविद्यालय से सम्बन्धित होने के कारण अब वहां मैट्रिक, इंटर, बी० ए०, एम० ए० आदि की परीक्षायें दिलाई जाती हैं। अब इसे डी० ए० वी० कालेज का ही एक रूप समझना चाहिए।

कन्या गुरुकुल देहरादून

स्थापना

कन्या गुरुकुल की स्थापना ८ नवम्बर सन् १९२३ ई० को दीपावली के दिन दिल्ली में हुई थी। लगभग ४ वर्ष दरियागंज दिल्ली की किराये की कोठी में रहने के पश्चात् वहाँ का वातावरण और जलवायु अनुकूल न होने से यह संस्था १ मई सन् १९२७ ई० से देहरादून आ गई। देहरादून में कन्या-गुरुकुल की स्थिति बड़े स्वास्थ्यप्रद और रमणीक स्थान पर है। ७० बीघा की विस्तृत भूमि में गुरुकुल के आश्रम, भोजनालय, गोशाला, विद्यालय, अस्पताल आदि के भवन निर्मित हैं। गुरुकुल कांगड़ी और कन्या गुरुकुल दोनों संस्थायें आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के ही अन्तर्गत है। अतः दोनों के कुलपति और प्रस्तोता एक ही हैं।

पाठ्य क्रम

गुरुकुल कांगड़ी और कन्या गुरुकुल के उद्देश्य लगभग एक से ही हैं अन्तर केवल इतना है कि कन्या गुरुकुल में कुछ शिक्षा कन्याओं की दृष्टि से दी जाती है जिसमें कला-कौशल, संगीत और गृह-विज्ञान भी सम्मिलित हैं। समस्त पाठ्यक्रम १२ वर्ष का है जिसमें ९ वर्ष विद्यालय विभाग में और ३ वर्ष महाविद्यालय विभाग में व्यतीत करना पड़ता है। महाविद्यालय की पढ़ाई पूर्ण करने पर 'विद्यालंकृता' की उपाधि मिलती है। यह उपाधि आधुनिक विश्वविद्यालयों के बी० ए० के समान है।

---

1. The Tribune Sept. 26, 1952, Page 7

हिन्दी-कार्य

कन्या गुरुकुल का समस्त कार्य हिन्दी में होता है संस्कृत की शिक्षा पंजाब विश्व-विद्यालय के शास्त्री परीक्षा के लगभग समान है अतः संस्कृत की आधार-शिला पर हिन्दी की नींव भी दृढ़ होकर बालिकाओं को हिन्दी का परिपक्व ज्ञान हो जाता है। इस गुरुकुल की शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही है अतः समस्त विषय सरलता से हृदयंगम हो जाते हैं। इसीलिए गुरुकुल अधिकारियों का कथन है कि वे अन्य विश्वविद्यालयों का १४ वर्ष का पाठ्यक्रम १२ वर्ष में ही पूर्ण कर लेते हैं।

पत्र-पत्रिकायें

इस संस्था की आचार्या द्वारा संपादित 'ज्योति' नाम की एक मासिक पत्रिका निकलती थी। इसका नवम्बर दिसम्बर सन् १९२८ का सम्मिलित अंक देखने को मिला इससे ज्ञात हुआ कि यह पत्रिका पिछले ९ वर्ष अर्थात सन् १९१९ ई० से चल रही है। यह निश्चित है कि यह पत्रिका कन्या गुरुकुल से नहीं निकली क्योंकि संस्था की स्थापना १९२३ ई० में हुई। पत्रिका संभवतः गुरुकुल कांगड़ी से निकलती होगी और पश्चात कन्या गुरुकुल की आचार्या विद्यावती जी सेठ इसकी सम्पादिका हो गईं उक्त अंक में सम्पादिका ने 'ज्योति' में नवजीवन संचार करने की घोषणा की है जिससे प्रतीत होता है कि पत्रिका की दशा अच्छी नहीं थी और अनुमानतः भविष्य में भी अधिक न चल सकी।

सभायें

कन्या आश्रम में एक सभा है जिसमें वाद-विवाद व्याख्यान आदि का छात्रायें अभ्यास करती हैं।

आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा

स्थान

आर्य कन्या महाविद्यालय की स्थापना सन् १९२८ ई० में हुई थी। उस समय से यह संस्था गुजरात में एक सांस्कृतिक महिला विद्यापीठ के रूप में काम कर रही है। यह आत्माराम पथ पर कारेली बाग में स्थित है। इसके निकट रमणीक उद्यान है जिससे महाविद्यालय का वातावरण अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद है।

पाठ्यक्रम

इस महाविद्यालय का पाठ्यक्रम कुल १३ वर्ष का है विद्यालय विभाग की १० वर्ष की पढ़ाई समाप्त कर परीक्षा उत्तीर्ण होने पर बालिका 'विशारद' कहलाती है। तत्पश्चात् तीन वर्ष महाविद्यालय विभाग में और लगते हैं। यहाँ की अन्तिम परीक्षा पास कर लेने पर उसे 'भारती समलंकृता' की उपाधि मिलती है। इस संस्था में व्यायाम की शिक्षा विशेष रुप से दी जाती है साथ ही बालिकायें गृह-विज्ञान में भी दक्ष होकर निकलती हैं।

महाविद्यालय में हिन्दी

गुजरात में होते हुए भी इस संस्था ने हिन्दी का पूर्ण ध्यान रक्खा है। ८ वीं श्रेणी

तक गुजराती लड़कियों को छोड़कर शेष मद्रास, बंगाल, केरल, उड़ीसा, तामिलनाड, आंध्र महाराष्ट्र आदि प्रान्त की लड़कियों को हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती है। यद्यपि गुजराती बालिकाओं के लिए ८ कक्षा तक गुजराती ही माध्यम है परन्तु हिन्दी भी उन्हें अनिवार्य रूप से पढ़ना पड़ता है। ९ वीं श्रेणी से १३ वीं श्रेणी तक सभी का शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी हो जाता है। इस समय लगभग २५० कन्यायें शिक्षा प्राप्त कर रही हैं जिनमें ८० गुजरात की शेष अन्य प्रान्तों की हैं।

संस्था में ही बालिकायें वाद-विवाद एवं व्याख्यान द्वारा ही हिन्दी की सेवा नहीं करतीं अपितु समस्त गुजरात प्रान्त में वाक्शक्ति स्पर्धा में भाग लेकर हिन्दी प्रचार करती हैं।

कन्या गुरुकुल सासनी (अलीगढ़)

इस कन्या गुरुकुल की आधार शिला सन् १९१२ ई० में रक्खी गई परन्तु अनेक कठिनाइयों से यह संस्था सुचारु रूप से न चल सकी। सन् १९३१ ई० में माता लक्ष्मीदेवी जी के प्रयत्न से इस संस्था का पुनरुद्धार हुआ और उनके सतत् उद्योग से कन्या गुरुकुल सासनी आज आर्यसमाज की प्रमुख संस्थाओं में स्थान प्राप्त कर सका। इस गुरुकुल से अब तक लगभग सवा सौ स्नातिकायें निकल चुकी हैं। इन स्नातिकाओं ने भारतवर्ष और अफ्रीका में समाज-सुधार और सेवा-कार्य किया इनके द्वारा साहित्य-सेवा भी हुई। भाषण एवं लेखन कार्य मातृ-भाषा हिन्दी ही द्वारा इन देवियों ने किये। इस कन्या गुरुकुल की मुख्याधिष्ठात्री माता लक्ष्मीदेवी जी को सन् १९५५ में कुल की रजत जयन्ती के अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया गया है।

अन्य संस्थायें

ऊपर केवल प्रमुख महाविद्यालयों एवं गुरुकुलों का वर्णन किया गया है। आर्य जगत में १५ कन्या गुरुकुल और महाविद्यालय एवं १००० कन्या-स्कूल और कन्या-पाठशालायें हैं।[1] इसके अतिरिक्त महिला संरक्षण संस्थायें और कन्या अनाथालय भी हैं। सभी संस्थाओं में हिन्दी मुख्य रूप से पढ़ाई जाती है।

१—'नारायण अभिनंदन ग्रंथ' पं० रामनारायण मिश्र का लेख, पृष्ठ १५८

४

आर्यसमाज के हिन्दी-पत्र और पत्रिकायें

हिन्दी-पत्रों का प्रारम्भ

भारतवर्ष में हिन्दी पत्रकारिता का प्रारम्भ १९वीं शती की तृतीय दशाब्दी से हुआ। हिन्दी को पत्र-संचालन की प्रेरणा अंग्रेजी और बंगला भाषाओं से मिली। अंग्रेजों के आगमन से राजनैतिक परिवर्तन के साथ ही साथ धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन भी प्रारम्भ हुये। ईसाई मिशनरियों ने इस देश में उपयुक्त क्षेत्र पाकर धर्म-प्रचार का कार्य बड़े वेग से प्रारम्भ किया और इस देश के निवासियों को बड़ी संख्या में ईसाई बनाने लगे। उन्होंने प्रचार-कार्य को अधिक व्यापक बनाने के लिये समाचार-पत्र भी निकाले। देशी भाषा का प्रथम पत्र "दिग्दर्शन" सीरामपुर के बैपटिस्ट पादरियों ने मासिक रूप से सन् १८१७ ई० में निकाला। इसके दो मास पश्चात् ही दो साप्ताहिक-पत्र बंगला में "बंगाल गजट" और "समाचार दर्पण" नाम के और निकले। इस प्रकार शनैः शनैः देशी पत्रों का प्रकाशन होने लगा और दिन प्रतिदिन उनकी संख्या बढ़ने लगी।

ईसाइयों द्वारा हिन्दू-धर्म पर होने वाले आक्रमण के निराकरण के हेतु सबसे पूर्व राजा राममोहन राय को अपना समाचार पत्र संचालित करने का विचार हुआ। उन्होंने "ब्रह्मै निकल मैगजीन" नाम से अंग्रेजी और बंगला दो भाषाओं में एक पत्र निकाला। कुछ समय के पश्चात् अपने विचारों अथवा ब्राह्म-समाज के सिद्धांन्तों के प्रचारार्थ तत्कालीन परिस्थिति में फारसी को अधिक व्यापक भाषा जान कर उन्होंने "मीरात उल अखबार" नाम से फारसी में एक पत्र निकाला। अप्रैल सन् १८२३ ई० में नये रेग्यूलेशन के कारण देशी पत्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लग गये परिणामस्वरूप राजा महोदय का "मीरात उल अखबार" समाप्त हो गया। लार्ड विलियम वैंटिंग के समय में सरकार की उदार नीति से उत्साहित होकर राजा राममोहन राय ने दो पत्र और निकाले। प्रथम "बंगाल हेरल्ड" अंग्रेजी में और द्वितीय "बंगदूत" बंगला हिन्दी और फारसी तीन भाषा ओं में। यह दोनों पत्र सन् १८२९ ई० में निकले थे।

शिक्षित और अल्प शिक्षित जनता तक अपने बिचारों को पहुँचाने के लिये समाचार पत्र एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण साधन हैं यह बात इस समय तक सिद्ध हो चुकी थी।

पत्रकारिता क्षेत्र में ब्राह्म-समाज का नेतृत्व

आर्यसमाज की स्थापना ब्राह्म-समाज के लगभग ५० वर्ष पश्चात् हुई। ब्राह्म-समाज के प्रचार-कार्य ने आर्यसमाज को भी कुछ मार्ग-प्रदर्शन किया इस तथ्य से इनकार नहीं

किया जा सकता। संस्था-स्थापन, व्याख्यान और पत्र-प्रकाशन का आश्रय ग्रहण कर ब्राह्म-समाजियों ने अपने विचारों का प्रचार किया था। आर्यसमाज ने इन सभी उपायों का अवलम्बन किया परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है आर्यसमाज केवल उच्च पठित वर्ग तक ही सीमित न रहा उसने जनसाधारण का ध्यान रक्खा और उत्तरी भारत की व्यापक भाषा हिन्दी का ध्यान रख कर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

पत्रों द्वारा खड़ीबोली-गद्य का निर्माण

आर्यसमाज की स्थापना के समय खड़ी बोली हिन्दी अविकसित दशा में थी। इसके परिमार्जित रूप का निर्माण न हो सका था। राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु बाबू आदि अनेक लेखक विभिन्न-शैलियों का प्रयोग करते थे। तत्कालीन पुस्तकों समाचार-पत्रों और सरकार की पोषण सम्बन्धी भाषाओं में बड़ा भेद था। प्रत्येक अपने-अपने ढंग की भाषा लिखता था। भारतेन्दु ने ही भाषा की एकरूपता पर विचार किया और परिमार्जित हिन्दी लिखने का प्रयत्न और प्रचार किया। इस कार्य की पूर्ति के हेतु उन्होंने अनेक पत्रिकायें संचालित की जिनमें से मुख्य "कविवचन सुधा" (१८६७) "हरिश्चन्द्र मैगजीन" (१८७३) और "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" (१८७४) हैं। भारतेन्दु की पत्रिकाओं, बालकृष्ण भट्ट के "हिन्दी प्रदीप" और प्रसिद्ध समाचार-पत्र "भारत मित्र" का हिन्दी-गद्य-शैली के निर्माण पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

आर्यसमाज हिन्दी-क्षेत्र में धार्मिक और सामाजिक सुधार को लेकर अवतरित हुआ और उसने हिन्दी-गद्य को व्यापकता और स्थायित्व दोनों ही प्रदान किये। हिन्दू एक धर्म-प्रधान जाति है। उस समय हिन्दू धार्मिक अज्ञानता और सामाजिक कुरीतियाँ में ग्रस्त थे। आर्यसमाज ने अपने पत्रों में मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, श्राद्ध, बाल-विवाह, जन्मपरक जाति-पांति आदि के विरुद्ध स्वर निनादित किया। ये युग परिवर्तनकारी-सुधार हिन्दू-समाज के लिये परम आश्चर्यकारक थे। हिन्दुओं ने स्वप्न में भी कल्पना न की थी कि कोई सुधारक इन परम्परागत धार्मिक अनुष्ठानों एवं प्रचलित प्रथाओं के विपरीत कभी कुछ कहने का साहस करेगा परन्तु जब ये क्रांतिकारी विचार बलपूर्वक वज्रवत् उनकी विवेक-वाटिका में पेश किये गये तो वे तिलमिला उठे और उन्हें बाध्य होकर आर्यसमाज के सिद्धान्तों का विरोध करना पड़ा। आर्यसमाज के विरोधियों ने उत्तर देने के लिये समाज के पत्रों और सिद्धांत-पुस्तकों का अध्ययन प्रारम्भ किया और उत्तर-प्रत्युत्तर के प्रवाह में भाषा निखरने लगी और उसमें तार्किकता, अनेक रूप से अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने की शैली, बल और ओज का संचार हुआ, इस बात को हम पीछे भी इंगित कर आए हैं।

आर्यसमाज की पत्रकारिता और ईसाई प्रचारक

आर्यसमाज की पत्रकारिता से हिन्दू-समाज को एक बड़ा लाभ और हुआ। उस समय ईसाइयों की शक्ति बड़ी प्रबल थी वे सामूहिक रूप से प्रचार करते थे और अपने पत्रों द्वारा हिन्दू-धर्म पर आक्रमण करते थे। हिन्दुओं के पूर्व पुरुषों और धर्म-ग्रंथों की निंदा करते थे और निम्न श्रेणी के हिन्दुओं को अधिक संख्या में ईसाई बनाते थे। आर्यसमाज ने

हिन्दू-धर्म की व्याख्या और उसका सत्य रूप जनता के समक्ष उपस्थित किया। साधारण व्यक्तियों को अपने धर्म की उच्चता का बोध होने लगा और वे सजग हो गये। हिन्दू ईसाइयों के चंगुल से तो बचे ही परन्तु साथ ही आर्यसमाज की पत्रकारिता ने जो उस समय वाद-विवाद,कटाक्ष और धार्मिक आलोचना से युक्त रहती थीं, हिन्दुओं में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की।

पत्रकारिता और आर्य समाज का उद्देश्य

पत्र-संचालन द्वारा आर्यसमाज वैदिक धर्म का प्रचार सामाजिक कुप्रथाओं का निराकरण और हिन्दी-भाषा की उन्नति करना चाहता था। स्वयं स्वामी दयानन्द जी पत्रकारिता द्वारा धर्म-प्रचार सफलतापूर्वक और व्यापक रूप से करना चाहते थे परन्तु धन के अभाव और अन्य कार्यों में संलग्न रहने के कारण वे अपनी जीवितावस्था में यह कार्य न कर सके। उनकी आवश्यक सूचनाएं, प्रतिपादित वैदिक धर्म के प्रति मिथ्या धारणाओं का निराकरण और विज्ञापन आदि तत्कालीन भारतमित्र एवं अन्य पत्रों में छपा करते थे। अन्य पत्रों पर निर्भर रह कर प्रचार-कार्य संभव न था। कभी-कभी ये पत्र स्वामी जी की सूचनाओं और विज्ञापनों एवं अन्य धार्मिक वार्ताओं को नहीं छापते थे अथवा अशुद्ध छापते थे और उनके आशय में परिवर्तन कर देते थे। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये आर्यसमाज ने अपने पत्रों का संचालन प्रारम्भ किया।

आर्यसमाज के प्रारम्भिक पत्रों के विषय

जैसा कि पीछें कहा गया है, आर्यसमाज की स्थापना परम्परा से प्रचलित सामाजिक और धार्मिक अनाचार और कुप्रथाओं को दूर करने के लिये हुई थी अतः प्रारम्भ में उसका विरोध स्वाभाविक था। सनातन धर्मी, ईसाई, मुसलमान सभी उसके विरोधी थे अतः मौखिक शास्त्रार्थों के अतिरिक्त लेखबद्ध शास्त्रार्थ और वाद-विवाद प्रचलित हो गये थे। बहुधा एक दूसरे के धर्म पर कटु आलोचना करते थे। इस प्रकार के शाब्दिक युद्ध और टीका-टिप्पणी में साधारण लोग बड़ी रुचि दिखाया करते थे और इच्छा-पूर्ति के लिये पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ा करते थे। अतः तत्कालीन पत्रों में भो समाचारों की अपेक्षा वाद-विवाद का ही प्राधान्य रहता था। श्री रामरत्न भटनागर ने लिखा है:—

"Religious reforms had swayed the people from slumber, and both the orthodox and the reformists found a good weapon in an organ which gave less news, and sometimes no news at all, but more controversies and views......" [1]

अर्थात् "धार्मिक सुधारों ने जनसाधारण की निद्रा भंग कर दी थी और कट्टर पंथी एवं सुधारक दोनों को ही वे पत्र जिनमें समाचारों का अभाव अथवा नितान्ताभाव हो और वाद-विवाद तथा विचारपुष्टि का आधिक्य हो, अधिक रुचिकर थे।"

आर्यसमाज और अन्य धर्मावलम्बियों विशेषकर सनातन धर्मियों का पत्र-पत्रिकाओं

---

1. 'The Rise and growth of Hindi journalism' by R. R. B., Page 104

द्वारा घोर युद्ध केवल १९वीं ही शती नहीं अपितु २०वीं शती के प्रारम्भिक लगभग दो दशाब्दियों तक संचालित रहा। इन संघर्षों द्वारा ही हिन्दी-गद्य का विकास हुआ। इससे अन्य विद्वान भी सहमत हैं। श्री भटनागर के कथनानुसार—

"In 1867 two forces came in Hindi Pradesh, one was Bhartendu who published K. V. S. (1867-1885) and another Dayananda who pleaded and encouraged Aryasamajists to bring out their own paper for the propaganda of the Aryasamaj tenets. Throughout the remainiug years of the I9th century, these two forces swept every thing before them. One was literary, another socio-religious, but both were non dogmatic and progressive. Bhartendu was leading towards literary journalism, while the journalistic activity of Dayananda for Aryasamaj was of propaganda nature. It was these two forces which gave Hindi journalism a momentum and made it great." [1]

अर्थात् "सन् १८६७ ई० में दो शक्तियाँ हिन्दी-क्षेत्र में अवतरित हुईं। प्रथम भारतेन्दु जी जिन्होंने कवि-वचन-सुधा (१८६७-१८८५) प्रकाशित किया द्वितीय स्वामी दयानन्द जिन्होंने आर्यसमाजियों को आर्य-सिद्धान्तों के प्रचारार्थ अपने पत्रों के संचालन की आज्ञा दी और प्रोत्साहित किया। १९वीं शती के शेष वर्षों में इन दोनों शक्तियों ने अपने समस्त विघ्न-वाधाओं को ढहा दिया। एक साहित्यिक था और दूसरा सामाजिक और धार्मिक परन्तु दोनों ही अन्ध विश्वास से परे, प्रगतिशील और हिन्दी के पक्षपाती थे। भारतेन्दु साहित्यिक पत्रकारिता की ओर अग्रसर हो रहे थे और स्वामी दयानन्द की पत्रकारिता आर्यसमाज के हेतु प्रचारात्मक थी। यही दोनों शक्तियाँ थीं जिनके कारण हिन्दी-पत्रकारिका की वृद्धि हुई और उसने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया।"

भारतेन्दु और स्वामी दयानन्द के पत्र द्वारा हिन्दी-प्रचार में अन्तर

भारतेन्दु जी ने अपने पत्रों द्वारा हिन्दी का प्रचार किया अवश्य परन्तु वे उसे स्वामी दयानन्द की सी व्यापकता न प्रदान कर सके। उनके पत्र पठित वर्ग तक ही सीमित थे और उनका हिन्दी प्रचार आन्दोलन भी पठितों के ही मध्य था परन्तु स्वामी जी ने धार्मिक क्रान्ति द्वारा अपढ़ और पठित, ग्रामीण और नागरिक सभी में उथल पुथल उत्पन्न कर दिया। उन दिनों अधिकांश व्यक्ति स्वामी जी के धार्मिक दृष्टिकोण को समझने और ग्रहण करने के हेतु आर्यसमाज के हिन्दी पत्रों को पढ़ते और दूसरों में भी प्रचार करते थे। अनेक धर्म प्रेमी अपढ़ लोगों ने हिन्दी पढ़ना इसीलिये प्रारम्भ किया जिससे वह आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्तों को समझ सकें। स्वयं स्वामी जी ने समस्त उत्तरी भारत के ग्रामों

I. 'The Rise and growth of Hindi journalism' by R. R. B., Page 615

और नगरों में भ्रमण कर जो प्रचार किया उससे अपूर्व जाग्रति उत्पन्न हुई। काशी-शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी जी अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये थे। उनकी यह प्रसिद्धि भी प्रचार कार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई। अतः उत्तरी भारत में हिन्दी-गद्य के निर्माण-काल में उसे व्यापकता प्रदान करने का श्रेय निस्संदेह स्वामी दयानन्द पर ही है।

इस तथ्य को श्री भटनागर ने भी एक प्रकार से स्वीकार किया है :—

"It was only in the later period (1867-83) that through the genius and personality of Harishchandra and his group of writers, Hindi journnlism was finally established and the Hindi literature produced by these pioneers silenced the denouncers. But even more important a force in establishing it in the midst of Urdu was Aryasamaj (Est. 1875) Publishing magazines and newspapers was one of the main objectives of the Aryasamaj and its strong nationalistic and Vedic learnings made it a very effective supporters of Hindi."[1]

अर्थात् उत्तर काल (१८६७–८३) में ही हरिश्चन्द्र और उनके लेखकों की प्रतिभा और व्यक्तित्व के कारण हिन्दी पत्र-कारिता अन्तिम रूप से स्थापित हुई। इन नेताओं द्वारा रचित हिन्दी-साहित्य ने निन्दकों का मुख बन्द कर दिया। परन्तु उर्दू के मध्य में हिन्दी की नींव दृढ़ करने वाली इससे भी अधिक एक महत्वपूर्ण शक्ति थी। वह था आर्यसमाज (स्थापित १८७५ ई०)। मासिक और अन्य समाचार पत्रों के प्रकाशन-द्वारा प्रचार कार्य इसके मुख्य उद्देशों में से था। आर्यसमाज की दृढ़ राष्ट्रीय और वैदिक विचारधारा ने इसे हिन्दी का प्रभावशाली पृष्ठपोषक बना दिया।"

आर्यसमाज ने जो धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न की उससे पठित हिन्दू विशेष रूप से आकर्षित हुये और आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित सुधारों को अपनाने लगे। आर्यसमाज का प्रचार-कार्य व्याख्यानों और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा चल निकला। कट्टर पंथी हिन्दुओं ने जैसा कि पीछे बताया गया है प्रारम्भ में अपने पत्रों द्वारा आर्यसमाज का विरोध किया परन्तु शनैः शनैः यह विरोध क्षीण होने लगा। बुद्धिमान और उदार विचारों के हिन्दुओं ने आर्यसमाज के मुख्य सामाजिक और धार्मिक सुधारों को अपना लिया और वे विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि आदि का समर्थन करने लगे। इतना ही नहीं अपितु प्रगतिशील विचारों के आर्य समाजेतर व्यक्तियों ने स्वयं सुधारक समाचार पत्रों को जन्म दिया जिसमें उन्होंने विधवा-विवाह, अछूतोद्धार आदि की पुष्टि की "हरिजन सेवक" "विश्वमित्र" "आज" आदि ऐसे ही पत्र थे जिन्होंने सामाजिक सुधारों का स्वागत किया।

---

1. The Rise and Growth of Hindi Journalism by R. R. Bhatnagar Page 126.

आर्य सामाजिक पत्रकारिता-इतिहास के तीन उत्थान

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् आर्यसमाज की पत्रकारिता का इतिहास तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम आर्यसमाज के स्थापना काल, सन् १८७५ ई० से लेकर सन् १९०० ई० तक, द्वितीय उत्थान काल सन् १९०१ से लेकर सन् १९२५ ई० तक और तृतीय उत्थान सन् १९२६ से लेकर अब तक।

प्रथम उत्थान-काल के समाचार पत्रों का अस्थायित्व

प्रारम्भ के २५ वर्षों में आर्यसामाजिक पत्रों की दशा बड़ी अव्यवस्थित सी रही। इस काल में कितने ही पत्रों ने जन्म लिया परन्तु ऐसे समाप्त हुये जिनका नाम तक नहीं जाना जा सकता। आर्य-पत्रों के विषय पूर्ण धार्मिक और सामाजिक होते थे। मुख्य विषय मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, श्राद्ध, एकेश्वरवाद, बाल-विवाह, विधवा-विवाह मादक-द्रव्य-निषेध आदि से सम्बन्धित होते थे। इन्हीं विषयों पर सनातन धर्मियों से शास्त्रार्थ एवं पत्रों में विवाद भी चलते थे और यथासंभव कटु शब्दों के प्रयोग भी होते थे। इस काल के मुख्य पत्र 'आर्य-दर्पण' और 'आर्य-भूषण' शाहजहाँपुर, धर्म-प्रकाश कपूरथला 'आर्य-समाचार' मेरठ 'बलदेव-प्रकाश' आगरा और 'भारत-सुदशा-प्रवर्तक' फर्रुखाबाद थे।

इस काल की दूसरी विशेषता यह है कि आर्यसामाजिक पत्रों की ईसाई पत्रों से प्रतियोगिता हो गई। ईसाइयों द्वारा हिन्दू-धर्म पर लगाये गये मिथ्या आरोपों का आर्य-समाज ने खंडन किया इससे यह संस्था हिन्दूजगत में अत्यन्त प्रसिद्ध हो गई और ईसाई पत्रों को नीचा देखना पड़ा। श्री भटनागर ने लिखा है।

"The Aryasamaj activity in the field of journalism brought much warmth in Christian Missionary circles, and though they had much earlier entered the field they now shook their self-content. Journalism now onward (1880) was filled with wordy controversies between the Aryasamajists and the Christians." [१]

अर्थात् "पत्रकारिता क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्य ने ईसाई मिश्नरियों के मध्य उत्तेजना उत्पन्न कर दी यद्यपि वे इस क्षेत्र में बहुत पहले ही अवतरित हो चुके थे परन्तु उनका अस्तित्व संकट में पड़ गया। सन् १८८० ई० के पश्चात् इस क्षेत्र में आर्यसमाजियों और ईसाइयों के मध्य शाब्दिक युद्ध की भरमार है"।

द्वितीय उत्थान (राष्ट्रीयता)

आर्यसामाजिक पत्रकारिता के द्वितीय उत्थान काल १९०१-२५ में राष्ट्रीयता का अधिक संचार हुआ। यद्यपि आर्यसमाज आन्दोलन प्रारम्भ से ही राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था

The risse and Growth of Hindi Journalism by R. R. Bhatnagar, page 130

और इसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द की यह उत्कट इच्छा थी कि देश में जातीय संगठन हो, एक भाषा प्रचलित हो एक धर्म हो और विदेशी राज्य का अन्त हो परन्तु क्रांतिकारी धार्मिक सुधारों के कारण जनता राष्ट्रीयता की ओर प्रारम्भ में अग्रसर न हो सकी। द्वितीय उत्थान काल में आर्यसमाज के रंगमंच पर स्वामी श्रद्धानंद और लाला लाजपत राय आये जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी खुलकर भाग लिया। अतः इस काल के आर्य-सामाजिक पत्रों में धर्म प्रचार के साथ ही राष्ट्रीयता की गूँज भी रही।

शिक्षा

आर्यसामाजिक पत्रों में समयानुसार अन्य विषयों का भी समावेश हुआ। इस काल में आर्यसमाज ने अनेक शिक्षा-संस्थाओं की भी स्थापना की थी। दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज लाहौर, गुरुकुल कागड़ी और कन्या महाविद्यालय जालंधर की स्थापना हो चुकी थी अतः गुरकुल शिक्षा के महत्व और स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता पर लेख बहुधा इस काल के पत्रों में मिलते हैं। पश्चात् उक्त संस्थाओं ने अपने पत्रों को जन्म दिया जिससे हिन्दी-शिक्षा-प्रचार की गति तीव्र हो गई। शिक्षा-समप्ति के पश्चात् स्नातक और स्नातिकाओं ने जो हिन्दी की सेवा की उससे आज हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित है। आज हिन्दी के प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं के प्रधान संपादक एवं सम्पादक मंडल में अधिकतर गुरुकुल के स्नातकों ने अपना स्थान बना लिया है। आर्यसमाज की यह देन हिन्दी की उन्नति के हेतु प्रशंसनीय है।

आर्यकुमार-आन्दोलन

आर्यसमाज के ही अन्तर्गत आर्यकुमार सभाओं की स्थापना हुई। इसका अखिल भारतीय संगठन हुआ। समाज के पत्रों ने नवयुवकोपयोगी लेख लिखे उसमें वीरता देश प्रेम, धर्म प्रेम और अपनी भाषा हिन्दी के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुये। आर्यकुमार सभा ने अपना पत्र भी चलाया परन्तु अनेक बार स्थगित हुआ और चला। इस सभा द्वारा संचालित परीक्षायें अत्यन्त प्रसिद्ध हुई और सुचारु रूप से चल रही हैं। आर्य पत्रों में इसके विवरण और परीक्षा-फल प्रकाशित होते रहते हैं।

पंजाब के उर्दू पत्रों की हिन्दी सेवा

पंजाब के उर्दू समाचार पत्रों ने हिन्दी के प्रचार में जो सहायता दी वह अविस्मरणीय है। प्रताप, मिलाप आर्य गजट, प्रकाश, आर्यवीर आदि लाहौर के उर्दू पत्र हैं। प्रारम्भ से ही इन पत्रों की लिपि उर्दू है परन्तु भाषा इनकी हिन्दी ही रही है। पंजाब के आर्यसमाजियों ने इन पत्रों से हिन्दी शब्द सीख लिये आवश्यकता केवल लिपि परिवर्तन की रह गई थी अतः समयान्तर में पंजाब से हिन्दी-पत्र भी निकलने लगे क्योंकि इसके लिये पृष्ठ भूमि की रचना पहले से ही हो चुकी थी। हिन्दी मिलाप सन् १९२८ से संचालित है। अतः उक्त उर्दू आर्यसमाजी पत्रों की प्रच्छन्न हिन्दी-सेवा अत्यन्त श्लाघ्य है।

मुसलमानों से विरोध

इस काल में मुसलमानों से विशेष रूप से विरोध बढ़ा। आर्यसमाज ने शुद्धि का

प्रचार, बलपूर्वक हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का विरोध और इस्लाम धर्म के अनेक सिद्धांतों पर आक्रमण किया था। अतः मुसलमान इस संस्था से चिढ़ने लगे। पं० लेखराम के बलिदान के पश्चात तो आर्यसमाज का कार्य अत्यन्त वेग से चल निकला। इस काल के अन्तिम भाग में देश में अनेक घटनायें ऐसी हुईं जिनसे साम्प्रदायिक विद्वेष बहुत बढ़ा। कोहाट और मालावार (मोपला विद्रोह) में मुसलमानों ने हिन्दुओं पर आक्रमण कर उन्हें लूट लिया और बलात् मुसलमान बनाया, मसजिद के सामने बाजे का प्रश्न भी उपस्थित हुआ, सन् १९२३ ई० में देश के विभिन्न भागों में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े हुये। इस आपत्ति काल में हिन्दुओं की रक्षा करनेवाली आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था थी जो प्रत्येक अवसर पर सहायक सिद्ध हुई अतः इस काल के पत्रों में हिन्दुओं को चेतावनी, वीर और संगठित रहने की शिक्षा, शुद्धि द्वारा बिछुड़े हिन्दुओं को पुनः ग्रहण करने का उपदेश आदि विषयों की चर्चा पाई जाती है।

जन्म शताब्दी महोत्सव

द्वितीयोत्थान काल के अन्त में सन् १९२५ ई० में महर्षि दयानन्द की जन्म-शताब्दी मनाई गई जो आर्यसमाजियों का सर्वप्रथम महत्तम और अपूर्व मेला था। इसमें लगभग ३ लाख आर्य उपस्थित हुये थे। भारत के इतिहास में किसी स्वतन्त्र संस्था का बिना राजकीय सहायता के इतना सफल महोत्सव कभी नहीं हुआ। यह आर्यसमाज के इतिहास की एक मुख्य घटना है। उत्सव के दिनों में और उससे बहुत पूर्व आर्य-पत्रों में इसकी चर्चा रहती थी जिसमें इस उत्सव के महत्व मनाने की विधि, यात्रियों के निर्देश आदि का वर्णन रहता था। शताब्दी-महोत्सव-संचालनार्थ निर्माण कर्त्री सभा द्वारा बीस पत्रिकाएँ (Bulletins) हिन्दी में प्रकाशित हुई।[1] हिन्दी पात्रिकाओं के आधार पर अन्य आर्य-पत्रों ने उत्सव में सम्मिलित होने वाले आर्यों के सूचनार्थ आवश्यक बातें प्रकाशित कीं। इस महोत्सव ने आर्य समाजेतर व्यक्तियों को चकित कर दिया। आर्यसमाज की शक्ति का साधारण जनता को आभास मिला और समाज का उज्ज्वल भविष्य दृष्टिगोचर होने लगा।

तृतीयोत्थान स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान

तृतीयोत्थान के आरम्भ में स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान की हृदय विदारक घटना हुई। २३ दिसम्बर १९२६ ई० को एक धर्मान्ध मुसलमान ने दिल्ली में उन्हें गोली मार दी। स्वामी जी की मृत्यु का आर्यसमाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। आर्यसमाज का काम और शुद्धि-आन्दोलन तीव्रतर हो गया। आर्य समाज के पत्रों ने स्वामी जी के बलिदान से शिक्षा ग्रहण करने का उपदेश दिया और अधूरे कार्य को पूर्ण करने के हेतु जनता को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार आर्यसमाजियों में बलिदान-भावना की सरिता वेग से प्रवाहित हुई। जिसने भविष्य की घटनाओं में अपनी तीव्र गति का परिचय दिया।

स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव

यद्यपि महात्मा गांधी ने सन् १९२१ ई० में स्वदेशी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया

१—श्री मद्दयानन्द जन्म शताब्दी वृत्तांत, सम्पादक डाक्टर केशवदेव शास्त्री, पृष्ठ ४

था जिसमें आर्यसमाजी अधिक संख्या में जेल गये। इसका कारण यह था कि धार्मिक और सामाजिक सुधार के साथ ही आर्यसमाज ने राष्ट्रीयता का प्रचार भी प्रचुर मात्रा में किया था फलतः स्वदेशी आन्दोलन में आर्य-सामाजिक क्षेत्र से अधिक व्यक्तियों ने सहयोग दिया। महर्षि दयानन्द-जन्म-शताब्दी महोत्सव और स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान ने यद्यपि आर्यसमाज को धार्मिक और सामाजिक कार्य के हेतु ही प्रोत्साहन दिया और शुद्धि का कार्य भी प्रबलता से चलाया परन्तु स्वदेशी आन्दोलन ने आर्यसमाज की बहती हुई धारा में मोड़ उत्पन्न कर दिया और यहीं से दो विचार धाराओं के आर्यसमाजियों की सृष्टि हुई। एक तो वे जो धार्मिक और सामाजिक कार्य ही पूर्ववत् करना चाहते थे और दूसरे वे जो राजनैतिक आन्दोलन के समर्थक हो धर्म और समाज को गौण समझते थे। इस परिवर्तन काल में लाला लाजपत राय तो अपने उत्तर काल में एक प्रभावशाली राजनैतिक नेता बन गये परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जी दोनों मार्गों पर कुशलता से अग्रसर हुये और सन्तुलन बनाये रक्खा।

स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव; विचारधाराओं में अन्तर

भविष्य में उपर्युक्त दोनों विचार-धारायें प्रवाहित होने लगीं और बहुधा विभिन्न धारावाही आर्यसमाजियों में मतभेद, वाद विवाद और वाक्युद्ध भी हुआ। समाचारपत्रों में इसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट देखा जा सकता है। सन् १९३०-३३ के स्वदेशी आन्दोलन के पश्चात् तो राजनैतिक क्षेत्र में भी दो दल बन गये। एक काँग्रेस का पोषक बना और दूसरा हिन्दू महासभा का। इस प्रकार यद्यपि आर्यसमाजी व्यक्तिगत रूप से राजनीति की ओर आकृष्ट हुये परन्तु उन्होंने अपनी संस्था को अभूतपूर्व रूप से प्रभावित किया। सन् १९४२ के आन्दोलन, द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति और भारत के स्वतन्त्र राष्ट्र निर्मित होने के पश्चात् तो आर्यसमाज आन्दोलन का पूर्व रूप मिट गया। उसके मौलिक कार्यों में शिथिलता आ गई, व्यक्तित्ववाद का विकास हुआ, त्याग, सेवा और बलिदान की भूमि पर स्वार्थपरता ने आसन जमाया। अधिकांश आर्यसमाजी धारासभाओं, पार्लामेंट आदि के सदस्य बनकर एवं मन्त्रिमंडल में प्रविष्ट होकर एक नये संसार में बस गये हैं जहाँ से उन्हें आर्यसमाज की गति-विधि पर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिलता।

यद्यपि स्वदेशी आन्दोलन से आर्यसमाज के कार्य में शिथिलता आ गई परन्तु उसने अनेक सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता भी की है। आज अछूतों का प्रश्न लगभग हल हो चुका है, हिन्दी राष्ट्र-भाषा घोषित हो चुकी है, जाति-पाँति के झगड़ों को मानने से कांग्रेस ने इनकार कर दिया है, शिक्षित लोगों में मूर्तिपूजा, अवतारवाद श्राद्ध आदि परम्परागत धार्मिक भावनायें और कृत्य दिन प्रतिदिन कम होते जा रहे हैं। अब आर्यसमाज के पत्रों में मूर्ति पूजा, श्राद्ध आदि विषयों पर शास्त्रार्थ के विवरण नहीं छपते। अब तो आर्यसमाज और सर्वोदय समाज में बहुत कम अन्तर रह गया है।

हैदराबाद का सत्याग्रह

हैदराबाद का सत्याग्रह आर्यसमाज की प्रमुख घटना है। इस संस्था की शिथिलावस्था

"वेद प्रकाश" के १८० अंक निकले जिनकी पृष्ठ संख्या ३८७७ है। अब तक "वेद प्रकाश" में यज्ञ, शास्त्रार्थ, ईश्वर भक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, मुक्ति, पुनर्जन्म, मूर्ति पूजा, नित्य यज्ञ, मृतक-दाह, मृतक-श्राद्ध, वेदार्थ, विधवा-विवाह, विवाह, क्षमा, दया प्रायश्चित, खान-पान, छुआछूत, कर्मकाण्ड, उपासना, दिधिषु शब्द पर विचार, भूत, प्रेत और अथर्ववेद, पुराण, तन्त्र, भागवत खंडन आदि २०० विषयों पर लेख निकल चुके हैं। ये लेख आर्य सिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिये बड़े ही उपयोगी हैं। विरोधियों के प्रश्नों के उत्तर, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, आर्यसमाजों के प्रति परामर्श देने आदि में पंडित जी बड़ी भारी योग्यता का परिचय देते हैं।"[1] इस पत्र की ग्राहक संख्या १००० थी।[2]

आर्य-पत्र (सन् १८८५ ई०)

यह अनाथालय बरेली का मुख-पत्र था और उर्दू में साप्ताहिक निकलता था। संभव है इसमें हिन्दी में भी कुछ पृष्ठ निकलते हों क्योंकि बाजपेई जी ने इसकी चर्चा हिन्दी पत्रों के साथ की है। यह पत्र सन् १८८५ से ९४ तक चला। इसके पश्चात् सन् १८९७ में पुनः संचालित होकर कब तक चला यह अज्ञात है। यह रैनी प्रेस गंगादीन, बरेली से छपता था।

आर्य-समाचार (१८८५ ई०)

आर्यसमाज का यह मासिक पत्र मेरठ से निकला था। प्रारम्भ में श्री गंगासहाय और कल्याण राय ने विद्या-दर्पण प्रेस से निकाला था। पश्चात् इसे पं० घासीराम जी ने भी निकाला था।

आर्य-विनय (१८८५)

यह मासिक पत्र १ मई १८८५ ई० में मुरादाबाद से निकला। इसके सम्पादक पं० रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य थे। ज्ञात होता है कि यह पत्र अधिक न चल सका।

आर्य-सिद्धान्त (सन् १८८७ ई०)

इसके सम्पादक पं० भीमसेन शर्मा और पंडित ज्वालादत्त थे। पं० भीमसेन स्वामी दयानन्द के शिष्य थे और लेखक का कार्य भी करते थे। जिस समय वे आर्यसमाज में थे इस पत्र का सम्पादन बड़ी योग्यतापूर्वक करते रहे। सनातनधर्मियों द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर वे बड़ी कुशलता से देते थे। पश्चात् वे आर्यसमाज से अलग हो गये और सनातन धर्मियों का पक्ष लिया। उस समय वे दूसरा पत्र निकालने लगे। यह पत्र परोपकारिणी सभा की ओर से वैदिक प्रेस प्रयाग से निकलता था।

आर्यावर्त (सन् १८८७)

"आर्यावर्त साप्ताहिक पत्र आर्यसमाजियों ने कलकत्ते से निकाला था। जब तक कलकत्ते में रहा अच्छा चला। उन दिनों आर्यसमाज का बड़ा जोर था। १८९१ ई० में

१—वैदिक वैजयन्ती, पृष्ठ १२०-१२१

२—आर्यसमाज का इतिहास, द्वितीय भाग, पं० नरदेव शास्त्री, पृष्ठ ११४

पं० क्षेत्रपाल शर्मा इसके सम्पादक थे। १८९७ में यह राँची चला गया और १८९८ ई० में दानापुर से निकालने लगा। यहाँ इसकी अवस्था फिर कुछ अच्छी हो गई। इसके बाद भागलपुर से निकलने लगा। फिर बन्द हो गया।"[1]

वास्तव में यह पत्र बंद नहीं हुआ। रांची से प्रकाशित होता रहा और अच्छी दशा में रहा। सन् १९०० के अंक रांची से प्रकाशित हुए थे।[2] रांची आर्य समाज में इस पत्र के सन् १९०१, १९०४ और १९०५ के कुछ अंक अभी सुरक्षित हैं। पत्र संभवत: सन् १९०८, १९०९ में बंद हुआ। उस समम पं० रुद्रदत्त जी शर्मा सम्पादकाचार्य और बाबू बालकृष्ण सहाय वकील, तत्कालीन प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा विहार व बंगाल, इसके सम्पादक थे। इस पत्र का आकार १२ × १८ था और ८ पात्रों में प्रकाशित होता था। वार्षिक मूल्य तीन रुपया आठ आना था। कमलेश्वर प्रेस रांची में छपता था। इस पत्र में आर्य जगत के अच्छे विद्वानों के लेख, देश-विदेश के समाचार और टिप्पणियां छपती थीं। समकालीन अच्छे पत्रों में इसकी गणना थी।

आर्य प्रतिनिधि सभा विहार के प्रधान मंत्री आचार्य श्री रामानन्द जी शास्त्री ने सूचना दी है कि १९२९-३० में पुनः: 'आर्यावर्त' पटना आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से निकलने लगा, उसके सम्पादक श्री भवानीदयाल जी सन्यासी थे। ३-४ वर्षों के पश्चात् वह भी बंद हो गया।

भारत भगिनी (१८८८ ई०)

यह पत्रिका स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार और सामाजिक सुधार की दृष्टि से संचालित की गई थी। इसकी संपादिका महादेवी जी थीं। श्री रामरत्न भटनागर ने संपादिका का नाम हरदेवी लिखा है।[3] इस पत्रिका का उदय आर्यसमाज की शिक्षाओं के फलस्वरूप

१—समाचार पत्रों का इतिहास, पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेई, प्र० सं०, पृष्ठ १९७

२—रांची आर्य समाज के सभासद बाबू बालगोविन्द सहाय वकील द्वारा प्राप्त सूचनाओं से उक्त तथ्य ज्ञात हुए। वकील महोदय ने २५, ८, १९०० के 'आर्यावर्त' की ऊपरी रूप रेखा की निम्नलिखित प्रतिलिपि दी है :

ओउम्

"आर्यावर्त

Registered
C 26 "The Aryavarta"

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा विहार बंगाल का साप्ताहिक पत्र

खंड १४ आर्य संवत्सर १९७२९४९००

अंक २१ वी मदयानन्दाद्व १६

रांची, शनिवार २५ अगस्त १९९०, माद्रकृष्ण १५ विक्रयाव्द १९५७

3—The Rise and Growth of Hindi Journalism by R. R. Bhatnagar Appendix VI Page 745

में इस सत्याग्रह ने यह सिद्ध कर दिया कि आर्यसमाज का संगठन ठोस और स्तुत्य हैं। जिस शक्तिशाली रियासत के विरुद्ध सत्याग्रह करने में काँग्रेस जैसी संस्था भी घबराती थी वहाँ आर्यसमाज ने आर्यों एवं हिन्दुओं के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिये दानव-शक्ति से लोहा लिया और सफलता प्राप्त की। ३० जनवरी सन् १९३९ ई० में सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ परन्तु वर्षों पूर्व से आर्य सार्वदेशिक सभा ने समाचार पत्रों द्वारा जनमत आकर्षित कर वैधानिक उपायों से कार्य-सिद्धि का प्रयत्न किया। सभा को सत्याग्रह का आश्रय विवश होकर ही लेना पड़ा। सत्याग्रह-काल में आर्यसमाजी पत्रों में तो इस अहिंसात्मक युद्ध का पूर्ण विवरण रहता ही था, इसके अतिरिक्त भारत के लगभग सभी हिन्दी पत्रों ने इसमें सहानुभूति दिखाई और समाचार छापा। हिन्दी में इतना अधिक प्रचारात्मक कार्य भी हुआ। जिससे उक्त रियासत में हिन्ही भाषा का प्रसार-कार्य भी हुआ सत्याग्रह के दिनों में समाचार देने के लिये एक दैनिक समाचार पत्र 'दिग्विजय' सत्याग्रह समिति की ओर से निकाला गया। उन दिनों भारत के सहस्त्रों आर्यसमाजों और उत्तरी भारत में इस पत्र की खपत थी। इस आन्दोलन की महत्ता और देश-व्यापकता का अनुमान सत्याग्रहियों की संख्या और बलिदानों से लगाया जा सकता है। "इस धर्म में १०५७९ सत्याग्रही जेल गये २८ वीरों ने जेलयातनाओं के कारण परलोक यात्रा की········ आर्य जगत का लगभग ११ लाख रुपया व्यय हुआ"।[1]

आर्य सामाजिक पत्रों की प्रगति, नीति और दृष्टिकोण परिवर्तन आदि समस्याओं पर विचार करने के पश्चात् हम प्रारम्भ से अब तक ज्ञात समाचार पत्रों का संक्षिप्त विवरण तिथि-क्रम से देंगे। जिन पत्रों के विषय में कुछ ज्ञात न हो सका उनका केवल नाम ही दे दिया हे। अनेक ऐसे भी पत्र प्रारम्भिक काल में हुये हैं जिनके नाम अज्ञात हैं।

आर्य दर्पण (सन् १८७० ई०)

यह आर्यसमाज का सर्वप्रथम समाचार-पत्र था। मुन्शी बख्तावर सिंह के संपादकत्व में हिन्दी में शाहजहाँपुर से निकलता था। "यह सम्भवतः मासिक पत्र था। उन दिनों पश्चिमोत्तर प्रदेश में आर्य समाज का आन्दोलन जोरों पर था और उसी को बढ़ाने के लिये यह पत्र निकाला गया था।"[2] यह पत्र संभवतः सन् १९०६ ई० तक चलता रहा।[3]

आर्य भूषण । १८७६ ई०)

यह मासिक पत्र था। मुंशी बख्तावर सिंह ने इसे भी शाहजहाँपुर से निकाला था। "आर्य भूषण" कदाचित दीर्घजीवी नहीं हुआ।[4]

"आर्य दर्पण" को पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेई ने अपने ग्रन्थ के १३५ पृष्ठ पर

१—नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २९१

२—समाचार पत्रों का इतिहास, पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेई, पृष्ठ १३५

३—समाचार पत्रों का इतिहास, पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेई, पृष्ठ १४८, १४९

४—वही, पृष्ठ १४९

मासिक होने का अनुमान किया है और पृष्ठ १४८ पर उसे साप्ताहिक बताया है। श्री रामरत्न भटनागर ने "आर्य दर्पण" और आर्य भूषण दोनों को मासिक बताया है और दोनों का ही आरम्भ सन् १८७६ ई० से माना है।[1] यह निर्विवाद है कि "आर्य दर्पण" मासिक पत्र ही था। पं० नरदेव जी शास्त्री ने भी लिखा है "यह सबसे प्राचीन आर्य सामाजिक हिन्दी मासिक पत्र है।"[2]

भारत सुदशा प्रवर्तक (१८७९) ई०

इस पत्र का प्रकाशन सन् १८७९ ई० से प्रारम्भ हुआ। पहले इसका नाम "भारत दुर्दशा समर्थक" था। स्वामी दयानन्द जी ने इसका नाम परिवर्तित कर भारत सुदशा प्रवर्तक रख दिया। यह मासिक पत्र था। "इसे फर्रुखाबाद के पंडित गणेशप्रसाद शर्मा के सम्पादकत्व में वहाँ का आर्यसमाज निकालता था। इसके प्रकाशक रामस्वरूप जी थे। इस मासिक का आकार १० × ६१ और वार्षिक मूल्य २ रु० था"।[3]

इस पत्र में समाज सुधार सम्बन्धी लेख और स्वामी जी की सूचनायें छपती थीं। आर्यसमाज का पत्र होने के कारण स्वामी जी को आर्य-सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ भी छपना स्वीकार न था। एक बार संपादक ने इसमें नाटक छाप दिया। अतः स्वामी जी १६ अक्टूबर १८८२ ई० में संपादक को एक पत्र लिखकर भविष्य में नाटक न छापने की आज्ञा दी थी। इस पत्र का उल्लेख पूर्व हो चुका है। यह समाचार-पत्र लंदन भी भेजा जाता था। आर्यसमाज फर्रुखाबाद के विवरण में लिखा है कि "लंदन के मिस्टर फ्रेडरिक पिंकाट और आर्यसमाज लंदन तथा मिसेज आरन्डेल को भारत सुदशा प्रवर्तक भेजना स्वीकार हुआ।"[4]

जुलाई सन् १९१२ ई० से यह पत्र साप्ताहिक निकलने लगा।[5]

वेद प्रकाश (१८८४ ई०)

"कानपुर से हीरालाल ने "वेद प्रकाश" प्रकाशित किया था। सम्भवतः यह आर्य-सामाजिक पत्र था और साप्ताहिक था।"[6] इसके विषय में वाजपेई जी ने पुनः लिखा है।" इस वर्ष आर्यसमाजियों ने साप्ताहिक "वेद प्रकाश" कानपुर से निकाला। बाद को १८९७ ई० में यह मेरठ से स्वामी प्रेस से मासिक निकला।"[7] इसी पत्र को पं० तुलसी राम जी ने मेरठ से निकाला जिसका उल्लेख "वैदिक वैजयन्ती" में पृष्ठ १२० पर किया है। उक्त विवरण में लिखा है"......सन् १८९७ ई० से सन् १९११ ई० तक १५ वर्ष में

1—The Rise & Growth of Hindi journalism Appendix vi, Page 737

२—आर्य समाज का इतिहास, द्वितीय भाग, प्रथम सं० पं० नरदेव शास्त्री, पृष्ठ ११३

३—समाचार पत्रों का इतिहास, पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेई, पृष्ठ १७१

४—फर्रुखाबाद का इतिहास, पृ० २६३

५—वही, पृष्ठ ३२२

६—समाचार पत्रों का इतिहास, पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेई, पृष्ठ १९०

७—वही, पृष्ठ १९२

सर्वप्रथम प्रेस संचालनार्थ १६ हिस्से प्रति २५ रु० नियत किये गये और १ बैसाख संवत् १९४६ से यह उर्दू साप्ताहिक पत्र डेमी छोटे आठ पृष्ठों का निकाला गया। दो वर्ष तक, प्रति हिस्सा १५ रु० बढ़ाने पर भी, प्रेस घाटे पर चला। तत्पश्चात् महात्मा मुंशीराम ने हिस्सेदारों को रुपया देकर प्रेस पर अधिकार कर लिया और स्वतंत्र रूप से प्रेस चलाने लगे। पत्र की उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी। १ मार्च सन् १९०७ ई० से यह पत्र गुरुकुल कांगड़ी से हिन्दी में निकलने लगा। सन् १९१२ में इस पत्र को दिल्ली आना पड़ा और ३० जनवरी सन् १९१५ से यह पुनः गुरुकुल से प्रकाशित होने लगा।

इस पत्र के सम्पादक प्रारम्भ में महात्मा मुंशीराम और लाला देवराज थे। कुछ समय तक वजीरचन्द्र विद्यार्थी ने सहायता दी तत्पश्चात् महात्मा जी के पुत्रों ने भी कई वर्ष सम्पादन-कार्य किया। हिन्दी में प्रकाशित होने के पूर्व यद्यपि यह पत्र उर्दू भाषा में छपता परन्तु प्रारम्भ से ही इसकी नीति हिन्दी और संस्कृत शब्दों के प्रचार की ओर थी। "उर्दू लिपि में पत्र के निकलने पर भी मुख पृष्ठ पर पत्र का नाम और सब वेद मंत्र आदि भी नागरी अथवा संस्कृत में ही लिखे जाते थे। भाषा में हिन्दी और संस्कृत के शब्द इतने अधिक रहते थे कि उनको सुनने वाले के लिए यह जानना कठिन था कि पत्र किस भाषा में निकलता है।"[1] लिपि परिवर्तन के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी ने स्वयं लिखा था"..........अठारह वर्ष हुये पंजाब में आर्यभाषा के बोलने का भी बहुत कम प्रचार था। फिर आर्यभाषा के लिखने वालों का तो अभाव सा था। संस्कृत के साधारण से साधारण शब्द को भी समझना अच्छे अच्छे आर्यसमाजियों तथा सनातनियों के लिये भी कठिन था। देवनागरी अक्षरों को पहचानने वाले भी मुश्किल से मिलते थे। "प्रचारक" ने सहस्त्रों पुरुषों को इस योग्य बनाया कि वे वेदादि सत्य शास्त्रों के अभिप्राय को समझ सकें। न केवल यही किन्तु "प्रचारक" ने उस मिश्रित भाषा के बेढंगे लेखों से, जिसे उर्दूदां तथा हिन्दी के रसिक दोनों ही द्वेष दृष्टि से देखते थे, अपने लिये खास स्थान बना लिया। "प्रचारक' की इसी कोशिश का नतीजा है कि आज पन्द्रह सौ से अधिक ऐसे पाठक हो गये हैं, जो आर्यभाषा को देवनागरी अक्षरों में पढ़ तथा कुछ समझ सकते हैं।........."[2]

सद्धर्म प्रचारक ने आर्यसिद्धान्तों के प्रचार के साथ साथ हिन्दी को उन्नत करने एवं राष्ट्रभाषा बनाने के लिये भी अथक प्रयत्न किया। १८ अक्टूबर सन् १९०७ के अंक में एक लेख "मातृभाषा और देवनागरी लिपि" पर लिखा है। इसमें लेखक ने लिखा है कि यदि समस्त संसार में नहीं तो भारतवर्ष में अवश्य ही हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि का प्रचार अनिवार्य है। इसी प्रकार २८ फरवरी सन् १९०८ के अंक में सम्पादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत "चिराग तले अँधेरा" शीर्षक से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से हिन्दी प्रयोग की प्रार्थना की है। उसमें लिखा था "आर्य भाषा का प्रचार श्री स्वामी दयानन्द जी ने आर्यसमाज के सभासदों के मुख्य कर्तव्यों में से एक बतलाया था फिर न मालूम सभा के अधिकारी क्यों अपने ऊपर आक्षेप कराते हैं........यह कोई उत्तर नहीं है कि क्लर्क बदलने

१—**"स्वामी श्रद्धानन्द", सत्यदेव विद्यालंकार, प्र० सं०, पृष्ठ १९४**
२—**वही, पृष्ठ १९४-१९५**

पड़ेंगे। यदि क्लर्क बदलने पड़ें तो क्या हानि है? आर्यभाषा जानने वाला क्लर्क मेरी सम्मति में सस्ते मिल सकेंगे।·······यदि यह कहा जावे कि पंजाब में उर्दू भाषा का अधिक प्रचार है इसलिये सभा के कार्यालय का काम उर्दू में होना चाहिए तो क्या पंजाब में मुसलमानी का अधिक प्रचार होने से आर्यों को अपने भी वैसे ही आचार व्यवहार कर लेने चाहिये? जब आर्य समाज के सभासदों को ज्ञात हो जायगा कि उर्दू में उत्तर ही न मिलेगा तो स्वयं आर्यभाषा सीखेंगे। गुरुकुल कार्यालय का पत्र व्यवहार आर्यभाषा में होने का प्रभाव यह पड़ा है कि बहुत से भाइयों ने आर्यभाषा का लिखना पढ़ना सीख लिया है········।" इसी अंक में एक लेख "प्रतिनिधि सभा और देवनागरी" शीर्षक से है जिसे महाशय नरसिंह लाल जी मंत्री आर्य समाज ठठ्ठा (सिंध) ने लिखा है। इस लेख में भी प्रतिनिधि सभाओं से प्रार्थना की गई है कि वे आर्यसमाज के उपनियम के अनुसार अपने कार्य देवनागरी अक्षरों में ही करें। १७ नवम्बर सन् १९०९ के अंक में ब्रह्मचारी हरिश्चन्द्र का एक लेख "ऋषि दयानन्द और आर्य भाषा" शीर्षक से है और १५ दिसम्बर १९०९ के अंक में "एक भाषा एक लिपि" नामक एक लेख "भारतमित्र" से उद्धृत है।

२७ मार्च १९१५ के अंक में एक लेख "मातृभाषा की आह" शीर्षक से है। इसमें लेखक ने वाइसराय की कौंसिल के सदस्यों की हिन्दी विरोधी नीति पर शोक प्रकट किया है। १५ श्रावण संवत् १९७३ के अंक से "मातृभाषा को धर्म समझो" इस नाम से एक टिप्पणी है। जिसका आशय यह है कि भारतीय जितना समय और परिश्रम अँग्रेजी समझने और लिखने में लगाकर कुछ भी नहीं बन पाते उसका एक तिहाई समय लगाकर हिन्दी के अच्छे विद्वान और लेखक बन सकते हैं। भारत में मातृभाषा का उद्धार तो तभी हो सकता है जब शिक्षित समुदाय अँगरेजी लिखना अपराध और मातृभाषा में लिखना धर्म समझे। २५ नवम्बर १९१६ के सम्पादकीय में "हिन्दू यूनिवर्सिटी में आर्यभाषा" शीर्षक से हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी न होने पर शोक प्रकट किया गया है।

इस प्रकार "सद्धर्म-प्रचारक" प्रारम्भ से अंत तक हिन्दी का प्रचार करता रहा। आर्यसमाज के क्षेत्र में हिन्दी के अभाव की पूर्ति तो इसने की ही परन्तु समाज के बाहर भी हिन्दी का सदैव पक्ष लिया। ३ मई सन् १९१३ ई० के अंक में इस पत्र ने महामना पं० मदनमोहन मालवीय के प्रति विरोध प्रकट किया था जब उन्हें काशी विश्वविद्यालय को स्वीकृत (Chartered University) बनाने के लिए हिन्दी द्वारा उच्च-शिक्षा के विचार को स्थगित करना पड़ा था।

आर्य सेवक (१९०० ई०)

"आर्य सेवक नाम का पाक्षिक पत्र नरसिंहपुर से प्रकाशित हुआ। इसका आकार १३×९ और वार्षिक मूल्य डेढ़ रुपया था। इसके सम्पादक पं० गणेशप्रसाद शर्मा थे और यह मध्यप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र था।" सन् १९०९ में यह मासिक हो गया।[1]

१—समाचार पत्रों का इतिहास, पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेई, पृष्ठ २३७

था। इस विषय में श्री बाजपेयी जी ने लिखा है "जहाँ तक हमें स्मरण हैं ये बैरिस्टर रोशनलाल की पत्नी थी, जो आर्यसमाजी थे। यह सरस्वती प्रेस प्रयाग से भीमसेन शर्मा द्वारा प्रकाशित होती थी। पहले इसका आकार १०×६१ था और वार्षिक मूल्य १ रु० पर जब इसी वर्ष यह लाहौर चली गई तब आकार १०×७॥ हुआ और वार्षिक मूल्य २ रु०। फिर यह पाक्षिक हुई और इसका मूल्य १ रु० ९ आ० किया गया। यह अवस्था सन् १९०६ तक रही।"[1]

राजस्थान समाचार (१८८९)

यह पत्र अजमेर से मुंशी समर्थदान ने निकाला था। "इस साप्ताहिक पत्र का मूल्य साढ़े तीन रुपये था और यह दो रायल शीट के १६ पृष्ठों में निकलता था।"[2] मुंशी समर्थदान वैदिक मंत्रालय के प्रबन्धक थे। उनकी ही देखरेख में सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण स्वामी जी के निर्देशानुसार छपा। मुंशी समर्थदान स्वामी जी से पूर्ण-रुपेण प्रभावित थे। धर्मनिष्ठा, देश-भक्ति, हिन्दी के प्रति प्रेम आदि भाव उन्हें स्वामी जी से ही प्राप्त हुए थे। अतः इस हिन्दी पत्र का सम्पादन स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की ही प्रेरणा का फल था। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अन्तिम समय में उनके विचार परि-वर्तन की ओर संकेत किया है परन्तु हिन्दी-सेवा और पत्र-संम्पादन की मूल प्रेरणा उन्हें आर्य समाज से ही मिली, इसमें सन्देह नहीं।

परोपकारी (१८९०)

यह पत्र आर्यसमाज की परोपकारिणी सभा का था और मासिक था। प्रारम्भ में यह आगरे से निकला पश्चात् अजमेर से। यह १६ मास चलकर बंद हो गया। यह मासिक पत्र सन् १९०६, १९०७, १९०८ में अजमेर से पुनः निकला। इसके संपादक पं० पद्म-सिंह जी शर्मा थे। लगभग एक या दो साल चला।

तिमिर नाशक (१८९०)

यह मासिक पत्र था। इसके सम्पादक पं० कृपाराम जी थे। पं० कृपाराम के पश्चात् स्वामी दर्शनानन्द हुये)। आर्यसमाज के सिद्धान्तों की पुष्टि में यह समाचार पत्र निकाला गया था। यह तिमिर नाशक प्रेस में छपता था।

ब्रह्मावर्त (१८९०)

यह पत्र खीरी आर्यसमाज की ओर से निकलता था और वहीं के आर्यभास्कर प्रेस में छपता था।

आर्यमित्र (१८९७-९८)

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख-पत्र आर्यमित्र सन् १८९७ में निकला। वैदिक वैजयन्ती में लिखा है कि सन् १८९७-९८ से १९१०-११ तक आर्यमित्र की आय

१—समाचार पत्रों का इतिहास पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, पृष्ठ १९७

२—वही, पृष्ठ २०२

३३१२७।-) १० और व्यय ४३९२२॥।) १/२ हुआ....."[1] इससे ज्ञात होता है कि यह पत्र सन् १८९७ ई० के किसी मास से प्रारम्भ हुआ होगा।

पहले यह पत्र उर्दू में निकलता था सन् १९०० ई० से हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। इसके प्रारम्भिक सम्पादकों में पं० बदरीदत्त शर्मा, पं० नन्दकुमार देव शर्मा, सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा और पं० शिवशंकर जी काव्यातीर्थ भी रह चुके हैं। पं० हरिशंकर शर्मा इसके सम्पादक सन् १९२६ से १९३४, १९४६-४७ और १९५१-५२ में रह चुके हैं। उनके सम्पादकत्व में पत्र में साहित्यिकता की वृद्धि हुई। पंडित जी के लेख और हास्य रस के चुटकले बड़े महत्वपूर्ण और चुटीले निकलते थे। 'विनोन विन्दु' नामक हास्यरस का स्तंभ आर्यमित्र में बड़ी प्रसिद्धि पा चुका है। शर्मा जी से पूर्व पंडित रुद्रदत्त जी संपादकाचार्य भी "पंच-प्रपंच" के अन्तर्गत हास्यरस की वार्ता लिखा करते थे।

यह पत्र संभवतः १९२५ ई० में कुछ समय के लिये दैनिक हो गया था परन्तु अधिक न चल सका। आर्य समाज के संगठन में रहने के कारण इसका साप्ताहिक संस्करण चलता ही रहा यद्यपि इसे अनेक आघातों का सामना करना पड़ा। आर्य प्रतिनिधि सभा के कतिपय उत्साही कार्यकर्ताओं के प्रयत्न से यह पत्र पुनः २८ मार्च सन् १९५५ से दैनिक हो गया है। साप्ताहिक संस्करण भी यथापूर्व चल रहा है।[2]

पांचाल पंडिता (१८९७)

यह कन्या महाविद्यालय जालंधर की मासिक मुख पत्रिका थी। यह १५ नवम्बर सन् १८९७ ई० में प्रारम्भ हुई। इससे प्रारम्भिक सम्पादकों में लाला देवराज और लाला बद्रीदास एम० ए० थे। इसका वार्षिक चन्दा डेढ़ रुपया था। इसमें चार पृष्ठ अंगरेजी के भी निकलते थे। पत्रिका का मूल उद्देश्य स्त्री-जाति में विद्या-प्रचार तथा जागृति उत्पन्न करना था।

१५ अप्रैल सन् १९०१ से यह पत्रिका पूर्णतया हिन्दी में हो गई और इसके सम्पादक केवल लाला देवराज जी ही रह गये। १५ जुलाई सन् १९०१ से इसमें अन्तिम चार पृष्ठ छोटी बालिकाओं के लिये "सुकुमारी" नाम से निकलने लगा। जनवरी १९०३ ई० से श्रीमती सावित्री देवी का नाम उपसम्पादिका के रूप में छपने लगा।

सन् १९०५ ई० में इस पत्रिका के संचालन में घाटा होता रहा परन्तु येन केन प्रकारेण चलती रही। इस वर्ष पंजाब के शिक्षा संचालक (D. P. I.) महोदय ने इस पत्रिका को राजकीय पाठशालाओं में प्रचलित करने के लिये आज्ञा प्रदान की। "पांचाल पंडिता" के अगस्त १९०८ तक के अंश देखने को मिले पश्चात् यह पत्रिका कब बन्द हुई यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संभवतः १९१३-१४ ई० तक यह चली है।

सद्धर्म प्रचारक (सन् १८८९ ई०)

इस पत्र का प्रारम्भ महात्मा मुंशीराम जी (पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द) ने किया

१—वैदिक वैजयन्ती मदनमोहन सेठ, पृष्ठ १२७

२—२० फरवरी सन् १९५६ से दैनिक आर्यमित्र का प्रकाशन बन्द हो गया।

वस्तुतः यह पत्र कभी सुचारु रूप से न चल सका अतः कभी मासिक, कभी पाक्षिक और कभी साप्ताहिक रूप धारण करता रहा।

दयानन्द पत्रिका (१९०७ ई०)

इसे पं० तुलसीराम ने स्वामी प्रेस मेरठ से निकाला था। यह मासिक पत्रिका थी। इसके सम्पादक पं० मुसद्दीराम थे।

भारतोदय (१९०९ ई०)

यह मासिक पत्र ज्वालापुर महाविद्यालय से निकाला गया था। इसके सम्पादक पं० पद्मसिंह शर्मा और पं० नरदेव शास्त्री भी रह चुके हैं। पहले इसका वार्षिक मूल्य डेढ़ रुपया था। इसके विषय में पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है "मासिक पत्रों में भाषा और विचारों की दृष्टि से ज्वालापुर महाविद्यालय का "भारतोदय" सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।"[1] पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं० नाथूराम शर्मा "शंकर" जैसे प्रसिद्ध साहित्यिकों के लेख भी इस पत्र में निकलते थे।

यह पत्र अनेक कठिनाइयों के कारण नियमित और सुचारु रूप से न चल सका। जून सन् १९४० ई० की निम्न सम्पादकीय टिप्पणी से इस पत्र की स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है :—

"……भारतोदय ने जनवरी १९०९ में जन्म ग्रहण किया और तब से अब तक करीब ३५ वर्ष से भारतोदय निकल रहा है, तथा जनता की सेवा कर रहा है। यह दूसरी बात है कि आर्थिक कठिनाइयों, परिस्थितियों तथा तात्कालिक अधिकारियों की विचार-धारा के कारण यह सुषुप्ति का भी अनुभव करता रहा है। पर अनुग्राहकों, ग्राहकों तथा प्रेमियों की कृपा से भारतोदय को यह दिन न देखने पड़ेंगे।"

उषा (१९०९ ई०)

यह मासिक पत्रिका श्री धर्मपाल बी० ए० (जो पहले मुसलमान थे और शुद्ध होकर हिन्दू बने थे) के सम्पादकत्व में लाहौर से प्रकाशित हुई। थोड़े समय पश्चात् यह बन्द हो गई। कई वर्ष पश्चात् पं० संतराम जी ने एक पत्रिका "उषा" नाम से निकाली। प्रतीत होता है कि सन् १९०९ वाली उपर्युक्त "उषा" से उसका कोई सम्बन्ध न था। पंडित जी ने मुझे एक पत्र में लिखा है "सन् १९१४ में मैंने लाहौर से "उषा" नाम मासिक पत्रिका निकाली थी। वह भी दो वर्ष चलने के बाद जमानत हो जाने के कारण बन्द हो गई थी। उस समय पंजाब में हिन्दी का कुछ भी प्रचार नहीं था और मासिक पत्रों को ग्राहक भी बहुत कम मिलते थे।"

पं० संतराम जी ने दो पात्रों के नाम और बताये हैं और लिखा है "लाहौर से पं० चरनदास जी ने भी "चाँद" नामक मासिक पत्र निकाला था। इसके बाद उन्होंने साप्ताहिक "प्रभात भी श्री यज्ञदत्त विद्यालंकार के सम्पादकत्व में निकाला था। ये सब आर्यसमाजियों के ही पत्र थे।"

१—समाचार पत्रों का इतिहास, पं०अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ २३७

नवजीवन (१९१० ई०)

यह आर्यकुमार परिषद का मासिक पत्र था। इसका आकार ९'×६॥' और मूल्य ३ रुपया वार्षिक था। यह आर्यकुमार परिषद का मुख-पत्र था और सम्पादक थे डा० केशवदेव शास्त्री। यह सन् १९१९ तक चलता रहा।

सत्य सनातनधर्म (१९१० ई०)

सनातनधर्मियों के "सनातन धर्म" पत्र के प्रत्युत्तर में आर्यसमाजियों ने भी "सत्य सनातन धर्म" नामक साप्ताहिक पत्र कलकत्ते से निकाला था।

आर्य (१९१४ ई०)

यह आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र लाहौर से मासिक रूप में निकला। इसके संपादक पं० चमूपति जी थे। इसका आकार १०'×६॥' और वार्षिक मूल्य २ रु० था। यह हिन्दी, उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित होता था।

ब्रह्मर्षि (१९१८ ई०)

यह साप्ताहिक पत्र मेरठ के स्वामी प्रेस से छुट्टनलाल स्वामी के सम्पादकत्व में निकलता था। वार्षिक मूल्य डेढ़ रु० था।

धर्मवीर (१९१८ ई०)

श्री भवानी दयाल जी द्वारा सम्पादित साप्ताहिक पत्र था। यह हिन्दी और अंगरेजी में निकलता था।[1]

आर्यकुमार (१९१९ ई०)

यह भारतवर्षीय आर्यकुमार-परिषद् द्वारा संचालित किया गया था। कुछ समय तक यह फतेहपुर से साप्ताहिक रूप में भी निकला था। सन् १९२३ ई० में डा० केशवदेव शास्त्री के सम्पादकत्व में इसे मासिक रूप में निकाला गया। संक्षेप में इस पत्र की कथा निम्नलिखित है।

" "आर्यकुमार" पत्र इससे पूर्व द्विमासिक रूप में लखनऊ से निकला था, परन्तु दो तीन अंक निकल कर रह गया। फिर श्री मथुरा प्रसाद जी शिवहरे वर्तमान अध्यक्ष आर्य साहित्य मंडल अजमेर ने इसे फतेहपुर से साप्ताहिक रूप में कई मास तक बड़ी शान से निकाला मगर वह कुछ मास बाद बन्द हो गया। दिल्ली से "आर्यकुमार" पत्र कलकत्ते चला गया था और वहाँ पर श्री विश्वम्भर प्रसाद जी शर्मा ने इसे बड़ी शान के साथ साल डेढ़ साल तक निकाला। बीच में कुछ बन्द होकर फिर दिल्ली से यह पत्र निकलता रहा और जब परिषद का दफ्तर दिल्ली से चला गया, तो पत्र बन्द हो गया, मगर फिर कानपुर से कुछ मास निकला और बन्द हो गया।"[2]

१—विशेष विवरण "विदेशों में हिन्दी कार्य" नामक अध्याय में देखिये।
२—"उन्नति की ओर" (भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद की रजत जयंती स्मारक पुस्तिका) संपादक डा० युद्धवीर सिंह, पृष्ठ १३८

वदिक मार्तंड (१९१९ ई०)

मास्टर आत्माराम अमृतसरी द्वारा प्रकाशित द्विमासिक पत्र वार्षिक मूल्य २।) यह कोल्हापुर से प्रकाशित होता था।

भारती (१९२० ई०)

यह मासिक पत्रिका जनवरी सन् १९२० ई० में पं० संतराम जी के सम्पादकत्व में निकली। दो वर्ष चलने के पश्चात् यह स्थगित हो गई। कन्या महाविद्यालय जालंधर से ही यह पत्रिका निकली थी।

श्रद्धा (१९२० ई०)

यह साप्ताहिक पत्रिका स्वामी श्रद्धानन्द जी के संपादकत्व में गुरुकुल कांगड़ी से निकलती थी। इसके प्रकाशन के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए उक्त स्वामी जी ने प्रथम उद्देश्य में लिखा था :

(१) "मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और स्वाभाविक समझता हूँ। इसलिये इस "श्रद्धा" के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि के द्वारा मात्रा पर भेजा करूँगा। प्रश्न हो सकता है कि समय की भाषा अँगरेजी होने के कारण तुम्हारा साप्ताहिक सन्देश देश के बड़े विचारक भाग तक न पहुँच सकेगा। परन्तु मेरा मन साक्षी देता है कि यदि मेरे पास कुछ वास्तविक सन्देश नहीं तो अँगरेजी द्वारा भी कोई न सुनेगा और यदि कोई सन्देश है तो अँग्रेजी वर्णों को उसे समझने के लिये बाधित होना पड़ेगा।"[1]

इस पत्रिका के १६ जुलाई १९२० ई० के अंक में एक लेख "हिंदी पर अंग्रेजी की कलम मत लगाओ" शीर्षक से है। इसमें लेखक ने हिन्दी पत्र के सम्पादकों एवं अन्य लेखकों से यह प्रार्थना की है कि वे हिन्दी में अंगरेजी शब्दों का प्रयोग न करें। अपने भावों को स्पष्ट करते हुये लेखक ने लिखा है "अन्त में, हम अपने भावों को फिर स्पष्ट कर देना चाहते हैं। हम यह नहीं कहते कि अंगरेजी से हिन्दी में कोई शब्द न लिया जावे, क्योंकि उन्नति के लिये शब्द परिवर्तन भी आवश्यक है। परन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि अपनी भाषा में उचित और उत्तम शब्दों के होते हुये भी हम हिन्दी पर अंगरेजी की कलम चढ़ावें जैसा कि आजकल हमारे सामयिक साहित्य में हो रहा है यह प्रवृत्ति बहुत भयंकर है, जिसके लिये हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिए। हम जहाँ अन्त में अपने सहयोगी मित्रों से प्रार्थना करते हैं कि वे अभी से इसे रोकने का प्रबन्ध करें, वहाँ हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति से भी सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वह एक उपसमिति संगठित करावे जो इस बात का निर्णय करे कि अंगरेज़ी के किन किन शब्दों का, अनिवार्य रूप से, हिन्दी में प्रयोग आवश्यक है और संदिग्ध अंगरेजी शब्दों का हिन्दी रूप क्या क्या है।"

१—"श्रद्धा", २३ अप्रैल सन् १९२० ई०।

इस प्रकार श्रद्धा में महत्वपूर्ण लेख हिन्दी के सम्बन्ध में बहुधा निकला करते थे।

वैदिक सन्देश (१९२१ ई०)

यह पत्र श्री विश्वनाथ विद्यालंकार, चन्द्रमणि और देवराज सिद्धान्तालंकार के संपादकत्व में आर्य सिद्धान्तों के प्रचारार्थ गुरुकुल कांगड़ी से निकलता था।

हिन्दी (१९२२ ई०)

दक्षिण अफ्रीका के नेटाल प्रान्तान्तर्गत डरबन नगर से यह पत्र श्री भवानीदयाल सन्यासी और श्री मातावदल द्वारा क्रमशः अँगरेजी और हिन्दी में संपादित होता था। इसका विशेष विवरण आगे "विदेशों में हिन्दी कार्य" नामक अध्याय में दिया जायगा।

जलविद् सखा (१९२२ ई०)

इस मासिक पत्र के संचालक लाला देवराज जी थे। यह जालंधर महाविद्यालय का मुख पत्र था। जल जालंधर और विद् विद्यालय इस प्रकार इसका नाम "जलविद सखा" पड़ा। इसके संपादकों में पं० चेतराम और कुमारी शकुन्तला देवी स्नातिका भी रह चुकी हैं। इस पत्र में अधिकतर विद्यालय के समाचार और वहाँ की बालिकाओं के लेख, कविता, छोटी कहानियाँ और हिन्दी के सम्बन्ध में भी लेख बहुधा निकलते रहते हैं। मार्च सन् १९३४ के अंक में एक लेख "सम्मेलन पत्रिका" से उद्धृत है जिसमें पंजाब के डाक-विभाग द्वारा हिन्दी की अवहेलना करने पर विरोध किया गया है। जून सन् १९३४ के अंक में "जय हिन्दी जननी" शीर्षक से एक कविता पं० चेतराम शर्मा की छपी है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष के अंकों में हिन्दी के विषय में चर्चा अवश्य रहती है।

अर्जुन (१९२३ ई०)

इस दैनिक पत्र के संपादक सुप्रसिद्ध पत्रकार आर्य नेता श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति थे। अर्जुन का साप्ताहिक संस्करण भी प्रकाशित होता था। पश्चात् इन्द्र जी का इस पत्र पर अधिकार नहीं रहा और वे "जनसत्ता" नामक दूसरा समाचार पत्र निकालने लगे थे।

सत्यवादी (१९२३ ई०)

इस साप्ताहिक पत्र के संपादक भी पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी थे। इसका वार्षिक मूल्य ३।।) रु० था।

आर्य मार्तंड (१९२३ ई०)

यह साप्ताहिक पत्र आर्य प्रतिनिधि सभा अजमेर (राजस्थान) का मुख पत्र है। इसके संपादक श्री रामसहाय जी आर्योपदेशक थे। इसका आकार १६" × १०" और वार्षिक मूल्य २ रु० था

अलंकार (१९२४ ई०)

यह मासिक पत्र जून सन् १९२४ ई० में गुरुकुल कांगड़ी से निकला इसके संपादक

मंडल में पं० सत्यव्रत जी, पं० चन्द्रमणि जी, पं० धर्मदत्त जी, पं० वागीश्वर जी और पं० सत्यकेतु जी थे। इस पत्र का उद्देश्य वेद-प्रचार तथा आर्य-साहित्य की वृद्धि करना था। जुलाई में इस पत्र की रूप-रेखा बदल गई और संपादक आचार्य देवशर्मा जी अभय हो गये। हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में भी इस पत्र में लेख और सूचनायें बहुधा प्रकाशित होती रहती थीं।

आर्यजगत (१९२४ ई०)

इस मासिक पत्र के सम्पादक श्री खुशहाल चन्द खुरसन्द थे। इसका आकार १५"× १०" और वार्षिक मूल्य ४ रू० था। यह पंजाब सिंध और बिलोचिस्तान आर्य प्रादेशिक सभा का मुखपत्र था। आर्य डायरेक्टरी में इसे साप्ताहिक लिखा है अतः ज्ञात होता है कि यह पश्चात् साप्ताहिक हो गया होगा।

आर्य गजट (१९२४ ई०)

इस पत्र के सम्पादक भी लाला खुशहाल चन्द जी खुरसन्द थे और यह लाहौर से निकलता था।

आर्य जीवन (१९२४ ई०)

यह बंगाल-विहार आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र था। इसके संपादक पंडित जयदेव शर्मा थे यह कलकत्ते से निकला था। इसका आकार १३"× १०" और वार्षिक मूल्य ३ रु० था।

गुरुकुल समाचार (१९२४ ई०)

इस मासिक पत्र के सम्पादक श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार थे। इसका आकार १०"× ६॥" और वार्षिक मूल्य ३ रु० था।

सत्यवादी (१९२५ ई०)

इस साप्ताहिक के संपादक श्री भीमसेन जी विद्यालंकार थे संभवतः यह वही पत्र था जिसे श्री इन्द्र ने सन् १९२३ में निकाला था।

प्रकाश (१९२५ ई०)

यह आर्यसमाज का साप्ताहिक पत्र लाहौर से हिन्दी और उर्दू में निकलता था।

सार्वदेशिक (१९२७ ई०)

आर्य समाजों की केन्द्रीय संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपना मुखपत्र "सार्वदेशिक" नाम से निकाला। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य अन्तर्गत समाजों की विज्ञप्तियों द्वारा सूचना देना, आर्य सिद्धांतों का प्रचार करना और आर्य संगठन को दृढ़ करना है। हिन्दी तो आर्यसमाज की कार्य-भाषा है ही। अतः हिन्दी द्वारा यह पत्र उक्त उद्देश्यों की पूर्ति करता रहा है। समय समय पर इस पत्र ने अनेक विशेषांक भी निकाले हैं।

हिन्दी मिलाप (१९२८ ई०)

इस दैनिक पत्र के संचालक श्री खुशहाल चन्द जी खुरसंद थे। पहले यह लाहौर से निकलता था। पाकिस्तान निर्माण के पश्चात जालंधर से निकलने लगा। स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार और उनकी अधिकार रक्षा के लिये इसने विशेष प्रयत्न किया।

वेदोदय (१९३० ई०)

यह मासिक पत्र प्रयाग से निकलता था। इसके संपादक आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय और उनके सुयोग्य पुत्र श्री विश्वप्रकाश जी थे। यह पत्र सन् १९३४ ई० तक चलता रहा। तत्पश्चात् आर्थिक हानि के कारण इसे स्थगित करना पड़ा। इस पत्र में आर्य विद्वानों, आर्य पत्रों, आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धांतों आदि के सम्बन्ध में विद्वतापूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुआ करते थे।

गुरुकुल (१९३६ ई०)

यह साप्ताहिक पत्र १० अप्रैल सन् १९३६ ई० में गुरुकुल कांगड़ी से निकला। आर्यसमाज में गुरुकुलीय शिक्षा का प्रचार, स्नातकों एवं उनके संरक्षकों की सेवा इस पत्र के मुख्य उद्देश्यों में से था। हिन्दी के सम्बन्ध में भी इसमें बहुधा लेख निकला करते थे। २५ जुलाई सन् १९३६ के अंक के मुख्य लेख में पंजाब के आर्यसमाजों से हिन्दी पढ़ने एवं इस भाषा के प्रचारार्थ हिन्दी के अन्य पत्रों के मँगाने का सुझाव प्रस्तुत किया गया है। २६ फरवरी सन् १९३७ के अंक में वर्धा के हिन्दी-प्रचार मंत्री श्री सत्यनारायण जी का एक लेख छपा है जिसमें उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से राष्ट्रभाषा आन्दोलन का इतिहास लिखने की प्रार्थना की हैं। इसमें मंत्री जी ने अपने १८ सुझाव रक्खे हैं। ७ मई १९३७ के अंक में "भाषा की प्रगति" पर एक लेख है और १४ मई १९३७ के अंक में "हिन्दी पर कुठाराघात" नामक लेख छपा है। इस लेख में बीकानेर के नये दीवान से उस आज्ञापत्र का विरोध किया है जिसमें उन्होंने राजकीय प्रयोगों में न्यायालयों की भाषा अँग्रेजी रक्खी है। २० अगस्त १९३७ के अंक में श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार का एक लेख है जिसका शीर्षक है "संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है।"

इस पत्र के १७ दिसम्बर १९३७ के अंक में सम्पादकीय लेख के अन्तर्गत गुरुकुल द्वारा की गई हिन्दी-सेवा का वर्णन है। इसी में लिखा है कि कठिनाइयों और विरोधों के मध्य स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल शिक्षा का माध्यम हिन्दी रक्खा इस कारण कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन के श्री माइकेल सेडलर तथा आशुतोष मुकर्जी यहाँ से बहुत प्रभावित हुये। इसी प्रकार इस पत्र के विभिन्न अंकों में "हिन्दी अनिवार्यता", "हिन्दी भाषा के प्रयोग", "तुलसीदास", "राष्ट्रभाषा", "स्वर्गीय महावीर प्रसाद जी द्विवेदी" आदि विषयों पर लेख लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सूचनायें और पंजाब एवं युक्तप्रान्तीय (उत्तर प्रदेश) सरकार से हिन्दी अपनाने के विषय में समय-समय पर प्रार्थना की गई है।

आर्य संदेश (१९३६-३७ ई०)

आगरे से पं० हरिशंकर जी द्वारा संपादित स्वामी परमानन्द जी के प्रयत्न से ६-८ मास चला।

जागृति (१९४० ई०)

यह पत्र आर्यसमाज से प्रभावित है। इसके संरक्षक श्री मिहिरचंद जी धीमान हैं जो आर्य-प्रतिनिधि-सभा बंगाल के पदाधिकारियों में से हैं। इस पत्र के दैनिक और साप्ताहिक दोनों संस्करण निकलते हैं।

सम्राट (१९४७ ई०)

यह साप्ताहिक पत्र दिल्ली से १८ मई सन् १९४७ ई० से निकलता रहा है। इसके संस्थापक श्री जगदेव सिंह शास्त्री सिद्धान्ती और सम्पादक पं० रघुवीर सिंह शास्त्री वेद-वाचस्पति रहे हैं। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित वैदिक सिद्धान्तों का प्रसार एवं संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का प्रचार इसके उद्देश्यों में से रहा है। इस पत्र की आर्थिक स्थिति सदैव विषम रही है। १ नवम्बर सन् १९५५ ई० से इस पत्र का प्रकाशन स्थगित है। संस्थापक महोदय पुनः प्रकाशनार्थ प्रयत्नशील हैं।

गुरुकुल पत्रिका (१९४८ ई०)

यह गुरुकुल कांगड़ी की मुख पत्रिका है। इसका उद्देश्य गुरुकुल-शिक्षा का प्रचार एवं भारतीय संस्कृत की व्याख्या है। इस पत्र में भी समय समय पर हिन्दी के सम्बन्ध में लेख निकलते रहे हैं यथा "जीव विज्ञान के हिन्दी शब्द" लेखक श्री चम्पत स्वरूप जी, "हमारे देश के वैज्ञानिक शब्दावली आंग्ल हो या भारतीय" लेखक डा० रघुवीर, "राष्ट्र-भाषा का प्रश्न" लेखक श्री सत्यकाम जी। इसके अतिरिक्त अनेक रोचक और खोजपूर्ण लेख भी लिखे हुए मिलते हैं जिनमें "भारत में ऐनकों का इतिहास" और "भारत में रज्जु निर्माण का रोचक इतिहास" श्री पी० के० गोडे द्वारा लिखा गया है। "जन्तुओं की पूँछ" श्री राधाकृष्ण कौशिक एम० एस० सी० और "मध्यकालीन भारत में डाक व्यवस्था" श्री पी० के० गोडे द्वारा लिखित अत्यन्त मनोरंजक लेख हैं।

भाद्रपद २००६ के अंक में एक लेख डा० रघुवीर का है जिसका शीर्षक "राष्ट्र भाषा के विवाद में साम्प्रदायिकता का घातक दृष्टिकोण"। इस लेख में उन्होंने काका कालेल-कर, आचार्य विनोबा और किशोरीलाल मश्रूवाला के संयुक्त वक्तव्य का उत्तर दिया है। विद्वान लेखक के कथन का सारांश है कि हिन्दुस्तानी कोई भाषा नहीं है महात्मा गाँधी ने अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में हिन्दी को अखिल भारतीय भाषा का रूप दिया परन्तु मुसलमानों को संतुष्ट करने और उन्हें अहिंसा मार्ग पर चलाने के लिये उन्होंने हिंदी शब्द छोड़कर हिन्दी साहित्य सम्मेलन से नाता तोड़ लिया और हिन्दुस्तानी स्वीकार किया। यह मुसल-मानों की हठधर्मी का परिणाम था। कथित हिन्दुस्तानी उर्दू ही है। हिन्दुस्तानी किसी विश्वविद्यालय के कलेंडर में लिखा नहीं मिलता। सभी भाषा के शब्दों को मिलाकर बोलने का प्रयत्न तो किसी पागलखाने के निवासी बनाने के समान है।

इस प्रकार हिन्दी के सम्बन्ध में विद्वानों के विवेचनात्मक लेखों द्वारा यह पत्रिका प्रारम्भ से ही उसका पृष्ठपोषण कर रही है।

वेदवाणी (१९४९ ई०)

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट की यह प्रसिद्ध मासिक पत्रिका श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के संपादकत्व में बनारस से निकलती है। इसमें उच्चकोटि के विद्वानों के गंभीर लेख वेद, आर्यसमाज एवं स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में निकलते रहते हैं। पत्र सुचारु रूप से चल रहा है।

वेद-पथ (१९४९ ई०)

वानप्रस्थ मंडल ज्वालापुर जिला सहारनपुर से यह मासिक पत्र स्वामी वेदानन्द जी के संपादकत्व में निकलता है। मुख पृष्ठ पर पत्र का उद्देश्य "वैदिक आचार विचार व्यवहार प्रसारक" लिखा है। लेख उच्चकोटि के हैं परन्तु पत्र की दशा अच्छी नहीं है।

मानव-पथ (१९५२ ई०)

इस पत्र के संस्थापक श्री ओउम् प्रकाश पुरुषार्थी और सम्पादक श्री ब्रह्मचारी उषर्बुध जी हैं। पत्र दिल्ली से निकलता है और आर्यवीर दल का प्रतीत होता है। पत्र में सामयिक लेख भी हैं दशा सन्तोषजनक नहीं है।

आर्य शक्ति (संवत २०१०)

इस मासिक पत्रिका के सम्पादक श्री पं० रुद्रमित्र जी एवं उपसम्पादिका सुश्री विद्यावती शर्मा हैं। यह आर्यसमाज फोर्ट बम्बई से निकलता है।

———

५

आर्यसमाज का गद्य-साहित्य

आर्यसमाज का गद्य-साहित्य और स्वामी जी का नेतृत्व

प्रथम अध्याय में १९ वीं शती के उत्तर काल में प्रचलित गद्य-धारा पर विचार हो चुका है। उस काल में हिन्दी-गद्य का परिमार्जित रूप निखर न सका था। अनेक विद्वान् स्वयं-निर्मित शैली को ही मुख्यता प्रदान करते थे। स्वामी दयानन्द ने भी ऐसे ही अनिश्चित काल (१८७४) में अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश की रचना की थी। पूर्व उल्लेखानुसार स्वामी जी ने यह ग्रंथ स्वयं न लिखकर दूसरे लेखक से वाचानुलेखन द्वारा लिखवाया था। दूसरे लेखक ने किस प्रकार की भाषा बनाई और अपने भाव कहाँ कहाँ उसमें प्रविष्ट किये यह बात स्वयं स्वामी जी को कुछ समय पश्चात् ज्ञात हुई। यद्यपि स्वामी जी ने सिद्धान्त-विरुद्ध प्रविष्ट वाक्यों का प्रतिवाद ज्ञात होते ही निकाल दिया था और वे स्वयं भाषा और भाव की दृष्टि से दूसरा शुद्ध संस्करण निकलवाने के हेतु प्रयत्नशील थे। इस समय तक स्वामी जी ने हिन्दी भाषा में लिखने और व्याख्यान देने का अभ्यास कर लिया था अतः अपने जीवनकाल में ही दूसरा शुद्ध संस्करण वे प्रकाशित करवाना चाहते थे। दूसरा संस्करण (१८८४) निकलने के पश्चात् आर्यजगत को एक ऐसा ग्रंथ-रत्न प्राप्त हुआ जिसके आधार पर भविष्य में अनेक ग्रंथों की रचना, हुई और आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ। आर्यसमाज के प्रचार-साहित्य, सिद्धांत-ग्रंथों की रचना, शास्त्रार्थ और व्याख्यान के कारण ही हिन्दी-गद्य पुष्ट हुआ, उसमें तर्क, बल ओज और व्यंग्य का सम्मिश्रण हुआ और उसे व्यापकता भी प्राप्त हुई।

१९ वीं शती का आर्यसामाजिक गद्य-साहित्य

स्वामी जी के पश्चात् १९ वीं शती में किसी आर्यसामाजिक विद्वान ने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण और व्याख्या के हेतु महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना नहीं की। उस समय सिद्धांत-ग्रंथ के रूप में सत्यार्थप्रकाश ही पर्याप्त था। अन्य विद्वानों ने या तो समाचार-पत्रों का वैदिक सिद्धान्तों के प्रचारार्थ प्रकाशन किया अथवा अन्य सुधार सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। ये पुस्तकें अत्यन्त अल्प मूल्य की थीं जिन्हें साधारण श्रेणी का मनुष्य भी पढ़ कर आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हो सकता था। दूसरे प्रकार की पुस्तकें जो जनता को आकृष्ट

करती थीं, खंडनमंडनात्मक एवं शास्त्रार्थ सम्बन्धी थीं। इन पुस्तकों के पठन से सनातन-धर्म और आर्यसमाज की विचारधाराओं का ज्ञान होता था। जनता एक दूसरे के उत्तर में दिये गये प्रमाणों को पढ़ती और उसमें रुचि लेती थी। यह कार्य अधिकतर समाचार पत्रों के द्वारा ही हुआ।

२० वीं शती के ग्रन्थ

२० वीं शती में आर्यसमाज में अनेक उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना हुई। गम्भीर और गवेषणात्मक लेख भी लिखे गये। वेद आर्यसमाज के सिद्धान्तों का आधार है। अतः वैदिक विषयों पर कितने ही लेख लिखे गये और पुस्तकें रची गईं। इन पुस्तकों और लेखों के मुख्यतः वे ही विषय हैं जो विवादास्पद हैं और उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिन्हें आर्यसमाज मानता है। जैसे वेद के देवताओं से क्या अभिप्राय है, अग्नि, वरुण, शिव, इन्द्र आदि परमात्मा के विभिन्न नाम हैं, वेदों में इतिहास सम्भव नहीं है, वेद अपौरुषेय हैं, वेदों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का मूल रूप विद्यमान है आदि।

खंडनमंडनात्मक साहित्य

१९ वीं शताब्दी के अंत और २० वीं के प्रारम्भ से ही खंडनमंडनात्मक साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया। उन दिनों शास्त्रार्थों के बाढ़ के कारण भी इस प्रकार की पुस्तकें अधिकता से लिखी गईं जिनमें अन्य धर्मावलम्बियों के सिद्धान्तों का खंडन और अपने पक्ष का मंडन किया गया था। गंगा-माहात्म्य, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, बालविवाह खंडन, विधवा-विवाह-मंडन आदि सनातन धर्मियों से सम्बन्धित विषयों पर ही नहीं अपितु इस्लाम और ईसाई मतों के विरुद्ध भी अनेक पुस्तकें लिखी गईं।

अनुवाद-ग्रंथ

वेदों के अतिरिक्त दर्शन, उपनिषद और ब्राह्मण ग्रंथों के अनुवाद अनेक आर्यविद्वानों ने किये। वेद-भाष्य स्वामी दयानन्द की ही शैली पर किये गये हैं जो अन्य वैदिक विद्वानों द्वारा किये गये परम्परागत शैली के विरुद्ध हैं।

मौलिक ग्रंथ

वैदिक सिद्धान्तानुकूल गंभीर विषयों पर भी ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें ईश्वर की सत्ता, जीवात्मा, मृत्यु और परलोक, पुनर्जन्म, वर्ण-व्यवस्था, संस्कार, त्रैतवाद आदि कुछ प्रसिद्ध विषय हैं।

जीवन-चरित

जीवन चरितों में सर्वप्रथम स्वामी जी ने अपना आत्मचरित स्वयं लिखा था जो "थियोसोफिस्ट" नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था। स्वामी जी ने यह आत्मचरित हिन्दी में लिखा था परन्तु थियोसोफिस्ट में उसका अंगरेजी अनुवाद छपा था। स्वामी जी के अन्य अनेक जीवनचरित १९ वीं शती से ही विभिन्न आर्य विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। स्वामी जी के पश्चात् अन्य आर्योपदेशकों एवं प्रसिद्ध सन्यासियों के जीवनचरित प्रकाशित

हुए हैं जिससे उनके प्रचार-कार्य, त्याग और धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इन जीवन-चरितों में स्वामी श्रद्धानन्द जी का आत्मचरित "कल्याण मार्ग का पथिक" और महात्मा नारायण स्वामी की आत्मकथा अत्यन्त प्रसिद्ध है।

आर्यसमाज और विविध प्रकार के हिन्दी-साहित्य की समृद्धि में उसका योगदान

आर्यसमाज ने जो विस्तृत और व्यापक हिन्दी-सेवा की है वह इसी से स्पष्ट है कि समस्त भारतवर्ष में दयानन्द स्कूल और कालेजों के अतिरिक्त बालक बालिकाओं के लगभग ४५ गुरुकुल खुले हुए हैं। गुरुकुलों से अब तक शतशः स्नातक निकल चुके हैं और अधिकांश ने हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा पठन-पाठन, उपदेश, प्रचार-कार्य, पत्रकारिता, पुस्तक-लेखन आदि अपने जीवन का उद्देश्य और जीविका का साधन बना रक्खा है। इन स्नातकों और गुरुकुलों के अध्यापकों ने हिन्दी-जगत में जो कार्य किया है वह अविस्मरणीय है। गुरुकुलों के अतिरिक्त अन्य उच्च कोटि के आर्यसमाजी विद्वानों ने, जिनका सम्बन्ध विभिन्न विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय से है, साहित्य-सृजन में योगदान दिया है। केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति इन विद्वानों ने ग्रंथ-लेखन द्वारा की है। इतिहास भाषा विज्ञान, भूगोल, दर्शन, चिकित्सा शास्त्र, विज्ञान, साहित्य, पर्यटन, कृषि, राजनीति समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर आर्यविद्वानों के उच्चकोटि के ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पाठ्य पुस्तकें

हिन्दी में पाठ्य पुस्तकों को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय चाहे ईसाई प्रचारकों को भले ही मिले परन्तु नियमित रूप से और उच्च स्तर की पाठ्य पुस्तकों की रचना आर्य-समाज के ही विद्वानों ने की है। हिन्दी में इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र समाजशास्त्र दर्शन आदि ग्रन्थों की रचना अंगरेजी पठित वर्ग असम्भव समझता था। इन समस्त विषयों में हिन्दी-ग्रन्थ-रचना देख कर पाश्चात्य शिक्षित जन चमत्कृत हो गये। आर्यसमाज ने हिन्दी में सभी विषयों की पाठ्य पुस्तकों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। गुरुकुल के प्राध्यापकों ने तो अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखीं परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों के सहयोग से सामूहिक रूप से भी प्रयत्न किया।[1]

१—"हिन्दी में सब विषयों की पाठ्य पुस्तकों के निर्माण के लिये आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं को भी प्रेरित करने का उद्योग आर्यसमाजी विद्वानों ने किया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के १६ वें वृन्दावन अधिवेशन सं० १९८२ में श्री पं०वेदव्रत शास्त्री ने इस विषय की ओर सम्मेलन का ध्यान आकृष्ट किया था और पूरी योजना के साथ एक रचनात्मक कार्यक्रम सम्मेलन के सामने रखा था, जिसके फलस्वरूप सम्मेलन में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया था :

"यह सम्मेलन निश्चय करता है कि स्कूलों और कालेजों की छोटी श्रेणियों से लेकर

नाटक

आर्यसमाज के गद्य-साहित्य में नाटकों का अभाव है। इसका मुख्य कारण यह है कि धार्मिक संस्था होने के नाते आर्यसमाज ने नाटक, स्वांग आदि खेल तमाशों का विरोध किया है। स्वामी दयानन्द जीं के इस विषय में घोर विरोधी होने और "भारत-सुदशा-प्रवर्तक" में नाटक छपने पर संपादक को प्रतारणा देने का उल्लेख पीछे हो चुका है। धार्मिक और आचारिक दृष्टिकोण से पुरुष का स्त्री और स्त्री के पुरुष वेश धारण करने को आर्यसमाज अनुचित समझता है। प्रचार का आकर्षक साधन होने पर भी सदाचार की दृष्टि से आर्यसमाज नाटक का विरोधी रहा है। आर्यसमाज अथवा उसकी संस्थाओं के अंतर्गत जहां मनोरंजन और सुधार की दृष्टि से नाटकों का आयोजन हुआ है वहां इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि पुरुषों के मध्य पुरुष और स्त्रिओं के मध्य केवल स्त्री ही पात्र हों।

आर्यसमाज के प्रारंभिक काल में प्रचार की दृष्टि से सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा ने बड़े संयत कथोपकथन द्वारा प्रहसन के रूप में "स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी" "स्वर्ग में महासभा" आदि लिखे हैं। खड़ीभाषा हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक काल में होने के कारण उनका विशेष महत्व है।

उपन्यास और कहानियाँ

उपन्यास और कहानियों का भी आर्यसमाज-साहित्य में अभाव सा है। प्रचार-क्षेत्र में आर्योपदेशकों ने शिक्षाप्रद छोटे-छोटे दृष्टान्तों को कहानी-रूप में अपनाया है। मनुष्य-जीवन के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालने वाली और केवल मनोरंजन करने वाली कहानियों एवं बड़े-बड़े उपन्यासों को आर्यसामाजिक साहित्य में स्थान नहीं मिला। तथापि कुछ आर्यविद्वानों ने सामाजिक उपन्यास लिखे हैं।

आर्यसमाज और वर्तमान खड़ीभाषा-गद्य का प्रारम्भ-काल लगभग एक ही है। हम यहां आर्यसामाजिक विद्वानों द्वारा प्रारम्भ से हिन्दी-साहित्य के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में लिखी हुई प्रमुख पुस्तकों का दिग्दर्शन करायेंगे। आर्य विद्वानों द्वारा साहित्य के प्रत्येक अंग पर लिखित पुस्तकों का उल्लेख इस सीमित लेख में सम्भव नहीं है। उक्त

बड़ी श्रेणियों तक के पाठ्य क्रम की योजना तैयार करने के लिये नीचे लिखे सज्जनों की एक उपसमिति बनाई जाय और वह योजना सम्मेलन की स्थायी समिति के सामने उपस्थित हों।"

१. श्री बाबू शालिग्राम जी वर्मा, एम० ए० बी० एस० सी०
२. प्रो० रामाज्ञा द्विवेदी, एम० ए० एम० आर० ए० एस० कानपुर।
३. श्री [illegible] कृष्णजसराम जी बी० ए० दिल्ली।
४. [illegible] वीरेन्द्र वर्मा, एम० ए० प्रयाग,
५. श्री पं० वेदवृत जी, दिल्ली संयोजक।

"नारायण अभिनंदन ग्रंथ में" "राष्ट्र भाषा हिन्दी और आर्यसमाज" नामक लेख से ले० पं० रामनारायण मिश्र, पृष्ठ १६२।

विद्वानों द्वारा लिखित अनेक विषयों पर आज शतशः प्रसिद्ध पुस्तकें उपलब्ध हैं। स्वामी दयानन्द और उन आर्य नेताओं के जीवन चरित को अवश्य इसमें सम्मिलित कर लिया गया है जिन्होंने अपना जीवन आर्यसमाज को अर्पण कर दिया और अनेक महत्वपूर्ण हिन्दी-ग्रन्थों की रचना की।

जीवन-चरित

स्वामी जी के देहावसान के अनन्तर १९ वीं शती में उनकी जीवनचरित सम्बन्धी पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में लिखी गईं परन्तु उसमें महत्वपूर्ण कोई नहीं है। प्रारम्भिक जीवन चरित संक्षिप्त थे और गवेषणा पूर्ण न थे। इस काल में स्वामी जी का आत्मचरित ही सबसे प्रसिद्ध है जो उनके जीवन पर प्रकाश डालने वाला है। इसका उल्लेख हो चुका है कि आत्मचरित स्वामी जी ने कर्नल अल्काट के अनुरोध से हिन्दी में लिखा जिसका अँगरेजी अनुवाद "थियोसोफिस्ट" नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने पूना के एक व्याख्यान में भी अपना जीवनचरित जनता को सुनाया था जिसे वहां के आर्य-समाजियों ने लेखबद्ध कर लिया था। इन्हीं आत्मचरितों और समाचारपत्रों की सूचनाओं के आधार पर श्री गोपाल शर्मा ने "दयानन्द दिग्विजय" सन् १८८१ ई० में लिखा 'दयानन्द की दिनचर्या' सन् १८८४ ई० में लिखी गई।[1] "महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित" श्री जगन्नाथ ने सन् १८८८ ई० में लिखा। इसके पश्चात् तत्कालीन प्राप्य जीवनचरितों में सबसे अच्छा श्री पं० सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी ने १९०३ ई० में "श्री १०८ महर्षि स्वामी दयानन्द का जीवन चरितम्" लिखा। इस जीवनचरित में ३४२ पृष्ठ हैं इसमें संस्कृत में लिखित काशी शास्त्रार्थ, सत्य-धर्म-विचार (धर्म चर्चा मेला चांदापुर) और स्वामी जी के देहावसान के पश्चात् तत्कालीन विशिष्ट व्यक्तियों और समाचार पत्रों की श्रद्धांजलियाँ भी सम्मिलित हैं। श्री रामविलास शारदा ने "आर्य धर्मेन्द्र जीवन" सन् १९०४ ई० में और श्री चिम्मनलाल वैश्य ने "स्वामी दयानन्द" सन् १९०७ ई० में लिखा।

स्वामी सत्यानंद कृत "दयानन्द-प्रकाश"

स्वामी सत्यानन्द जी द्वारा लिखित "दयानन्द प्रकाश" का प्रचार सबसे अधिक हुआ। यह जीवनचरित सन् १९१९ ई० में प्रथम बार लिखा गया और सन् १९५० ई० तक उसके सात संस्करण निकल चुके थे। जीवन चरित लिखने में जो तटस्थता अपेक्षित है उसका इस ग्रंथ में अभाव है। लेखक ने यह पुस्तक अत्यन्त भक्तिभाव से लिखी है संभवतः इसीलिये आर्यसमाज में यह पुस्तक विशेष प्रसिद्धि प्राप्त कर सकी। स्वामी दयानन्द जी के वर्णन में कहीं कहीं गद्य-काव्य का आभास मिलता है, भाषा भी संस्कृतमय है अतः इसके साहित्यिक मूल्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक दृष्टि से भी

१—"थियोसोफिस्ट में लिखित और पूना व्याख्यान में कथित जीवनचरित के आधार पर पं० भगवद्दत्त जी ने स्वामी जी का प्रामाणिक आत्मचरित संपादित कर 'ऋषि दयानन्द स्वरचित (लिखित व कथित) जन्म चरित" के नाम से छपवाया है।

यह पुस्तक अनुपेक्षणीय है क्योंकि लेखक ने अनेक ग्रंथों की सहायता और सामग्री के आधार पर उसकी रचना की है। इस कार्य हेतु पाँच वर्ष तक भ्रमण करने के अतिरिक्त उसने स्वामी जी के जीवन कालीन प्रसिद्ध ऐतिहासिक पत्र "भारत-सुदशा-प्रवर्तक", आर्य-पथिक लेखराम जी द्वारा संग्रहीत सामग्री और स्वामी दयानन्द जी के जीवनचरित्र विवरणों के सुप्रसिद्ध अन्वेषक स्वर्गीय बाबू देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय की संग्रहीत टिप्पणियों से भी सहायता ली है।

स्वामी दयानन्द के प्रति अटूट भक्तिभाव का परिचय लेखक के 'निवेदन' के अन्तर्गत लिखित निम्न अवतरण से भली भांति मिलता है।

"महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के अध्ययन रूप संघर्षण ही ने मेरे अन्तरात्मा में आस्तिक भाव की ज्योति को प्रकट किया है। विश्वास शिला पर आरूढ़ होने के समय से, अपने धार्मिक जन्मदाता महापुरुष के प्रति मेरे हृदय में गाढ़ अनुराग वृत्ति और अगाध भक्ति अनवच्छिन्न रूप से चली आई है। इस कारण आर्यसमाज के धर्मक्षेत्र में रात्रि दिवा विचरण करने, जहाँ कहीं से अद्वितीय दयानन्द के गुणों का कोई मणि मोती मिल जाता, तो मैं उसे बड़ी सावधानी से अपनी टिप्पणी पत्रिका की पेटी में टिप्पण कर सुरक्षित रख लेता फिर, प्रसंगानुसार, अपने भाषणों में व्याख्यानों में, कथाओं में, वार्तालाप में बार बार उनका कीर्तन करता। इस प्रकार अनेक वर्षों की कार्य तत्परता से मेरे पास ऋषि राजके समुज्ज्वल वृत्तान्तों की एक रत्न राशि संचित हो गई।"[1]

स्वामी जी का स्वरूप-वर्णन करने में जिस अगाध भक्ति का परिचय लेखक ने दिया है वह भी दर्शनीय है।

"महाराज की मूर्ति मनमोहिनी थी। उनकी व्यक्ति का अद्‌भुत प्रभाव था। वे रेशमी वस्त्र पहने अथवा कोपीन धारी, सब दशाओं में प्रिय प्रतीत होते थे। उनका चलना, टहलना, उठना, बैठना आदि सब व्यापार प्यारा लगता था। वे सब क्रियायें करते मन को भाते थे। उनका कृपा कटाक्ष मन को मोह लेता था और उनकी प्रेम भरी वाणी सबको तत्काल अपना लेती थी।

उनके मुख मंडल पर तेज, प्रभाव, उदारता, गंभीरता धैर्य अनुग्रह और आशीर्वाद निवास करते थे। उनके रसीले नेत्रों में प्रेम, कृपा, आकर्षण, रस और माधुर्य था। उनका वर्ताव अति मृदु, सुकोमल और चित्ताकर्षक था। उनकी प्रकृति कोमल थी, सरल थी निष्कपट थी........"[2] आदि।

उक्त गद्य से ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई भक्त अपने एक मात्र आराध्यदेव के प्रेम में विभोर होकर उनका वर्णन कर रहा है। स्वामी जी का वर्णन करते हुये एक ही स्थान पर समस्त गुणों का गान करना अलौकिकता का द्योतक है जो साधारण पठित व्यक्ति के लिये भ्रमोत्पादक है।

१—"दयानन्द प्रकाश" ले० स्वामी सत्यानन्द। निवेदन, पृष्ठ १

२—वही। पृष्ठ ३३५

श्री देवेन्द्रनाथ कृत "दयानंद-चरित"

श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय नाम के एक आर्यसमाज से भिन्न बंगाली विद्वान ने स्वामी दयानन्द का जीवन चरित बंगला में लिखा। पं० घासीराम जी ने इसका अनुवाद "दयानन्द चरित" के नाम से सन् १९३१ ई० में किया। आर्यसमाजेतर व्यक्ति द्वारा लिखे जाने पर इस जीवन-चरित की निष्पक्षता में कोई सन्देह नहीं है अतः इसका विशेष महत्व है।

पं० घासीराम द्वारा संपादित बृहत जीवन-चरित

उक्त बंगाली विद्वान् स्वामी दयानन्द जी का एक विस्तृत जीवन चरित लिखना चाहते थे। एतदर्थ उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया और अपने पास से सहस्त्रों रुपये व्यय कर भारत के विभिन्न स्थानों का, जहाँ से स्वामी जी के जीवन सम्बन्धी विवरणों के प्राप्त होने की आशा हुई, भ्रमण किया। सपरिश्रम एकत्रित सामग्री के आधार पर वे जीवन चरित लिखने बैठे और भूमिका के अतिरिक्त केवल चार ही अध्याय लिख पाये थे कि दैवेच्छा से उन पर पक्षाघात हुआ और असमय में ही काल-कवलित हुये। अन्त में उनकी प्राप्त सामग्री के आधार पर और पंडित लेखराम एवं स्वामी सत्यानन्द के जीवन चरितों की भी सहायता लेकर पंडित घासीराम जी ने स्वामी जी का बृहत् जीवनचरित दो भागों में पूर्ण किया। यह ग्रंथ सर्व प्रथम सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ और इस समय प्रथम भाग का द्वितीय (२००९) और द्वितीय भाग का तृतीय संस्करण (२००७ वि.) उपलब्ध है। दूसरे भाग के अन्त में पाँच महत्वपूर्ण परिशिष्ट दिये हुये हैं। प्रथम में स्वामी जी का जन्म स्थान, उनके बालकथन के वास्तविक नाम और उनके पिता एवं वंशावली के विषय में खोजपूर्ण विवरण है। द्वितीय परिशिष्ट में आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के सम्मिलन और सम्बन्ध-विच्छेद का वृत्तान्त है। तीसरें परिशिष्ट में मुंशी इन्द्रमणि के मुकदमे की चर्चा है। चौथे में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश और पाँचवें में स्वामी जी द्वारा रचित पुस्तकों का संक्षिप्त वर्णन है।

अन्य आर्य नेताओं के जीवन-चरित और आत्मकथा

आर्यसामाजिक क्षेत्र में अनेक महापुरुषों के जीवन चरित उपलब्ध हैं परन्तु सबसे प्रसिद्ध अमरशहीद श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी, महात्मा नारायणस्वामी जी और महात्मा हंसराज जी के जीवन चरित हैं। इन महानुभावों ने अपना जीवन भारतीय समाज की सेवा के हेतु अर्पण कर दिया था। स्वामी श्रद्धानंद और महात्मा नारायण स्वामी जी ने अपनी आत्मकथा लिखी है। प्रथम आत्मकथा संवत १९८१ वि० में ज्ञान मंडल कार्यालय काशी से प्रकाशित हुई। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दी भाषा-भाषियों के सम्मुख एक शिक्षाप्रद आत्मकथा प्रस्तुत की उन्होंने प्रस्तावना में स्वयं लिखा है "इसमें सन्देह नहीं कि मेरी गिरावट की कहानियां बहुत से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगायेंगी परन्तु मुझे यह विश्वास है कि इस आत्मकथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार-यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेंगी।"[1]

१—"कल्याण मार्ग का पथिक" प्रस्तावना, पृष्ठ २

इसी प्रकार महात्मा नारायणस्वामी की आत्मकथा उनकी दृढ़ता, विचारों के प्राबल्य और उच्च भावनाओं की परिचायक है। श्री नारायण स्वामी जी ने युवावस्था में अपने भविष्य जीवन की जैसी रूपरेखा बनाई थी ईश्वर ने तदनुकूल ही सहायता दी। उन्होंने ४३ वर्ष की आयु में गृहस्थ-आश्रम त्यागने का विचार किया था दैवयोग से ४३ वें वर्ष उनकी पत्नी और एकमात्र नवजात शिशु का देहान्त हो गया और पूर्व निश्चयानुसार गृहस्थी स्वयं ही छूट गई और उन्हें जीवन-दान देकर आर्यसमाज की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ।

महात्मा हंसराज का जीवनचरित लाला खुशहाल चन्द जी ने लिखा है। त्याग-मूर्ति महात्मा हंसराज जी ने अपना जीवन लाहौर के दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज के हेतु अर्पण कर दिया था। उन्होंने तप और त्याग का जीवन बिताकर आर्यसमाज की सेवा करते हुए प्राण त्यागे। लाला खुशहाल चन्द जी ने महात्मा हंसराज की अध्यक्षता में प्रादेशिक सभा द्वारा किये गये सार्वजनिक कार्यों का विशेष वर्णन किया है। कहीं कहीं भाषा भावपूर्ण है।

पं० गंगा प्रसाद जी रिटायर्ड चीफ जज टेहरी और पंडित गंगा प्रसाद जी उपाध्याय ने भी अपना आत्मचरित लिखा है। दोनों महानुभावों के चरित-पठन से आर्यसमाज की प्रगति का परिचय मिलता है। उपाध्याय जी ने अपना "जीवन-चक्र" कुछ विस्तार से लिखा है जिससे जीवनचरित के साथ ही उत्तर प्रदेशीय प्रतिनिधि सभा, सार्वदेशिक सभा और विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार-कार्य पर भी प्रकाश पड़ता है।

इसके अतिरिक्त पं० देवेन्द्रनाथ मुकर्जी ने स्वामी विरजानन्द का जीवनचरित भी लिखा था जिसका हिन्दी-अनुवाद पं० घासीराम ने १९१९ में किया जिसे आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त ने प्रकाशित कराया। श्री महात्मा मुंशीराम ने "आर्य पथिक लेखराम" का जीवनचरित सन् १९१४ ई० में लिखा और पंडित सत्यदेव विद्यालंकार ने "स्वामी श्रद्धानंद" और "लाला देवराज" के विस्तृत जीवनचरित क्रमशः १९३३ और १९३७ ई० में लिखे।

वेद-भाष्य एवं अन्य वैदिक साहित्य का अनुवाद

स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य का वर्णन द्वितीय अध्याय में हो चुका है। उसके अतिरिक्त अन्य आर्य विद्वानों ने वेद और अन्य वैदिक साहित्य का हिन्दी-अनुवाद जनता के लाभार्थ प्रस्तुत किया है उसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जाता है। वेद-भाष्य और वैदिक साहित्य लिखने में जितना उद्यम आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्य विद्वानों ने किया है उतना प्रयत्न किसी अन्य संस्था ने वर्तमान युग में नहीं किया। आर्य सामाजिक विद्वान वैदिक साहित्य के प्रकाशनार्थ अहर्निशि चिन्तित और प्रयत्नशील हैं।

प्रसिद्ध विद्वानों की रचनायें

स्वामी दयानन्द के पश्चात पंडित तुलसीराम स्वामी ने सामवेद और श्वेताश्वतर उपनिषद का भाष्य सन् १८९८ ई० में किया और उसे स्वामी प्रेस मेरठ से प्रकाशित कराया।

लाहौर के प्रसिद्ध विद्वान पंडित राजाराम जी ने ईश, केन, कठ, छांदोग्य, ऐतरेय, मुंडक, मांडूक्य, श्वेताश्वतर, प्रश्न, तैतिरीय आदि उपनिषदों का भाष्य सन् १८९९ और १९०९ ई० के मध्य किया। पंडित जी ने वैदिक जीवन पर भी एक पुस्तक सन् १९०५ ई० में लिखी थी।

स्वर्गीय पंडित शिवशंकर शर्मा ने गवेषणा पूर्ण वैदिक साहित्य का सृजन किया था। आपने छांदोग्य उपनिषद का भाष्य सन् १९०४ में और बृहदारण्यक का सन् १९१२ ई० में किया। पुस्तकों में 'जाति निर्णय' की रचना सन् १९०७ ई० में और "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय की सन् १९०९ ई० में हुई। "ओंकार निर्णय" और "त्रिदेव निर्णय" नामक पुस्तकें भी आपने लिखीं तथा ऋग्वेद के ७-८-९ मंडलों का भाष्य भी किया।

महामहोपाध्याय पंडित आर्यमुनि जी ने "वेदान्त तत्त्व कौमुदी" सन् १९१५ ई० में लिखी और ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूकम, ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदों का भाष्य भी लिखा। उपनिषदों के भाष्य का तृतीय संस्करण संवत् २००६ वि० में छपा है। आपने गीता और छः दर्शनों का भाष्य भी किया है। ऋग्वेद भाष्य अपूर्ण है। श्री आर्यमुनि जी ने स्वामी दयानन्द जी द्वारा अवशिष्ट ऋग्वेद का भाष्य किया है। श्री इन्द्र वेदालंकार ने "उपनिषदों की भूमिका" सन् १९१३ ई० में लिखी। श्री पंडित क्षेमकरण जी त्रिवेदी ने अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण का सम्पूर्ण भाष्य किया है। श्री पंडित बुद्धदेव जी विद्यालंकार ने अनेक ग्रंथों की हिन्दी में रचना की जिनमें "शतपथ में एक पथ" (१९२९ ई०) शतपथ ब्राह्मण का भाष्य, सोम, मरुत् आदि हैं।

पं० प्रियरत्न जी आर्य ने सुप्रसिद्ध पुस्तक "यम पितृ परिचय" की रचना सन् १९३३ ई० में की। इस पुस्तक में चारों वेदों के उन मंत्रों की व्याख्या है जिनमें पितर शब्द आये हैं। पुस्तक लिखने का उद्देश्य यह है कि मंत्रों का वास्तविक अर्थ समझ कर लोग मृत पितरों को पिंड दान आदि न करके स्वामी जी की शिक्षानुसार जीवित पितरों अर्थात् माता पिता आदि का श्रद्धापूर्वक भोजन वस्त्रादि से सत्कार करें। मंत्रों की व्याख्या करते समय अनिवार्यतः सृष्टि-विज्ञान, शरीर-रचना, वैद्यक, ज्योतिष, समाज-शास्त्र, राजनीति, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि कितने ही विषयों पर प्रकाश पड़ा है। अन्य पुस्तक "वैदिक मनोविज्ञान" पंडित जी ने सन् १९३७ ई० में लिखी है। "अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र" "वैदिक ज्योतिष शास्त्र" "आर्ष योग प्रदीप" "वेद में इतिहास नहीं" "उपनिषद सुधासार" आदि कितनी ही पुस्तकों की रचनायें भी की हैं।

"वैदिक विनय"

आर्यसमाज के उच्च कोटि के कतिपय वैदिक विद्वानों ने चुने हुये वेद मंत्रों का हिन्दी अनुवाद जनता के लाभार्थ प्रकाशित करवाया। इस प्रकार की एक प्रसिद्ध पुस्तक "वैदिक विनय" है जो श्री देवशर्मा जी 'अभय' विद्यालंकार द्वारा लिखी गई है। यह पुस्तक तीन खंडों में समाप्त हुई है। इसमें सर्वप्रथम वेदमंत्र दिये हैं तत्पश्चात् हिन्दी में उनका भावार्थ और अंत में मंत्रों के शब्दार्थ। इसमें वर्ष के ३६५ दिनों के पाठार्थ प्रतिदिन एक मंत्र के हिसाब से ३६५ मंत्रों का संग्रह है। प्रत्येक मास सौर वर्ष के अनुसार है और उसके दिन

ज्ञान मंडल काशी के पंचांग के अनुसार नियत किये गये हैं। पाठकों को भ्रम न हो इसलिए लेखक ने "प्रारंभिक वचन" के अन्तर्गत लिखा है :

"प्रत्येक मंत्र के ऊपर तिथियाँ इसलिये नहीं लिखी गई हैं कि उन तिथियों के दिन ही उन मंत्रों के पढ़ने का कुछ माहात्म्य है, किन्तु इसलिये लिखी गई हैं कि पाठक प्रत्येक दिन ज़रूर एक न एक वैदिक प्रार्थना में से गुज़र जाया करें। स्वाध्याय में एक दिन भी नागा न हों, स्वाध्याय लगातार प्रतिदिन जारी रहे, यह तो सबसे पहला प्रयोजन है जिसके लिये कि यह प्रार्थना पुस्तक रची गई है।"

मंत्रों के अर्थ के विषय में भी लेखक ने लिखा है "यद्यपि इन विनयों की रचना में अनेक जगह इसके प्रार्थना रूप को और इसकी भाषा को भी बिगड़ जाने दिया गया है परन्तु मंत्र के शब्दों का अर्थ तथा उनका पूरा आशय इन दोनों का स्पष्टीकरण ठीक हो जाय इस असली उद्देश्य को कहीं भी नहीं भूलने दिया गया है।"

वस्तुत: "वैदिक विनय" भगवद्भक्ति के भावों से ओतप्रोत हैं अत: यह उन व्यक्तियों को आकर्षित करने में असमर्थ है जिन्हें वेद के अपौरुषेयत्व पर विश्वास नहीं है।

"स्वाध्याय सुमन"

"स्वाध्याय सुमन" भी इसी प्रकार की एक पुस्तक है। दैनिक स्वाध्याय के अतिरिक्त पंडित वर्ग इन वेद मंत्रों का स्पष्टीकरण अपने व्याख्यानों में कर सकें एवं साप्ताहिक अधिवेशनों में ये मंत्र पढ़कर सुनाये जा सकें, पुस्तक रचना के ये ही उद्देश्य हैं। इसमें लेखक ने ५३ वेद मंत्रों का सरल हिन्दी भाषा में अर्थ दिया है। प्रारम्भ में शब्दार्थ हैं तत्पश्चात् भावार्थ। पुस्तक के तीन संस्करण निकल चुके हैं अत: इसकी उपादेयता में सन्देह नहीं है। स्वामी वेदानंद जी ने "वेदामृत" "वैदिक धर्म," "वैदिक स्वदेश भक्ति" आदि ग्रंथ भी लिखे हैं।

"वरुण की नौका"

इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध पुस्तक "वरुण की नौका" भी है। इसके लेखक पंडित प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति हैं। यह पुस्तक दो भागों में समाप्त हुई है। लेखक के अनुसार वेद में चौदह वरुण सूक्त हैं। प्रथम भाग में छ: और द्वितीय में आठ सूक्तों की व्याख्या की गई है। प्रारम्भ में ३५ पृष्ठ की भूमिका है जिसमें स्वाध्याय विधि, वरुण का वास्तविक अर्थ और "वरुण की नौका" का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है मंत्रों के देने के पश्चात उनका शब्दार्थ पुन: उन मंत्रों की व्याख्या की गई है।

"आर्य-सिद्धान्त-विमर्श"

वैदिक विषयों पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने सन् १९३३ ई० में प्रकाशित कराई है। इसका नाम "आर्य सिद्धान्त विमर्श है।" इसमें प्रथम आर्य विद्वत् सम्मेलन में पठित निबन्धों का संग्रह है। निबन्ध उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं और गवेषणा पूर्ण हैं। सम्मेंलन के स्वागताध्यक्ष श्री लाला ज्ञानचन्द्र जी के स्वागत भाषण के अतिरिक्त पुस्तक में निम्नलिखित विद्वानों के लेख हैं :

(१) उपोद्घात के अन्तर्गत "वेद का आविर्भाव और उनके समझने का प्रकार" लेखक महात्मा नारायण स्वामी जी।

(२) "ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य शैली" लेखक पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति।

(३) "वेद और पश्चिमी विद्वान" लेखक पं० ब्रह्मानन्द जी आयुर्वेद शिरोमणि।

(४) 'वैदिक ऋषि' लेखक स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ।

(५) 'वेद में इतिहास' लेखक श्री पंडित गोपालदत्त जी शास्त्री।

(६) 'जाति विवेचना' लेखक पं० ईश्वर चन्द्र जी शास्त्री।

(७) 'वेद और निरुक्त' लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु।

(८) 'निरुक्तकार और वेद में इतिहास' लेखक पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु।

(९) 'क्या वैदिक ऋषि मंत्र रचयिता थे' लेखक ब्रह्मचारी युधिष्ठिर जी।

"नारायण स्वामी द्वारा रचित वैदिक साहित्य"

महात्मा नारायण स्वामी ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदों का भाष्य किया है जिनके अनेक संस्करण छप चुके हैं। 'योग रहस्य' नामक पुस्तक में आपने पतंजलि योगदर्शन का सारगर्भित भाष्य किया है। प्रारंभ में ७० पृष्ठ के उपोद्घात में योग के सम्बन्ध में इतने सरल ढंग से व्याख्या की है कि साधारण पठित व्यक्ति भी सरलता से समझ सकता है। व्याख्या के अनन्तर योगदर्शन का संक्षिप्त भाष्य है जिसके पठन से योग के संबंध में साधारण ज्ञान हो जाता है। महात्मा जी ने वेद के सम्बन्ध में 'वेद-रहस्य' नामी पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक के पठन से वेद के सम्बन्ध में साधारणतया होने वाली शंकाओं का समाधान हो जाता है। अर्थात् पुस्तक में वेद के देवता, मंत्र, वेद में इतिहास वेदों का उद्भव आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'

वैदिक वाङ्मय का विशेष अध्ययन कर हिन्दी-साहित्य में वेद सम्बन्धी ज्ञान-परिवर्द्धन के हेतु पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० ने स्तुत्य प्रयत्न किया है। यद्यपि आपने सर्व प्रथम सन् १९२० ई० में 'ऋग्वेद पर व्याख्यान' छपवाया था परन्तु उत्तरोत्तर वेदानुसंधान होते रहने से उसका विशेष महत्व न रह गया। उसके पश्चात आपने तीन खंड में "वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक ग्रन्थों की रचना की। प्राक्कथन से ज्ञात होता है कि लेखक का विचार आठ भागों में यह इतिहास निकालने का है परन्तु अभी तक तो केवल तीन ही निकले हैं। इतिहास के द्वितीय भाग में जिसमें ब्राह्मणों और आरण्यकों का वर्णन है सन् १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ, प्रथम भाग का द्वितीय खंड जिसमें वेदों के भाष्यकारों का वर्णन है सन् १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ और प्रथम भाग जिसमें वेदों की शाखाओं का वर्णन है सन् १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ हैं। प्रथम भाग १९५९ में पुनः प्रकाशित हुआ है।

यजुर्वेद अनुभाष्य

पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने वैदिक साहित्य के प्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया है। आपने स्वामी दयानन्द जी के यजुर्वेद भाष्य पर टिप्पणी रूप से अनुभाष्य किया है।

प्रसिद्ध मासिक पत्र 'वेद वाणी' के सम्पादक भी आप ही है। आपके शिष्य पं० युधिष्ठिर जी द्वारा रचित पुस्तिकायें 'ऋग्वेद की ऋक् संख्या' और 'सामवेद स्वरांकन प्रकार' छोटी होने पर भी महत्वपूर्ण हैं।

सातवलेकर का वैदिक साहित्य

सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी प्रचुर मात्रा में वैदिक साहित्य प्रस्तुत किया। स्वाध्याय मंडल के अंतर्गत उन्होंने वेदों के संहिता भाग तो प्रकाशित करवाये ही, वेदों के कुछ अनुवाद एवं महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखकर वैदिक साहित्य की वृद्धि भी की। कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम निम्नलिखित हैं :—

'सर्वमेध यज्ञ', 'रुद्र देवता का परिचय' (१९१९), 'वैदिक प्राण विद्या', 'वैदिक स्वराज्य की महिमा', 'देवता विचार', 'तेंतीस देवता विचार', 'शतपथ बोधामृत', 'वेद में चरखा', (१९२१), 'वैदिक सर्प विद्या', 'शिव संकल्प का विजय' (१९२२), 'वेद में कृषि विद्या', 'वेद में लोहे के कारखाने', 'वैदिक राज्य पद्धति', 'वैदिक जल विद्या', 'वेद में रोग जन्तु, शास्त्र', 'तर्क से वेद का अर्थ', 'वैदिक सभ्यता', 'वैदिक धर्म की विशेषता' (१९२३)।

'वैदिक सम्पत्ति'

पंडित रघुनन्दन शर्मा 'साहित्य भूषण' द्वारा लिखित 'वैदिक सम्पत्ति' नामक पुस्तक आर्य-जगत में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस विशाल ग्रन्थ की रचना लेखक के गहन अध्ययन चिन्तन और सतत प्रयत्न के फलस्वरूप हुई है। ग्रन्थ के अध्ययन से लेखक के कठिन परिश्रम और विचारशीलता का परिचय मिलता है। वेद का प्रबल समर्थक और विकासवाद का विरोधी इतना बृहत् ग्रन्थ संभवतः हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम १९३१ ई० में हुआ था और १९५१ तक इसके चार संस्करण निकल चुके।

इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में 'वेदों की प्राचीनता', 'वेदों में इतिहास' आदि विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। दूसरे खंड में वेदों की अपौरुषेयता, भाषा की उत्पत्ति, अक्षर विज्ञान, यज्ञ, वेदों में विज्ञान आदि विवादास्पद विषयों पर गंभीर और गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तीसरे खंड में वेदों की उपेक्षा का ऐतिहासिक विवरण है।

चतुर्थ खंड में वेदों की शिक्षा, वेद और ब्राह्मण, वेदों की शाखायें, ऋषि, देवता, छंद, समाज शास्त्र, आश्रम धर्म आदि का वर्णन है। अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत वैदिक सभ्यता पर विचार किया है।

अन्य ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त अनेक आर्यसामाजिक विद्वानों ने हिन्दी में वैदिक साहित्य प्रस्तुत किया जिनमें 'ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण' का भाष्य श्री पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय, 'वैदिक जीवन' 'वैदिक पशु यज्ञ मीमांसा' पंडित विश्वनाथ विद्यालंकार, 'वैदिक कर्तव्य शास्त्र' 'वैदिक स्वाध्याय मंजरी' पंडित धर्मदेव विद्यालंकार, 'वैदिक सूक्तियाँ' 'वैदिक वीर गर्जन' पंडित रामनाथ वेदालंकार, 'ऋभु देवता' 'वैदिक स्वप्न विज्ञान' 'वैदिक अध्यात्म विद्या'

पंडित भगवद्दत्त वेदालंकार और 'निरुक्त भाष्य' पंडित चन्द्रमणि जी विद्यावाचस्पति द्वारा रचित अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

मौलिक दर्शनिक ग्रंथ और लेख

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त आर्यसमाज के विद्वानों ने कुछ मौलिक दार्शनिक निबन्ध और ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों में आर्यसमाज के त्रैतवादी सिद्धान्त को सिद्ध करने के हेतु एकेश्वरवाद, ईश्वर का स्वरूप, मृत्यु के पश्चात की दशा, अद्वैतवाद, जीवात्मा कर्मवाद आदि गूढ़ विषयों पर देशीय और विदेशीय उद्भट दार्शनिकों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुये अपना दृष्टिकोण सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। सूक्ष्म विषयों को इस प्रकार प्रस्तुत करने की शैली हिन्दी साहित्य में बड़ी महत्वपूर्ण वैज्ञानिक और लेखक के गंभीर अध्ययन की परिचायक है। विद्वत् समाज में इस प्रकार की पुस्तकों को बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ है और उसे आर्यसमाजियों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी महत्व दिया है।

गुरुदत्त लेखावली

सबसे प्रथम इस प्रकार विषयों को प्रतिपादित करने का प्रयत्न आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी ने किया था। अल्पायु में ही मृत्यु हो जाने के कारण वे किसी प्रसिद्ध हिन्दी दार्शनिक ग्रंथ की रचना न कर सके उस समय उन्होंने विशेष रूप से आंग्लभाषा में ही लिखा। उनके महत्वपूर्ण आंग्लभाषा लिखित लेखों का अनुवाद हिन्दी में 'गुरुदत्त लेखावली' के नाम से श्री पंडित भगवद्दत्त जी और पंडित सन्तराम जी ने सन् १९१८ ई० में किया था। उक्त लेखावली में १४ लेख निम्नलिखित विषयों पर पाये जाते हैं :—

(१) वैदिक संज्ञा विज्ञान।

(२) वैदिक संज्ञा विज्ञान और यूरोपीय विद्वान।

(३) अध्यापक मौनियर विलियम्स की 'इंडियन विजडम' नामक पुस्तक की आलोचना।

(४) जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण।

(५) ईशोपनिषद।

(६) मांडूक्योपनिषद।

(७) मुंडकोपनिषद।

(८) वेद वाक्य नं० १ वायु मंडल।
वेद वाक्य नं० २ जल की रचना।
वेद वाक्य नं० ३ गृहस्थ।

(९) आध्यात्मिक जीवन के तत्व।

(१०) धन का डाह।

(११) वेदों में मूर्ति पूजन पर टी० विलियम्स साहब के पत्र का उत्तर।

(१२) टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर ।
(१३) वेद वाक्य नं० १ पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना ।
(१४) वेदों पर पिनकाट साहब की सम्मति ।

लेखावली के प्रारम्भ में पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी का जीवन चरित्र भी दिया हुआ है और उपोद्घात के अन्तर्गत अनुवाद की कठिनाइयों का भी वर्णन है । हिन्दी में 'गुरुदत्त लेखावली' इस समय अप्राप्य है ।

'उरु ज्योति'

डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल ने २४ आध्यात्मिक निबन्ध 'उरु ज्योति' नामक पुस्तक में संग्रहीत किये हैं । ये वेद सम्बन्धी आध्यात्मिक निबन्ध गवेषणात्मक एवं भावपूर्ण हैं । यद्यपि यह पुस्तक सन् १९३७ ई० में प्रकाशित हो चुकी थी परन्तु अप्राप्य थी । अतः सन् १९५३ में पुनः प्रकाशित हुई और नवीन संस्करण में 'विचारों का मधुमय उत्स' नामक एक निबन्ध अधिक सम्मिलित किया गया है ।

'प्रथमजा'

डा० मुंशीराम शर्मा ने दार्शनिक विषयों पर पन्द्रह निबन्ध 'प्रथमजा' (१९५३) नामक पुस्तक में लिखे हैं । इस संग्रह में 'ब्रह्म', 'पुरुष', 'मूर्त और अमूर्त', 'अघमर्षण' 'अवतारवाद', 'वैदिक शिक्षा' एवं अन्य शीर्षकों से १५ विचारपूर्ण लेख लिखे गये हैं ।

महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों की हिन्दी में रचना करने वालों में स्वर्गीय महात्मा नारायण स्वामी और पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय प्रमुख विद्वान हैं । महात्मा नारायण स्वामी ने 'आत्म दर्शन' (१९२१ ई०) 'मृत्यु और परलोक' (१९२८ ई०) और 'कर्म रहस्य' (१९३८ ई०) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की ।

'आत्मदर्शन'

श्री नारायण स्वामी द्वारा रचित यह एक प्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है । इसका प्रथम संस्करण सन् १९२१ ई० में छपा था । इस ग्रंथ में प्रचलित विकासवाद का खंडन करके जीव प्रकृति व परमात्मा की सत्ता का समर्थन किया गया है । यद्यपि आत्मा, की सिद्धि, मुख्य विषय होने के कारण उस पर विस्तार से विचार किया है । लेखक ने यह सिद्धि करने का प्रयत्न किया है कि उक्त तीनों तत्वों के बिना जीवन-जगत का संचालन हो ही नहीं सकता । "ग्रंथ परिचय" के अन्तर्गत लिखा है "जीवन के अस्तित्व के के लिये "आत्मा" को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है अन्यथा जीवन की संसार में हस्ती ही सिद्ध नहीं होती । प्राकृतिक विकास में जड़ प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर की अपेक्षा होती है इस विषय में इस ग्रंथ में संक्षेप में लिखा गया है क्योंकि वह पुस्तक का विषय नहीं परन्तु 'जीवन' की उत्पत्ति 'जड़' से नहीं हो सकती इस विषय को इस ग्रंथ में विस्तारपूर्वक युक्तियों के साथ दिखाया गया है और आत्मा को न मानने के कारण जीवन के विषय में हेकल को जो जो कल्पनायें करनी पड़ीं उनका भी दिग्दर्शन कराया गया है । साथ ही

जगत में भिन्न भिन्न प्राणियों का अस्तित्व ईश्वर की रचना का बोधक है यह भी सिद्ध किया गया है । संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि विना आत्मा और परमात्मा को स्वीकार किये केवल जड़ प्रकृति जीवन की समस्या को हल करने में सर्वथा असमर्थ है ।"[१] पश्चिमी विद्वानों के मत पर विवेचनात्मक विचार कर और आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों की मान्यताओं का संग्रह कर आत्मा की सिद्धि का प्रयत्न करने वाली हिन्दी साहित्य में यह संभवतः प्रथम महत्वपूर्ण पुस्तक है ।

"मृत्यु और परलोक"

"मृत्यु और परलोक" नामक ग्रन्थ में लेखक ने उन विषयों पर विचार किया है जिसे सांसारिक व्यक्ति मानने के लिये सदैव उत्सुक रहते हैं । इन विषयों को साधारण व्यक्ति विभिन्न शास्त्रों को पढ़कर सरलता से ग्रहण नहीं कर सकता । वह शास्त्रों के विविध वादों का अध्ययन कर उलझ जाता है और एतद् विषयक शंकाओं के समाधान में अपने को असमर्थ पाता है । महात्मा नारायण स्वामी जी ने वेद, शास्त्र, उपनिषदादि पौरस्त्य ग्रन्थों को ही नहीं अपितु प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों के आध्यात्मिक ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुये इन विषयों को सरल भाषा में समझाया है । इस पुस्तक में संसार की स्वार्थपरता, मृत्यु का दुःख, ममता, ममता से उत्पन्न दुःख, सांसारिक वस्तुओं का प्रयोजन, मृत्यु के पश्चात की दशा, योनि-परिवर्तन, स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर, भूत-प्रेत, कर्म के भेद, निष्काम कर्म का महत्व, ब्रह्मलोक, मुक्ति, अमैथुनी सृष्टि का वर्णन, मुक्ति का आनन्द तीन अवस्थायें, रूहों का बुलाना, रूहों के बुलाने के साधन, रूहों के बुलाने का भेद, मनुष्य के कर्तव्य और शिक्षा आदि महत्वपूर्ण और ज्ञेय विषयों पर विद्वतापूर्ण ढंग से प्रकाश डाला है । यह पुस्तक इतनी आकर्षक और जनप्रिय रही है कि केवल २० वर्ष में (सन् १९२८ और सन् १९४८ के मध्य) इसके बीस संस्करण निकल गये ।

"कर्म रहस्य"

"कर्म रहस्य" में भी महात्मा नारायण स्वामी ने कर्म के गहन विषय पर विद्वतापूर्ण ढंग से विचार किया है । यह पुस्तक सन् १९३८ ई० में श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा की ओर से उसकी स्वर्ण-जयंती के अवसर पर छपाई गई थी । इस पुस्तक में ५३ पृष्ठों में उपोद्घात है और ३२७ पृष्ठों में कर्म के जटिल विषय पर वैज्ञानिक रीति से विचार किया गया है । विषय की मीमांसा के हेतु वेद शास्त्र एवं देशीय और विदेशीय विद्वानों द्वारा लिखित जिन १०० पुस्तकों की सहायता ली गई है उनकी सूची प्रारम्भ में दी है । इतने ग्रन्थों का मन्थन कर लेखक ने जो पुस्तक लिखी है उसकी गंभीरता, महत्ता और उपादेयता में सन्देह नहीं है । कर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ होने के कारण यह विषय जितना उलझ गया है उतनी ही चतुरता से सुलझाया भी गया है । पुस्तक में शरीर के भेद, जीवात्मा के गुण, कर्म के लक्षण, कर्म स्वातन्त्र्य, श्रेय और प्रेम मार्ग, कर्म सम्बन्धी

१—आत्मदर्शन नारायण स्वामी "ग्रंथ परिचय" पृष्ठ १०-११ ।

विभिन्नवाद, कर्म और इच्छा स्वातन्त्र्य ईश्वर और त्रिकालज्ञता आदि विषयों पर विद्वता पूर्ण विचार किया गया है। पाश्चात्य दार्शनिकों का मत स्थान-स्थान पर उद्धृत कर उसकी टीका टिप्पणी भी की गई है।

"आस्तिकवाद"

"आस्तिकवाद" नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना श्री पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने सन् १९२६ ई० में की। सन् १९३१ में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का प्रसिद्ध "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" इस ग्रन्थ पर मिला। पुस्तक लिखने का उद्देश्य ग्रन्थकार द्वारा, भूमिका के प्रारम्भ में व्यक्त निम्न शब्दों से हो जाता है :

"सब धर्मों का केन्द्र ईश्वर है। परन्तु ईश्वर के विषय में भिन्न-भिन्न पुरुषों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इसी भिन्नता के कारण व्यक्तियों तथा संप्रदायों में व्यावहारिक जीवन में भिन्नता है और यही भिन्नता अनेक प्रकार के वैमनस्य, कलह, शत्रुता तथा युद्ध आदि के रूप में प्रकट हुआ करती है। सच्ची शान्ति का स्थापन वास्तविकता के यथार्थ भावों द्वारा ही हो सकता है ऐसा मेरा मत है। और यही यथार्थ भाव मनुष्य को परमार्थ की भी प्राप्ति कराते हैं।"

इस ग्रन्थ में क्रमशः धर्म की आवश्यकता, मनुष्य की अल्पज्ञता, सृष्टि-रचना, सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में विभिन्न मत, विज्ञान और आस्तिकता, ईश्वर के गुण, कर्म और फल, वास्तिकता सम्बन्धी शंकायें और उनका समाधान, आस्तिकता की उपयोगिता, ईश्वर प्राप्ति के साधन आदि विषषों पर प्रकाश डाला है। पुस्तक तर्क और विचारपूर्ण है। साधारण पठित व्यक्ति भी एक बार इसका अध्ययन कर ईश्वर के अस्तित्व और उसके स्वरूप की मीमांसा कर परमात्मा के वौद्धिक रूप की कल्पना करने पर बाध्य होता है।

'जीवात्मा'

पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय जी की जीवात्मा नामक पुस्तक भी बड़ी महत्वपूर्ण है। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को लेकर अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि न जाने कितने वाद प्रचलित हैं। इन वादों की उलझन को मनुष्य कभी सरलता से सुलझा न सका। ईश्वर जीव और प्रकृति का जो त्रैतवादी दृष्टिकोण आर्यसमाज ने प्रस्तुत किया वह इस युग में सबसे अधिक तर्क पूर्ण, वैज्ञानिक, वेदानुकूल और युक्तियुक्त है। आर्यसमाज के इसी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण उपाध्याय जी ने बड़ी योग्यता से किया है। इसमें भारतीय और विदेशीय तत्ववेत्ताओं के मत की टीका-टिप्पणी करते हुये जीवात्मा के सम्बन्ध में आर्यसामाजिक मत का समर्थन किया है। यह पुस्तक इतने मनोरंजक और कुतूहल पूर्ण ढंग से लिखी गई है कि आगे जानने की इच्छा सदैव बलवती रहती है। पुस्तक गंम्भीर होते हुये भी दार्शनिक नीरसता से रहित है।

इस ग्रन्थ में मैं, मेरा शरीर, अनुभव, अहंकार, जीवात्मा के लक्षण, शरीर और शरीरी, स्मृति-विस्मृति, मस्तिष्क, विभिन्न वाद, आधुनिक वैज्ञानिक खोज का विवरण, स्वप्नादि अवस्था तीन शरीर पाँच कोश, जन्म से पूर्व और मृत्यु से पीछे की दशा, पुनर्जन्म- पशु

और जीव, मुक्ति, योनिपविर्तन, पुनर्जन्म मुक्ति का साधन, मुमुक्षत्व जीवन्मुक्ति, मुक्ति से पुनरावर्तन, जीव-ब्रह्म सम्बन्ध आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

'अद्वैतवाद'

'अद्वैतवाद' भी उक्त उपाध्याय जी की प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक है जिसकी रचना सन् १९२८ ई० में हुई। इसमें शंकर स्वामी के अद्वैतवादी सिद्धान्त का विद्वता पूर्ण खंडन है। माया, अध्यारोप, विवर्त आदि की जो मीमांसा इस ग्रंथ में की गई है उससे अद्वैतवाद की निस्सारता भली-भाँति सिद्ध हो जाती है। शंकर स्वामी के अनेक प्रचलित सिद्धान्तों के खंडन के फलस्वरूप यह ग्रन्थ क्रान्तिकारी है। इसमें ११ अध्याय हैं जिनमें क्रम से १ जटिल प्रश्न, २ प्रमाणों का प्रमाणत्व, ३ स्वप्न, ४ माया, ५ कुछ कल्पित स्वयं सिद्धियां, ६ ईश्वरैक्यवाद, ७. कारणैक्यवाद, ८. वस्त्वैक्यवाद, ९. सत्ता और एकीकरण, १०. माया, ११ वेदादि शास्त्रों की सम्पति आदि विषयों पर विचार विमर्श उपस्थित किया गया है।

'पुरुषार्थ प्रकाश'

इस ग्रंथ की रचना श्री स्वामी नित्यानन्द जी और श्री स्वामी विश्वेश्वरानंद जी ने की है। इसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम दो प्रकरण हैं। ब्रह्मचर्य प्रकरण में ब्रह्मचर्य पालन के नियम, उसकी महत्ता और आवश्यकता, विद्या का महत्व विभिन्न विद्याओं के ग्रहण करने की उपादेयता, स्त्री-शूद्रों को भी विद्या प्राप्ति का अधिकार, विद्यार्थियों का कर्तव्य और कार्यक्रम आदि विषयों पर प्रकाश डाला है। गृहस्थाश्रम प्रकरण में, विवाहेच्छुक वर-वधू की योग्यता, जीविका के साधन, शरीर-शुद्धि के नियम, खान पान के नियम, समुचित दिनचर्या, स्त्री पुरुष के कर्तव्य, शिशुचर्या, बालकों की शिक्षा दीक्षा, विदेश-यात्रा आदि का वर्णन है। उक्त विषयों की पुष्टि में विद्वान लेखकों ने स्थान-स्थान पर वेद, शास्त्र, उपनिषद्, सूत्र-ग्रंथ, स्मृति, महाभारत, पंचतंत्रादि ग्रन्थों के उद्धरण उपस्थित किये हैं जिससे पुस्तक की महत्व-वृद्धि हुई है। यह पुस्तक संवत् १९९० विक्रमी में प्रकाशित हुई है परन्तु श्री नारायण स्वामी की भूमिका देखने से प्रतीत होता है कि यह पुस्तक पर्याप्त समय पूर्व प्रकाशित हो चुकी थी और अप्राप्य थी संवत् १९९० में पुनः छापी गई है।

लाला दीवानचन्द्र के दार्शनिक ग्रन्थ

आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान लाला दीवानचन्द्र जी ने हिन्दी में अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें **'स्वाध्याय संग्रह'** (१९३६ ई०), **'जीवन ज्योति'** (१९३९ ई०) 'महर्षि दर्शन' (२००० वि०), 'दयानन्द शतक' (२००० वि०), 'दीपक' (२०० वि०) 'ऋषि संदेश' (२००६ वि०), 'परमात्मा का स्वरूप' (?) 'कर्मयोग' (१९५१ ई०) 'कठ उपनिषद' (२०१० वि०) 'नीति विवेचन' (१९५५ ई०) 'तत्व ज्ञान' (१९५६ ई०) प्रसिद्ध हैं।

'आर्यधर्म'

डाक्टर मुंशीराम जी शर्मा ने 'आर्यधर्म' (१९३७ ई०) में आर्य सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

"आर्यसमाज का इतिहास" (पं० नरदेव कृत)

हिन्दी में आर्यसमाज का सर्वप्रथम श्रृंखलाबद्ध इतिहास लिखने वाले पंडित नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ थे। आपने "आर्यसमाज का इतिहास" नामक ग्रंथ की रचना दो भागों में की है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रंथ पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनेक स्थानों पर विशिष्ट व्यक्तियों और संस्थाओं के प्रति पंडित जी के उद्गार अयुक्त प्रतीत होते हैं, जिस संस्था से उनका सम्बन्ध रहा है उसका अन्य संस्थाओं की अपेक्षा विस्तृत वर्णन किया है विशेष विद्वानों की रचित पुस्तकों और समाचार पत्रों का विवरण अति संक्षिप्त और अधूरा है एवं रचना काल और पत्र संचालन काल नहीं दिया गया तथापि आर्यसमाज का हिन्दी में प्रथम इतिहास होने के कारण पुस्तक बड़ी महत्वपूर्ण है। प्रथम भाग में लेखक ने आत्म-परिचय के अतिरिक्त आर्यसमाज के उद्देश्य, नियम, प्रवर्तक के मन्तव्य, स्वामी जी के कार्य, स्वामी दयानन्द और स्वामी विरजानन्द जी का संक्षिप्त जीवन चरित्र और अन्य धर्मों के साथ आर्यसमाज का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। दूसरे भाग में आर्यसमाज का संगठन, दो विचार धारायें, आर्यसमाज का प्रभाव, आर्यसमाज के शिक्षालय, विशिष्ट पुरुष, आर्य विद्वान एवं उनके ग्रन्थ, समाचार पत्र और प्रेस, संस्था के नियम आदि का वर्णन है।

"आर्यसमाज का इतिहास" (पं० इन्द्र कृत)

द्वितीय इतिहास लेखक पंडित इन्द्र जी विद्यावाचस्पति हैं जिन्होंने "आर्यसमाज का इतिहास" प्रथम भाग महर्षि दयानन्द जन्मशताब्दी के अवसर पर लिखकर प्रकाशित करवाया था। यह ग्रंथ अपूर्ण था। कुछ परिवर्तन के साथ इसका द्वितीय संस्करण सन् १९५७ में छपा। इसी समय द्वितीय भाग का प्रथम संस्करण भी प्रकाशित हुआ। पं० इन्द्र जी का विचार इतिहास को तीन भागों में पूर्ण करने का था परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु से तृतीय भाग अनिश्चित काल के लिये स्थगित हो गया। प्रथम भाग में छः खंड हैं। प्रथम खंड में वेद और उनके साहित्य का वर्णन है। द्वितीय और तृतीय में स्वामी जी का जीवन चरित्र है। चतुर्थ में स्वामी जी की मृत्यु के पश्चात् शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, संगठन का विस्तार और पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के विषय में लिखा है। पंचम में संघर्ष-युग का चित्रण है जिसमें स्त्री शिक्षा, इस्लाम से संघर्ष, दीलतोद्धार, शास्त्रार्थ आर्यपथिक का बलिदान आदि विषय हैं। षष्ट खंड में भारत के विभिन्न प्रान्तों में आर्यसमाज की प्रगति पं० भीमसेन का मत-परिवर्तन, आर्यभाषा आदि के विषय में है। इस ग्रंथ के परिशिष्ट भाग में ऋषि की जन्म तिथि, पिता का नाम, आर्यसमाज का स्थापना-दिवस, ऋषि की मृत्यु, नियम आदि के विषय में विचार प्रस्तुत किये हैं।

द्वितीय भाग में सन् १९०० से लेकर सन् १९४७ तक का इतिहास है। इसके प्रथम खंड में महात्मा मुन्शीराम, गुरुकुलों की स्थापना, सरकारी कोप, पटियाला काँड, देश विदेश में धर्म-प्रचार सम्बन्धी वार्तायें हैं। द्वितीय खंड में शुद्धि, जातपांत-विरोध, दलितोंद्धार, प्रान्तों में आर्यसमाज की प्रगति, दक्षिण अफ्रीका में आर्यसमाज का प्रचार आदि विषय हैं। तृतीय खंड में स्वाधीनता-संग्राम में आर्यसमाज का सहयोग, साम्प्रदायिक उपद्रव, दक्षिण

प्रचार, श्री मद्दयानन्द जन्म-शताब्दी और टंकारा शताब्दी, स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान आदि का वर्णन है। चतुर्थ में आर्य महासम्मेलनों, प्रतिनिधि सभाओं, अजमेर की निर्वाण अर्ध शताब्दी आदि विषय वर्णित हैं। पंचम में हैदराबाद सत्याग्रह और षष्ट में सत्यार्थ-प्रकाश पर सिन्ध सरकार के आक्रमण, आर्यसमाज की विविध प्रवृत्तियों, स्वाधीनता-प्राप्ति में आर्यसमाज का भाग आदि विषयों का वर्णन है।

इस प्रकार इस इतिहास के दोनों भागों में आर्यसमाज के जन्म से लेकर सन् १९४७ तक का यथा संभव पूर्ण विवरण है। इतिहास परिमार्जित भाषा में लिखा गया है। तिथि क्रम का ध्यान रक्खा है और लेखन-प्रणाली निष्पक्ष है।

"आर्यसमाज"

पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने "आर्यसमाज" नाम से एक पुस्तक सन् १९२४ ई० में रची जिसका दूसरा संस्करण सन् १९३६ ई० में निकला इस पुस्तक में पंडित जी ने आर्यसमाज का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है।

"आर्यसमाज का इतिहास"

एक अन्य संक्षिप्त इतिहास पंडित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार ने सन् १९४१ ई० में लिखा जिसका मुख्य उद्देश्य आर्यकुमार परिषद द्वारा संचालित परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के लाभार्थ आर्यसमाज सम्बन्धी सामान्य ज्ञान प्रस्तुत करना है। इसमें आर्यसमाज की सभी प्रगतियों का वर्णन विदेश-प्रचार और हैदराबाद के धर्मयुद्ध को मिलाकर है।

कहानी उपन्यास और नाटक

आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ किसी आर्यसमाजी विद्वान ने कहानी और उपन्यास का आश्रय नहीं लिया। कुछ कहानी उपन्यास आर्यसमाज के अनुगामी लेखकों ने लिखे अवश्य हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दी-गद्य के विकास-काल में उपन्यासों का अभाव था। जो कतिपय उपन्यास लिखे भी गये उनका उद्देश्य शिक्षा देना अथवा समाज-सुधार करना न था वरन् जनता में कूतूहल उत्पन्न करना एवं मनोरंजन करना था। आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था थी उसका उद्देश्य धर्मप्रचार था अतः उसने खेल, कौतुक और मनोरंजन की ओर ध्यान न देकर आध्यात्मिक और समाज-सुधार सम्बन्धी साहित्य का ही सृजन हिन्दी भाषा में किया। स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने नाटकों का विरोध करते हुए आर्यों को सावधान कर दिया था कि खेल, तमाशा और मनोरंजन में पड़ना आर्यसमाज का कार्य नहीं है। इस चेतावनी के फलस्वरूप आर्यसमाजियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया तथापि परवर्ती उपन्यास और कहानी साहित्य को आर्यसमाज ने अत्यन्त प्रभावित किया। आर्यसमाज से प्रभावित कुछ विद्वानों ने उपन्यास और कहानियां लिखी भी है। श्री चाँदकरण शारदा ने सन् १९१६ ई० में 'कालेज होस्टल' नामक एक उद्देश्य प्रधान उपन्यास की रचना की थी। आजकल के उपन्यास और कहानी लेखकों में पंडित सुदर्शन, पंडित चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि आर्यसमाजी विद्वान अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

प्रहसन

यद्यपि स्वामी जी ने नाटक का विरोध किया था परन्तु साधारण जनता पर उसका

प्रभाव बहुत गहरा पड़ता था आचारिक महत्व की रक्षा के लिये आर्यसमाज उस प्रचार-विधि को स्वीकार न कर सका परन्तु आर्यसमाज के कुछ प्रचारकों ने प्रहसन के रूप में कथोपकथन लिखे। इन प्रहसनों का उद्देश्य अभिनय करना न था परन्तु धर्म-प्रचारार्थ आकर्षक, मनोरंजक और संयत भाषा में ऐसी छोटी-छोटी पुस्तकों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करना था जिसे वह रुचि पूर्वक पढ़े और धर्मान्तर्गत अनाचारों से अवगत हो। इस प्रकार के प्रहसन लेखकों में सम्पादकाचार्य पंडित रुद्रदत्त जी का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन्होंने 'स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी' (?) 'स्वर्ग में महासभा' (?) पाखंड मूर्ति (१८८८ ई०) 'आर्य मत मार्तंड' (१८९५ ई०) 'कंठी जनेऊ का व्याह' (१९०६ ई०) आदि प्रहसन लिखे थे। छोटी होने पर भी पंडित जी की पुस्तकों का महत्व इसलिये भी है कि ये सब खड़ी भाषा हिन्दी-गद्य के प्रारंम्भिक काल में लिखी गई थी।

'स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी'

जैसा कि ऊपर कहा गया है पं० रुद्रदत्त जी का 'स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी' नामक प्रहसन अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें देवताओं और पौराणिक कथाओं का बड़ी व्यंग पूर्ण भाषा में चित्रण किया है। इस पुस्तक में प्रथम 'देवलोक में भोज' तत्पश्चात 'स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी' का वर्णन है। भोज का प्रारंभिक वर्णन देखिए :

'.........छः रस छप्पन व्यंजन के परोसे परसे गये। लेह्य, पेय, चर्व्य, चोष्य, भक्ष्य भोज्य आदि आदि पदार्थों की कमी न थी। भोजन थाल खाद्य द्रव्य से खचाखच भर गया पाकशाला में कितनी भाँति के भोजन थे ? यह गिनना कठिन था। पहिला पारस हो जाने पर देवताओं ने शचीपति के आदेशानुसार भोजन करना आरम्भ किया। लम्बोदर सूंड उठाय उठाय अपनी उदरदरी में लड्डू भरने लगे, हनुमान जी दोनों मुट्ठी मालपुआ और गुड़धानी मसकने लगे महात्मा कृष्णचन्द्र ने पहिले माखन मिसरी पर हाथ लगाया फिर मोहन मठरी तोड़ी। ब्रह्मा जी चारों मुंख मोहनभोग उड़ाने लगे। भगवान विष्णु भी यथारुचि खीर के सड़पोंके भरने लगे, शिव जी के भोजन का कुछ ठीक ही न था जिस वस्तु पर हाथ पड़ा हँसते हँसते उठाकर मुंह में रख ली, काली भैरव आदि मांस पर हाथ भरने लगे सब देव देवियां यथा रुचि अपनी अपनी प्रसन्नता का खाना खानें लगीं.........'[१]

भोज में ही बाराह जी की अवहेलना एवं अन्य देवी देवताओं पर कथित दोष लगने के कारण व्यास जी के पुराणों को इसका मूलाधार माना अतः नियम-निर्माता और स्पष्टी-करण हेतु व्यास जी को देव-सभा में उपस्थित होने की चर्चा हुई। अन्त में निर्णय हुआ कि एक साधारण सभा बुलाई जाय और उससे पूर्व एक 'सबजेक्ट कमेटी' का निर्माण हो जिसमें साधारण सभा में प्रवेशनीय विषय निश्चित कर लिये जाँय।

'सबजेक्ट कमेटी' में उपस्थित होने के लिये प्रमुख देवी देवताओं को सूचना भेजी

१—'स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी' ले० पं० रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य, पृष्ठ १०.११

गई। सभा प्रारम्भ होने पर 'कमेटी' में उपस्थित सभी देव गणों ने पुराणों में लिखित अयुक्त बातों को स्पष्ट करने के लिए व्यास जी को बुलवाया। व्यास जी को सफाई देनी पड़ी जिसे उन्होंने २२ श्लोकों में स्पष्ट किया जिससे यह ज्ञात हुआ कि उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में परवर्ती लेखकों ने केवल मिश्रण ही नहीं किया अपितु अनेक ग्रन्थ भी उनके नाम से रच डाले। इस प्रकार यह मनोरंजक पुस्तक ४५ पृष्ठ में समाप्त हुई।

"कंठी जनेऊ का विवाह"

'कंठी जनेऊ का विवाह' नामक पुस्तक पंडित रुद्रदत्त जी ने सन् १९०६ में प्रथम बार छपाई थी। संवत् १९८१ में यह तृतीय बार नेमीचन्द्र जैन के प्रबन्ध से शर्मा मशीन प्रिंटिंग प्रेस मुरादाबाद में छपी और प्रकाशन पं० शंकरदत्त शर्मा वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद द्वारा हुआ। पुस्तक का उद्देश्य भूमिका में निम्न शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

'आजकल भारतवर्षीय धर्म सम्प्रदायों में अनेक प्रकार के ढकोसले चल रहे हैं। यद्यपि उनका कुछ भी सिर पैर नहीं है तो भी अनेक लोग उनको धर्म समझ के करते हैं, अधिक आश्चर्य यह है कि वर्तमान हिन्दू समाज के संशोधन का भार जिन पंडितों के सिर पर अर्पित है वह स्वयं उन अविवेक जन्य ढकोसलों में फंसे हुये हैं, इन ढकोसलों में से तुलसी और शालिग्राम जी का विवाह भी एक ढकोसला है, बस मैंने उस विवाह का मिथ्यात्व और बाल क्रीड़न सिद्ध करने के निमित्त ही "कंठी और जनेऊ का विवाह" लिखा है।"

आर्यमत मार्तंड

इसी प्रकार "आर्यमत मार्तंड में भारतवर्ष में प्रचलित अनेक पंथों और सम्प्रदायों की निस्सारता का मनोरंजक वर्णन है। इस पुस्तक में पंडित रुद्रदत्त जी ने भोजपुरी, बंगाली, ब्रजभाषा आदि अनेक उपभाषाओं के नमूने भी प्रस्तुत किये हैं जिनसे पुस्तक की रोचकता बढ़ जाती है।

लघु पुस्तिकायें (ट्रैक्ट)

लघु पुस्तिकायें (ट्रैक्ट) द्वारा जनता में धर्म प्रचार की प्रेरणा आर्यसमाज को ईसाई मिश्नरियों से मिली। उन्नीसवीं शती में ईसाइयों की ओर से संगठित प्रचार करने के अनेक साधन थे जिनमें 'अमेरिकन ट्रैक्ट सोसाइटी' 'नार्थ इंडिया बाइबिल सोसाइटी,' 'ट्रैक्ट एंड बुक सोसाइटी' आदि कुछ प्रमुख संस्थायें भी थीं जिनकी ओर से हिन्दी में छोटे छोटे ट्रैक्ट प्रकाशित हुये थे। ये ट्रैक्ट अल्प मूल्य पर जनता को प्राप्य थे जिन्हें साधारण व्यक्ति भी लेकर पढ़ सकता था, बहुधा ये ट्रैक्ट प्रचारार्थ जनता में बिना मूल्य भी वितरण किये जाते थे। ईसाइयों ने लघु पुस्तिकाओं को प्रकाशित कर प्रचार का पूर्ण लाभ उठाया। स्वामी दयानन्द जी की तीक्ष्ण दृष्टि से यह प्रचार साधन भी न बच सका संभवतः इसीलिये उन्होंने स्वयं अनेक छोटी छोटी पुस्तकों की भी रचनायें की जिनमें गोकरुणानिधि, आर्योद्देश्य रत्नमाला वेदान्तिध्वान्त निवारण, वेद-विरुद्ध मत-खंडन, व्यवहार भानु आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित ट्रैक्ट

स्वामी जी के पश्चात अन्य आर्यप्रचारकों ने भी छोटी छोटी पुस्तकों को छपा कर प्रचार-कार्य किया। आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) ने इस विषय में विशेष प्रयत्न किया था। उक्त सभा ने सन् १८८९ ई० में एक 'ट्रैक्ट सोसाइटी' स्थापित की जिसके प्रथम मंत्री बाबू गंगाप्रसाद जी एम० ए० थे। "सोसाइटी" ने कुछ ट्रैक्ट हिन्दी में छपाये जिनमें से मुख्य निम्न लिखित हैं।

"सन्ध्योपासन", पं० तुलसी राम स्वामी १८९८ ई०, "मानवधर्म," बाबू श्याम सुन्दर लाल १८९८ ई० "ईश्वर की सत्ता", पं० गणेश प्रसाद १८९८ ई० "ईसाई मत परीक्षा", मुंशी ज्योतिस्वरूप जी १८९८ ई० "ईश्वर भक्त", पं० गणेश प्रसाद १९०० ई० "सत्य प्रकाश", पं० ललिता प्रसाद (समय ?) "आर्यसमाज क्या है ? पं० ब्रजनाथ जी बी० ए० १९०३ ई० "गंगा माहात्म्य", पं० वंशीधर पाठक (?) "महात्मा बुद्ध का जीवन चरित्र", पं० सूर्य प्रसाद जी (?) "वर्ण व्यवस्था", (लेखक और समय अज्ञात) "मांस भक्षण निर्णय", मुं० परमानन्द जी १९०२ ई०।[1]

उपाध्याय जी के ट्रैक्ट

"ट्रैक्ट सोसाइटी" के अतिरिक्त अनेक आर्य विद्वानों और प्रचारकों ने धार्मिक और सामाजिक विषयों पर कितनी ही छोटी छोटी पुस्तकें हिन्दी में लिखकर प्रकाशित करवाई हैं। यह प्रयत्न निरन्तर कार्यान्वित होता रहा है। इस विषय में विशेष प्रयत्न पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने किया जिन्होंने अब से लगभग २५ वर्ष पूर्व आर्यसमाज चौक प्रयाग के अंतर्गत एक ट्रैक्ट-विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग में दो हिन्दी और एक अंगरेजी की ट्रैक्ट माला है। प्रथम "माला" से ६७ और द्वितीय से २३ ट्रैक्ट निकल चुके हैं जिनका मूल्य क्रमशः एक आना और दो पैसा प्रति ट्रैक्ट है। सन्ध्या, हवन और भजन के अतिरिक्त अन्य अनेक ट्रैक्टों में आर्यसमाज के सिद्धान्तों को सरल भाषा में स्पष्ट किया गया है। स्वामी दयानन्द, आर्यसमाज और हिन्दुओं की सामाजिक बुराइयों पर प्रकाश डालने वाले भी अनेक ट्रैक्ट हैं। सरल भाषा और अल्प मूल्य में होने के कारण ये लाखों की संख्या में बिक चुके हैं। इन ट्रैक्टों से आर्यसमाज और हिन्दी-साहित्य का यथेष्ट प्रचार हुआ है। "तुम्हारी भाषा क्या है ?" नामक ट्रैक्ट में उपाध्याय जी ने हिन्दी-भाषा, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता के विषय में लिखा है।

"यदि समस्त भारत के हिन्दू एक स्वर से कहें कि हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी है तो इनकी बहुत सी उलझनें दूर हो सकती हैं। परन्तु इनको भारतवर्ष के बचाने की इतनी चिन्ता नहीं जितनी प्रान्तीय प्रान्तीयता के बचाने की है। यह है एक टेढ़ी समस्या जिसका समाधान केवल बुद्धिमान हिन्दुओं के हाथ में है। आत्म अभिमान, घर का अभिमान, प्रांत का अभिमान, अपनी अपनी छोटी छोटी भाषाओं का अभिमान यह सब उत्तम चीजें हैं। परन्तु यदि सभी अपना स्वार्थ करेंगे तो देश का हित कौन सोचेगा ? हम

---

१. वैदिक वैजयन्ती, पृष्ठ ११७. ११८

यह नहीं कहते कि अपने अपने प्रान्त की भाषाओं की उन्नति न करो। हम कहते यही हैं कि राष्ट्र भाषा हिन्दी को अपनाओं और एक स्वर से कह दो कि हमारी भाषा हिन्दी है। इससे तुम सुसंगठित हो जाओगे। विदेशी यह नहीं कह सकेंगे कि भारतवर्ष की इतनी भाषायें हैं कि अँग्रेजी बिना एकता हो ही नहीं सकती। एक बात मुसलमान भाईयों को भी समझ लेनी चाहिये। हिन्दी या हिन्दुस्तानी जिसको हम आर्य भाषा कहते हैं न तो श्री कृष्ण और रामचन्द्र जी की भाषा है न मुहम्मद साहब या उनके खलीफों की। इस भाषा के बनाने में हिन्दू कवि तुलसीदास सूरदास तथा उर्दू कवि मीर आदि सभी का भाग है। हम दोनों के बुजुर्गों ने इस शुभ काम में भाग लिया है। [१]

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन

यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे पूर्व अनेक स्थानों पर इसका सन्दर्भ दिया जा चुका है। हिन्दी-संसार में किसी महापुरुष के पत्र-संकलन का प्रयास सर्वप्रथम आर्यसामाजिक क्षेत्र से एक आर्य विद्वान द्वारा हुआ। पं० लेखराम जी और स्वामी श्रद्धानन्द जी ने स्वामी जी के कुछ पत्रों का संकलन किया था परन्तु प्राप्य पत्रों का सुसम्बद्ध रूप से सम्पादन सर्वप्रथम प्रसिद्ध आर्य विद्वान पंडित भगवद्दत जी ने सन् १९१८ ई० में किया।

इसके प्रथम भाग में पत्र और विज्ञापन मिलाकर संख्या में ८१ थे। द्वितीय भाग सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें पत्र और विज्ञापनों की संख्या १३७ तक पहुँची। तृतीय भाग में, जो जनवरी सन् १९२७ ई० में छपा, पत्रों की संख्या १८५ तक बढ़ गई। जुलाई सन् १९२७ ई० में ही चतुर्थ भाग भी प्रकाशित हो गया जिसमें पत्रों की संख्या में ५९ की और वृद्धि हुई। सन् १९४५ ई० में समस्त भागों को मिलाकर एवं अन्य नवीन प्राप्त पत्रों को सम्मिलित कर एक वृहत् संग्रह छपाया गया। इसमें कुल मिलाकर ५०० पत्र और विज्ञापन थे। दुर्भाग्यवश सन् १९४७ ई० के देश विभाजन काल में वृहत् संग्रह की ८०० प्रतियाँ लाहौर में भस्मसात् हो गईं। तत्पश्चात पत्रों के नवीन संस्करण के छपाने का प्रयत्न होता रहा। अन्त में सन् १९५५ ई० में पत्र, विज्ञापन, पत्रांश, पत्र सारांश, विज्ञापनांश एवं पारसल आदि की सूचनाएं मिलाकर ३४४ नये योग किये गये जिससे पूर्ण संख्या ८४४ हो गई और द्वितीय बृहत् संस्करण प्रकाशित हुआ।

पत्र संग्रह का साहित्यिक महत्व

हिन्दी के साहित्यिक दृष्टिकोण से भी इस संग्रह का बड़ा महत्व है। अनेक बड़े पत्र और विज्ञापनों के पठन से तत्कालीन भाषा और उसकी शैली का ज्ञान प्राप्त होता है। यद्यपि स्वामी जी ने अधिकतर पत्र अन्य लेखकों से ही लिखवाये हैं परन्तु जो विज्ञापन एवं पत्र उन्होंने लिखे हैं उससे भी यह ज्ञात होता है कि उन्होंने हिन्दी पठन-लेखन और भाषण का कितना सतत अभ्यास किया, उत्तरोत्तर उन्नति की और साधारण जनता में इस भाषा के प्रचारार्थ कितना प्रयत्न किया।

———

१. तुम्हारी भाषा क्या है ? ट्रैक्ट सं० ६३, पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय। (१९५०)

अध्याय 6 ६: मण्ड

५

आर्यसमाज और हिंदी-पद्य-साहित्य

आर्यसमाज के प्रादुर्भाव काल में प्रचलित काव्य-धारा

१९वीं शती के अन्तिम चरण में जब आर्यसमाज की स्थापना हुई हिन्दी-जगत में ब्रजभाषा में परम्परागत राधाकृष्ण प्रेम सम्बन्धी काव्य-धारा प्रवाहित थी। अँग्रेजी राज्य के प्रभाव और ब्राह्म-समाज की स्थापना से बंगाल में एक नवीनता की लहर उत्पन्न हो चुकी थी। शनैः शनैः वह लहर भारत के पश्चिम और उत्तर की ओर बढ़ने लगी और और पठित वर्ग की विचार धाराओं में परिवर्तन होने लगा। उस नवचेतना का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था फलतः प्रचलित काव्यधारा का प्रेम सम्बन्धी वेग मंद होने लगा और उसका स्थान सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय विषयों ने लेना आरम्भ किया। विषय-परिवर्तन के साथ ही भाषा का परिवर्तन भी प्रारम्भ हुआ और ब्रजभाषा स्थान पर खड़ी बोली में भी हिन्दी कविता होने लगी।

काव्य-विषय-परिवर्तन

हिन्दी के काव्य-विषय-परिवर्तन के अनेक मुख्य कारण थे। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात अँगरेजों ने विरोधी शक्तियों का पूर्ण रूपेण दमन कर दिया था अतः विदेशी शासन के विरुद्ध किसी को कुछ कहने का साहस नहीं होता था। यही कारण था कि भारतेन्दु हरिश्चन्द, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी आदि तत्कालीन कवियों ने अँगरेजी राज्य और महारानी विक्टोरिया के प्रति अनेक प्रशंसात्मक पद्यों की रचना की। परन्तु टैक्स, मँहगाई, अकाल आदि से जनता को जो अपार कष्ट उस समय हो रहा था उसकी निन्दा करने से भी उन कवियों ने मुख न मोड़ा। भारतेन्दु जी के निम्नलिखित पदों से उनके हार्दिक भाव और तत्कालीन दशा पर प्रकाश पड़ता है :

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
ये धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥[1]

वस्तुतः देशभक्ति की जो भावना बलपूर्वक विद्रोह के समय दबा दी गई थी वह धीरे धीरे जनता में पुनः उत्पन्न हो रही थी और तत्कालीन कवि बड़ी चतुरता से इन भावों को अपनी रचनाओं में प्रकट करते थे। इस प्रकार यद्यपि परम्परागत राधाकृष्ण-प्रेम-सम्बंधी काव्य-विषय के साथ साथ राष्ट्रीय विषयों का प्रारम्भ हो चुका था और पत्र-पत्रिकाओं में उक्त विषय पर कवितायें प्रकाशित होने लगी थीं परन्तु आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात काव्य-क्षेत्र में विषय की विविधता का विशेष रूप से प्रचार हुआ।

आर्यसमाज और विषय की विविधता

आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७५ ई० में हुई थी परन्तु स्वामी दयानन्द जी ने उससे १२ वर्ष पूर्व से ही समस्त भारत में घूम घूम कर वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। बंगाल-यात्रा के पश्चात स्वामी जी ने धर्मान्तर्गत अनाचारों और सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध एवं हिन्दी-भाषा और राष्ट्रीय उत्थान के हेतु बड़े वेग से प्रचार-कार्य किया। भारत की प्राचीन संस्कृति के वे पोषक थे। धार्मिक क्षेत्र में वे एकेश्वरवाद के समर्थक और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। मठ और मन्दिरों में होने वाले अपव्यय और अनाचारों से उन्हें घृणा थी। सामाजिक उन्नति के हेतु वे बाल-विवाह के घोर विरोधी और विधवा-विवाह के पक्ष में थे। जाति-पाँति के ढोंग को नष्ट कर वे वर्णव्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। स्त्री-शूद्रों को शिक्षित कर वे उनका पुनरुद्धार करना चाहते थे। काश्मीर से कन्या कुमारी और बंगाल से गुजरात तक वे एक राष्ट्रभाषा को प्रवाहित देखना चाहते थे। निरीह गौओं की हत्या और दुर्दशा देखकर वे स्वयं अश्रु-पात करते थे। स्वामी जी ने और उनके पश्चात् आर्यसमाज ने उपर्युक्त सुधारों का बड़ी प्रबलता से प्रचार किया जिसके फलस्वरूप समस्त उत्तर भारत में एक युगान्तर उपस्थित हो गया। धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था में आर्यसमाज ने गतानुगतिकता का विरोध कर अपूर्व सुधार प्रस्तुत किये जिसका प्रभाव साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था अतः बीसवीं शती के प्रारम्भ से परम्परागत राधाकृष्ण प्रेम सम्बन्धी ब्रजभाषा काव्य को बड़ा भारी आघात पहुँचा और नये क्रान्तिकारी विषय हिन्दी काव्य को प्राप्त हुये। एकेश्वरवाद नारी-जागरण, अछूतोद्धार, बाल-विवाह, गोरक्षा आदि विषयों से सम्बन्धित कवितायें हिन्दी-साहित्य में लिखी जाने लगीं। भारतीय जागरण और राष्ट्रोत्थान सम्बन्धी कवितायें भी अधिक संख्या में रची जाने लगीं। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात स्वराज्य और स्वाधीनता के आदि प्रवक्ता स्वामी दयानन्द जी ही थे कांग्रेस की स्थापना के दस वर्ष पूर्व ही उन्होंने कहा था "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने

१—हरिश्चन्द्र ग्रन्थावली, पहला खंड 'भारत दुर्दशा' पृष्ठ ४७०

पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[१]

इस प्रकार अन्ध विश्वास के प्रतिकूल एवं सत्य वैदिक धर्म के अनुकूल, सामाजिक और राष्ट्रीय विषय हिन्दी-काव्य को व्यापक रूप से प्रदान करने वाली संस्था आर्य-समाज ही है।

भारतेन्दु, आर्य-समाज और काव्य-विषय

भारतेन्दु जी स्वामी दयानन्द के समकालीन थे। बंगाल एवं भारत के अन्य भागों में भ्रमण करने से भारतेन्दु जी भी प्रगतिशील विचारों के पोषक और अनेक सामाजिक और धार्मिक सुधारों के समर्थक थे। पुराणों में अनुचित सम्मिश्रण, अनेक मतमतान्तरों की वृद्धि, जातिपांति का भेदभाव, बाल-विवाह, बहु-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, विदेश-गमन-बाधा, अनेक देवी देवताओं की पूजा आदि के वे विरोधी थे। निम्नलिखित पंक्तियों में उनके इन विचारों का स्पष्ट चित्रण है:—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन मांहि घुसाये।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाये॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सौं बरजि छुड़ायो॥
जन्म पत्र विधि मिले व्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में व्याहि प्रीति बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत व्याह बल वीरज मार्‍यौ।
विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‍यो॥
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किये हिंदू घबराई॥[२]

उक्त पद्यावतरण को देखने से प्रतीत होता है कि यह किसी आर्यसमाजी प्रचारक ने लिखा है क्योंकि इनमें उन सभी सामाजिक बुराइयों का वर्णन आया है जिसका आर्य-समाज भी खंडन करता है। भारतेन्दु जी की यह रचना सन् १८७६ ई० के लगभग 'भारत दुर्दशा' में प्रकाशित हुई और स्वामी दवानन्द जी ने सन् १८६३ ई० से ही प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अतः यह निश्चित है कि भारतेन्दु जी के विचारों पर ब्राह्म समाज और आर्यसमाज का प्रभाव पड़ा था और वे उदार चेता थे। यद्यपि भारतेन्दु जी उदार विचारों के थे तथापि स्वामी दयानन्द जी द्वारा प्रस्तुत समस्त धार्मिक और सामाजिक

१—सत्यार्थ प्रकाश, आठवां समु०, पृष्ठ १४५।
२—भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला खंड, पृष्ठ ४७५।

क्रान्तिकारी सुधारों के वे समर्थक न हो सके। स्वामी दयानन्द के सुधारों को वे बड़ा उग्र समझते थे। सबसे बड़ा मतभेद मूर्ति पूजा और अवतारवाद पर था। वैष्णव होने के नाते भारतेन्दु जी इसके प्रबल समर्थक थे और स्वामी दयानन्द घोर विरोधी। मुख्यतः मूर्ति पूजा के विषय में विरोध होने के कारण ही भारतेन्दु जी ने स्वामी जी के विरुद्ध 'दूषण मालिका' सन् १८७० ई० में काशी-शास्त्रार्थ के कुछ समय पश्चात लिखी थी जिसका उल्लेख पूर्व हो चुका है। परन्तु शनैः शनैः विरोध की भीषणता समाप्त हो गई और भारतेन्दु जी ने उदारता और शिष्टता का परिचय दिया।

स्वामी दयान्द और भारतेन्दु जी में सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी अनेक धार्मिक और सामाजिक विषयों में मतैक्य था और भारतेन्दु जी भी उन बुराइयों को दूर करने में प्रयत्नशील थे जो तत्कालीन समाज और धर्म में प्रचलित थीं। स्वामी जी ने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर उपदेश द्वारा आर्यसमाज की स्थापना कर सुधार का कार्य पहले ही प्रारम्भ कर दिया था परन्तु स्वामी जी के जीवन काल तक भजनोपदेशकों का आविर्भाव न हो सका था। इस दशा में गीतों द्वारा साधारण जनता में सुधार कार्य करने का प्रयत्न पहले भारतेन्दु बाबू ने ही किया था। उन्होंने 'जातीय संगीत' नामक लेख में लिखा है :

"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मा गण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गांव गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जायँ। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे ऐसे गीतों को संग्रह करूँ और उनको छोटी छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ। इस विषय में, जिनको जिनको कुछ भी रचना शक्ति है उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत वा छंद बनाकर स्वतंत्र प्रकाशकों या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूँगा और सब लोग अपनी मंडली में गाने वालों को यह पुस्तकें दें। जो लोग धनिक हैं वह नियम करें कि जो गुणी इन गीतों को गावेगा उसी का वे लोग गाना सुनेंगे। स्त्रियों की भी ऐसे ही गीतों पर रुचि बढ़ाई जाय और उनको ऐसे गीतों के गाने का अभिनंदन किया जाय....."[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी जातीय संगीत की अल्प मूल्य की पुस्तकें छपवा कर एवं जनता में प्रचार कर सामाजिक और धार्मिक सुधार करना चाहते थे। जिन बुराइयों का प्रतिकार वे करना चाहते थे उसके नाम भी उन्होंने गिनाये

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा खंड, 'जातीय संगीत' पृष्ठ ९३५-९३६।

हैं जिनमें बाल-विवाह के दुष्परिणाम, जन्म पत्री विधि की अशास्त्रीयता, बहु जातित्व की निस्सारता, मादक-द्रव्य-सेवन की निन्दा आदि भी सम्मिलित हैं इनके अतिरिक्त उन्होंने ऐक्य, देशप्रेम, स्वदेशी-वस्तु-व्यवहार पर भी बल दिया है। जिन रागों में इन गीतों को गाये जाने के लिए कहा गया है उनमें कजली, ठुमरी, खेमटा, होली, लावनी, जाँति के गीत, विरहा, गजल आदि बताये हैं क्योंकि जन साधारण में ये ही राग विशेषकर प्रचलित हैं। निस्संदेह भारतेन्दु जी का प्रयत्न सराहनीय था। अपनी ओर से उन्होंने यथाशक्ति प्रयत्न किया और इस प्रकार की रचनायें कीं एवं जन जागृति सम्बन्धी छोटे छोटे नाटक भी लिखे परन्तु विशेष संगठन न होने के कारण वे व्यापक प्रचार न कर सके।

आर्यसमाज और भजन

स्वामी जी के मृत्यु-काल सन् १८८३ ई० तक आर्यसमाज बम्बई और पंजाब एवं पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश) के अनेक स्थानों पर स्थापित हो चुका था। उस समय के आर्यसमाजी बड़े उत्साही, कार्यशील और जीवट के व्यक्ति थे। विरोधों के बवंडर में वे शान्तिपूर्वक अपना कार्य करना जानते थे। उन्होंने अपने को प्रचार-कार्य के हेतु तैयार किया और स्वामी जी के ग्रंथों का अध्ययन कर व्याख्यान देना एवं शास्त्रार्थ करना सीखा। भजनों द्वारा प्रचार करने का क्षेत्र भी उन्होंने उपयुक्त समझा और कुछ व्यक्ति इसके द्वारा उपदेश देने लगे। सर्वप्रथम सन् १८८५ ई० में चौधरी नवलसिंह भजनोपदेशक का उल्लेख आर्य-समाज के इतिहास में मिलता है "चौधरी नवल सिंह की लावनियों ने लाहौर में धूम मचा दी थी। चौधरी जी के तेजस्वी शब्द उनकी ऊँची आवाज और गाने का प्रभावशाली ढंग अद्भुत असर पैदा करते थे।"[1]

भजनीकों का काव्य स्तर

परवर्ती काल में श्री नवलसिंह जी की भांति अनेक भजनीक आर्यसमाज में तैयार हो गये। इन भजनीकों ने अपनी योग्यतानुसार साधारण कोटि के प्रचार सम्बन्धी भजन बनाकर जनता को सुनाये। साधारण जनता ने भजनीकों का स्वागत किया और उनके भजनों को चाव से सुना अतः उनकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी। भजनीकों की इन रचनाओं को तुकबन्दी ही कहा जा सकता है। उनके भजनों का प्रभाव जनता की रुचि के अनुकूल पड़ता था अतः आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों पर पंडाल के नीचे जनता को आकृष्ट करने का काम भजनीकों का ही था। यदि इन भजनीकों की रचनाओं को केवल साहित्यिक दृष्टि से ही देखें और उनकी रचनाओं को काव्यशास्त्र और पिंगल की कसौटी पर कस कर केवल एक पक्षीय निर्णय दे दें तो यह बड़ी भारी भूल होगी। सनातनी हिन्दू तो ऐसे भजनीकों का विरोध विचार-भिन्नतावश करते ही थे परन्तु आर्य-पत्रों में भी उनका विरोध पाया जाता है। ३ जून सन् १९०८ ई० के "सद्धर्म प्रचारक" में "क्ष" नाम के एक महाशय ने "आर्यसमाज और उसका साहित्य" नामक लेख में कविता के विषय में लिखा है :—

"कविता के विषय में हमें यही कहना है कि आर्यसमाज ने कविता-देवी का इतना

१—आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ १७९।

अपमान किया है जितना कोई पूरी शक्ति से कर सकता था। जिन लोगों के ऊपर कभी कविता-देवी ने भूल कर भी दृष्टि-निक्षेप नहीं किया, जिन्होंने कभी जन्म भर में एक बार भी सत्कवियों का संग नहीं किया वे लोग केवल गले के प्रभाव से या पद के प्रभाव से आर्यसमाज में कवि पदवी पाकर कविता-देवी के नाम पर अकड़ अकड़ कर चलते तथा नगर कीर्तनों में सरस्वती की कर्णशूल तुकबन्दियों को सुना सुना कर तालियों का प्रसाद पाते हैं। आर्यसमाज ने कविता को खंडनात्मक पद्यों तथा तुकबन्दियों से बिगाड़ कर जितना पाप अपने ऊपर लिया है उससे निस्तार पाना कष्ट साध्य है।"

इसी प्रकार "आर्यमित्र" के शताब्दी अंक में पं० रामजीलाल शर्मा ने पृष्ठ ८१ पर लिखा है :

"............विशेष कर पद्य भाग तो ऐसा है जिसे देखकर हमारा सिर लज्जा से नीचे को झुक जाता है। शब्द-सौष्ठव, पद-लालित्य और अर्थ-गाम्भीर्य की बात तो अलग रही साधारण तुकबन्दी भी ऐसी बेतुकी है कि जिसे देखकर हँसी आती है। छन्दों की स्वच्छन्दता तो देखते ही बनती है। जहाँ छन्द-शास्त्र की ही गुजर नहीं वहाँ बेचारे रसों और अलंकारों को कौन पूछता है?"

आर्यमित्र के उसी अंक में पं० रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ पृष्ठ १६७ पर लिखते हैं :

".........पद्य की इससे भी अधिक दुर्दशा की गई। लोगों ने तुक्कड़ों की कृतियाँ अपनायीं और उन्होंने शतक, पचासा, भजनावली इत्यादि के रूप में अपनी तुकबन्दियों का खूब प्रचार किया तथा रुपया कमाया। समझदार आर्यों को जनता की इस रुचि से दुःख अवश्य हुआ किन्तु उनके पास इसके रोकने का कोई उपाय नहीं था उनकी लेखनी और वाणी का बल केवल गिने चुने व्यक्तियों को ही पछाड़ सकता था। साधारण जनता उनकी बात को सुनती ही न थी। उसके सामने मामूली भजनीक के बराबर उच्चकोटि का विद्वान किसी काम का न था........."

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त विद्वान आर्यसमाज के भजनीकों की रचनाओं का स्तर ऊँचा देखना चाहते थे। उनका एक मात्र उद्देश्य यही था कि वे आर्यसमाजी भजनीकों को उच्चकोटि की रचनायें लिखने को उत्साहित करें और वे हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकें। परन्तु साधारण जनता की अशिक्षा और उसकी रुचि का ध्यान रखकर जिस परिस्थिति में भजनीकों ने धर्म प्रचार का प्रयत्न किया वह उपेक्षणीय नहीं है।

भजनीकों के प्रचार-कार्य का औचित्य

आर्यसमाज के प्रचारक भजनीकों की रचनाओं में साहित्यिकता और काव्यत्व का अभाव है इस कथन में सन्देह नहीं, उन्होंने अपनी रचनाओं को तुकबन्दी के निम्न स्तर से साहित्यिकता को उच्च भूमि पर लाने का प्रयत्न भी नहीं किया परन्तु इस हेतु हम

उनकी निन्दा करें यह भी अनुचित है। वास्तव में साधारण हिन्दू समाज जो बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध आज के आणविक युग में भी अनेक प्रकार की कुरीतियों, अन्धविश्वासों और धर्माडम्बरों में लिप्त है एवं अविद्या-ग्रस्त है चालीस पचास वर्ष पूर्व अत्यन्त हीनावस्था में था। उस समय शिक्षा की प्रगति ही क्या थी? स्त्री-शिक्षा की कौन कहे पुरुषों की शिक्षा भी उस समय नगण्य थी। समाज-सुधार सम्बन्धी अनेक बातें जनता सुनने को तैयार न थी। अस्पृश्यता-निवारण और विधवा-विवाह का समर्थन करने के कारण उपदेशकों के सिर फोड़ दिये जाते थे। प्रारम्भ से ही जिस विकट स्थिति में भजनीकों ने कार्य किया वह वास्तव में एक साहस का कार्य था। साधारण शिक्षित होते हुए भी आर्यसमाज के महोपदेशकों से उपदेश और वैदिक धर्म की शिक्षा ग्रहण कर उन्होंने चतुर्दिक विरोधी वायुमंडल में बाल-वृद्ध-अनमेल-विवाह, मादक द्रव्य-सेवन, मूर्ति-पूजा, अस्पृश्यता आदि के निवारण और विधवा-विवाह, वेदाध्ययन, एकेश्वरवाद, वर्णव्यवस्था आदि के पक्ष में कवितायें रच कर साधारण जनता को आकृष्ट किया। उन्होंने समाज में प्रचलित लावनी आल्हा, कजली ठुमरी आदि गाकर उन्हें सुधार सम्बन्धी बातें बताईं। स्वांग नौटंकी और निम्न श्रेणी के कुरुचिपूर्ण खेल तमाशे देखने वाली जनता को यदि कोई उच्च कोटि की साहित्य रचना सुनाता तो वह कितना समझ पाती? ग्रामवासी एवं नगर की अपठित जनता का उससे क्या लाभ होता? जनता की कुत्सित भावनाओं को नष्ट कर यदि उनमें सुमार्ग पर लाने का इन भजनीकों ने प्रयत्न किया और कुछ सफलता प्राप्त की तो बहुत बड़ा कार्य किया। कम से कम इन भजनीकों ने आर्यसमाज की विचारधारा, सामयिक समस्याओं और राष्ट्रीयता से साधारण जनता को परिचित कराया। यदि आर्यसमाज के भजनीक केवल उच्चकोटि के साहित्यक कवि ही रहते और विद्वत् समाज में ही उनकी रचनायें समझी जातीं तो आर्यसमाज की भी वही दशा होती जो ब्राह्मसमाज की हुई, आर्यसमाज देश व्यापक न होकर केवल उच्च शिक्षित वर्ग की एक संस्था मात्र रह जाती।

आर्यसमाजी भजनीकों का हिंदी काव्य पर प्रभाव

आर्यसमाज के भजनीकों ने निश्चित रूपेण हिन्दी-काव्य पर भी प्रभाव डाला है। नगर और ग्रामवासी जनता के बीच धार्मिक ओर सामाजिक सुधार की जो धारा इन भजनोपदेशकों ने प्रवाहित की उसमें अवगाहन कर जनता अन्धविश्वास जड़ता और रूढ़िवाद के पंक से पवित्र हुई। जनसाधारण बुद्धि-स्वातंत्र्य का आश्रय लेकर विचार पूर्वक धार्मिक और सामाजिक कार्य करने लगा। शनैः शनैः सामयिक सुधारों का स्वागत होने लगा और सुधार सम्बन्धी विषयों पर केवल आर्यसमाज ही नहीं अपितु परिष्कृत विचार वाले सनातन धर्मावलम्बी कवि भी कवितायें करने लगे। डाक्टर केसरीनारायण शुक्ल ने "आधुनिक काव्य धारा" में लिखा है:—

"हिन्दी काव्य स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के व्यापक प्रभाव से न बच सका। इस समय (भारतेन्दु युग) की कविता में समाज सुधार की भावना स्पष्ट मिलती है और सभी कवियों में यह प्रवृत्ति पूर्णतया लक्षित होती है। क्या कट्टर पंथी क्या

सुधारवादी और क्या आर्यसमाजी सभी समान रुप से समाज का कल्याण और सुधार चाहते थे, भले ही इन लोगों में साधन के सम्बन्ध में मतभेद दिखाई दे।'[1]

आर्यसमाज ने काव्य-जगत को अछूतोद्धार, गोसेवा, नारी-सुधार, विधवा, दहेज, परदाप्रथा, बाल-वृद्ध-अनमेल विवाह, मांस-भक्षण, मादकद्रव्य-सेवन, आदि अनेक पूर्व कथित विषय प्रदान किये। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीरामचरित उपाध्याय, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि द्विवेदी युग के कवियों ने उक्त विषयों में से अनेक विषयों पर कवितायें रची हैं। आर्यसमाज के प्रचार के फलस्वरूप जनता बुद्धिवादी भी होती गई और हिन्दू-समाज का शिक्षित वर्ग अनेक कुरीतियों, धर्मान्तिर्गत अनेक आडम्बरों एवं अमान्य विचारों को तिलांजलि देने लगा। फलस्वरूप आर्यसमाजियों के अतिरिक्त अन्य विचारकों ने भी पौराणिक अमानवी घटनाओं एवं चमत्कारों का भिन्न रुप से चित्रण किया। श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे ने कृष्ण की चीर-हरण-लीला का आध्यात्मिक अर्थ लगाया। अनेक कवियों ने अवतारों के चमत्कारों का चित्रण भी भिन्न प्रकार से किया और रामकृष्ण का वर्णन महापुरुष के रूप में भी किया जाने लगा। डा० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है :

'आर्यसमाज अवतारवाद के विरुद्ध झंडा उठाये हुये था। इनका फल साहित्य पर भी पड़ा और अयोध्या सिंह उपाध्याय और रामचरित उपाध्याय ने कृष्ण और राम को यथा संभव मानव चरित्र के रूप में चित्रित किया।'[2]

भजनीकों द्वारा समाज की कुरीतियों का चित्रण

आर्यसमाजी भजनीकों ने जिन भजनों द्वारा प्रचार कार्य किया उसमें मुख्यतः आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का आश्रय लिया। उन्होंने समाज की कुरीतियों का यथार्थ चित्रण किया और समाज की दयनीय दशा और अधोगति का यथातथ्य स्वरूप जनता के सम्मुख प्रकट किया तत्पश्चात् उसके उन्नति के उपाय बताये और हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के अनुसार मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श का दिग्दर्शन भी कराया। उदाहरणार्थ बाल-विवाह का दुष्परिणाम आयु-क्षय और विधवाओं की वृद्धि है। इस विचार का चित्रण एक भजन में निम्न प्रकार किया है।

बाल-विवाह

दुखदाई बाल विवाह से भारत कैसे सुधरेगा ?
जिसके यह न समझ में आई, किस मतलब से हुई सगाई
वधू वही बालिका बनाई, कच्चे बच्चे नाह से।
क्या जीवन प्रेम पगेगा ॥ भारत कैसे० ॥
यदि वे दम्पति आयु लहेंगे, तो रोगी बलहीन रहेंगे
नाना संकट शोक सहेंगे, वह जोड़ा किस राह से
फिर दुख सागर उतरेगा ॥ भारत कैसे० ॥

१—आधुनिक काव्य धारा पृष्ठ ७३
२—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा श्री कृष्ण लाल पृष्ठ ४६

मित्र बन्धु मतिमन्द विचारे, रह न सके तनु भार सँभारे
यदि प्रीतम परलोक सिधारे, तो विधवा की आह से
कुल कैसे धीर धरेगा ।। भारत कैसे० ।।
अब तो बाल विवाह बिसारो, वेदों की आज्ञा सिर धारो
राम नरेश स्वदेश सुधारो, इस कुरीति के दाह से ।
सुख गौरव ज्ञान जगेगा ।। भारत कैसे० ।।[१]

प्रोत्साहन

उक्त प्रकार के भजनों से जहाँ जनता को कुरीतियों के दुष्परिणाम स्पष्टतः बताये जाते थे वहाँ उत्साहवर्द्धक और जोशीले भजनों द्वारा उन्हें कर्तव्य का ज्ञान भी कराया जाता था। प्रसिद्ध भजनीक नन्दलाल का प्रोत्साहन निम्नलिखित भजन में दर्शनीय है :

भारत के बच्चे बच्चे को हम अर्जुन भीम बनायेंगे ।
इस देश के बाँके वीरों को शस्त्र विद्या सिखायेंगे ।।

+ + +

हैं कतल किये लाखों हिन्दू, मंदिर भी सभी गिराये हैं ।
जो जुल्म किये हैं दुष्टों ने हम उनका मजा चखायेंगे । भारत ।
रग रग में खून है अर्जुन का हम हनूमान के साथी हैं ।
पापों की अधर्मी लंका का दुनिया से भ्रम मिटायेंगे । भारत ।
गये भूल हैं जब गजनी अन्दर हिन्दू वीरों ने ललकारा ।
"नंदलाल" उन्हें इक बार वही नलवे की याद दिलायेंगे । भारत ।[२]

नारी-जागरण

आर्यसमाज के प्रचार ने एक और बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया जिसका प्रभाव साहित्य पर पड़ा। वह है नारी-जागरण का कार्य। लगभग ३०० वर्षों से १९ वीं शती के अन्त तक हिन्दी-साहित्य एवं काव्य में स्त्रियों का बड़ा हीन चित्रण किया गया था। नायिका भेद के जाल में जकड़ कर उन्हें एकमात्र उपभोग्य सामग्री बना रक्खा था। उनका वर्णन प्रोषितपतिका, अभिसारिका अज्ञातयौवना, वासकसज्जा आदि के रूप में ही मिलता था। अन्धविश्वास और रूढ़िवाद में उलझे हुये हिन्दू-समाज ने उन्हें पूर्णतया घर की चहार दीवारी में बंद कर रक्खा था। वे अशिक्षित थीं, तिरस्कृत थीं और पति के कार्यों में हस्तक्षेप करने एवं परामर्श देने का उन्हें अधिकार न था। आर्यसमाज ने स्त्रियों की ऐसी दशा देखकर उनका भी उद्धार किया, उन्हें अर्द्धांगिनी का पद दिलाया, पर्दा-प्रथा के गर्त से बाहर निकाला उन्हें शिक्षित किया और सीता एवं सावित्री का आदर्श उनके सम्मुख रक्खा। स्त्रियों के उत्थान सम्बन्धी भजन भी आर्यसमाज के भजनीकों ने गाये। आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों पर, मेलों में, विवाह एवं अन्य संस्कारों के अवसर पर नारी-सुधार सम्बन्धी

१—भजन भास्कर, संग्रहीता पं० हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ २५५
२—पुष्पांजलि, राजपाल एंड संस, १९५१, पृष्ठ ६६

भजन सुनाये जाते थे। उन्हें सुन कर पुरुषों और स्त्रियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा और नारी-समाज उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। फलतः काव्य-क्षेत्र में भी परिवर्तन होने लगा। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नायिका भेद सम्बन्धी कविताओं की निन्दा की और कवियों को अन्य विषयों की ओर कविता करने की प्रेरणा दी। उन्होंने नयिका भेद के विषय में लिखा है :—

"इस प्रकार की पुस्तकों का होना हानिकारक है, समाज के सच्चरित्र की दुर्बलता का दिव्य चिह्न है। हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र ही बन्द हो जाना चाहिये और यही नहीं किन्तु आज तक ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं उनका वितरण होना भी बन्द हो जाना चाहिये। इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि न पहुँचेगी, उलटा लाभ होगा। इनके न होने से ही समाज का कल्याण है।"[१]

नायिका-भेद के स्थान पर अनेक काव्य-विषयों का सुझाव देते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है, "इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर, नदी, तड़ाग आदि निर्माण किये हैं कि यदि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनन्त काल तक सबका वर्णन करते रहें तो भी उनका अन्त न हो। फिर हम नहीं जानते और विषयों को छोड़कर नायिका भेद सदृश्य अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए।'[२]

इस प्रकार आर्यसमाज के प्रचार ने तत्कालीन सहृदय और बुद्धिवादी विद्वानों को प्रभावित किया और स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा की एवं उन्हें आदर्श मार्ग प्रदर्शित किया। भजनोपदेशक श्री "वसुदेव" के एक भजन की कुछ पंक्तियाँ देखिये :

देखिये बहनों यह पहले कैसी नारी तुममें थीं।
वेद की ज्ञाता विवेकी धर्मधारी तुममें थीं॥
लोपामुद्रा और गार्गी उर्वशी सी हो चुकी।
किये शास्त्रार्थ पुरुषों से ऐसी नारी तुम में थीं॥
शोक है बहनों कि तुम तो सौ भी गिनना न जानतीं।
यहाँ कभी लीलावती सीता सी नारी तुममें थीं।[३]

स्त्रियों को शिक्षित, समर्थ और योग्य बनाने, उन्हें अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में लाने और प्राचीन भारतीय आदर्शानुसार जीवन-निर्माण करने का उपदेश तो आर्योपदेशकों ने दिया परन्तु वे सतर्क भी रहे कि कहीं उन पर पश्चिमीय सभ्यता का कुप्रभाव न पड़ने पावे। यद्यपि आधुनिक अँग्रेजी शिक्षा का उन पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है परन्तु आर्यसमाज की ओर से पश्चिमीय अन्धानुकरण का निरन्तर विरोध हुआ है। "प्रकाश" जी ने अपनी पुस्तक में लिखा है :

१—रसज्ञ रंजन, पृष्ठ ६२
२—वही, पृष्ठ ६२
३—पुष्पांजलि राजपाल एण्ड संस, पृष्ठ ९१

हम आर्य नारियाँ अब, कुछ करके दिखायेंगी ।
पुरुषार्थ, त्याग द्वारा निज बिगड़ी बनायेंगी ।।

\+ \+ \+

अँग्रेजी सभ्यता के विकराल जाल में फँस ।
मर्यादा धर्म गौरव अपना न गँवायेंगी ।।
मँझधार में पड़ी है भारत स्वदेश नौका ।
बन कर्णधार उसको अब पार लगायेंगी ।।
अज्ञान के तिमिर में बहनें फँसी हुई हैं ।
विद्या "प्रकाश" करके सन्मार्ग बतायेंगी ।।[1]

इस प्रकार नारी जागरण का श्रेय आर्यसमाज के प्रचारकों को है । प्राचीन मर्यादा, आदर्श, शिक्षा और संस्कृति की ओर स्त्रियों को आकृष्ट करने में आर्यसमाज ने जो प्रयत्न किया है उसके परिणाम स्वरूप भी आज हिन्दू-समाज में सन्तुलन रह सका है अन्यथा पाश्चात्य शिक्षा प्रभावित स्त्रियों ने भारतीय समाज की व्यवस्था में कठोर रूढ़िवादी नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया कर अनुचित उलट फेर कर दिया होता ।

अन्धविश्वास

अनेक देवी-देवताओं की पूजा को हटाकर एकेश्वरवाद की स्थापना करना स्वामी दयानन्द ने जीवन का मुख्य सिद्धान्त था । आर्यसमाज ने इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु यथा-साध्य प्रयत्न किया । समाज के भजनीकों ने मूर्तिपूजा और देवी-देवताओं के खंडन में अनेक भजन बनाये । खंडनात्मक भजनों के अतिरिक्त एकेश्वरवाद की स्थापना सम्बन्धी जो भजन भजनीकों ने रचे उनमें चाहे भाषा-सौष्ठव का अभाव हो, छन्द चाहे पिंगल की कसौटी पर पूर्णरूपेण कसे न हों और मात्रा, वर्ण, विराम के बन्धन से सम्भवत: वे मुक्त हों परन्तु निष्पक्ष रूप से देखने से भाव की कमी उनमें दृष्टिगत न होगी और कहीं कहीं अलंकारों के दर्शन भी उनमें हो जायँगे । भजनों में भाव की सत्ता ने ही साधारण जनता पर असाधारण प्रभाव डाला और प्रचारकों को अपने कार्य में सफलता प्राप्त हुई । सर्वव्यापी और निराकार ईश्वर का चित्रण निम्नलिखित भजन में पठनीय है ।

'तुम्हारी कृपा से जो आनंद पाया । वाणी से जाये वह क्योंकर बताया ।
नहीं है यह वह रस जिसे रसना चाखे । नहीं रूप उसका कभी दृष्ट आया ।
नहीं है यह गुण गंध जो कोई जाने । त्वचा से न जाये वह छुआ छुवाया ।
संख्या में आना असंभव है उसका । दिशा काल में भी रहे न समाया ।
तुझ सा न दाता तुझ सा न दानी । इतना बड़ा दान जिसने दिलाया ।
आत्मोन्नति में तुम्हारी दया से । मेरी जिन्दगी ने अजब पलटा खाया ।

१—प्रकाश भजन सत्संग (सं० २०१० वि०), पृष्ठ १७१-१७२

सत् चित आनन्द अनन्त स्वरूप। मुझे मेरे अनुभव ने निश्चय कराया।
गूंगे की रसना के सदृश 'अमीचंद'। कैसे बतायें कि क्या रस उड़ाया।[1]

इसी भाव को व्यक्त करते हुये एक दूसरे भजनोपदेशक का गीत देखिये :

मैं उन पर जाऊँ बलिहारी।
जिनका ध्यान धरत सुर नर मुनि।
खग गुण गावत डारी डारी।। मैं उन पर०।
रवि शशि जिनकी ज्योति जगावत।
पवन करत पंखा सुखकारी।। मैं उन पर०।
प्रिय 'प्रकाश' जिनकी अति सुन्दर।
फूल रही यह जग फुलवारी।। मैं उन पर०।[2]

साकारोपासना के खंडन में भजनीकों ने अनेक गीत और भजन रचे हैं। इनमें ऐसे भजन भी हैं जिनमें उग्र प्रहार भी हैं और जिनमें शिष्ट-व्यंग और बुद्धिवादी तर्कों का आश्रय भी लिया गया है। १९ वीं शती के अन्तिम और बीसवीं शती के प्रारम्भिक चरण में खंडन मंडनात्मक भजनों का बड़ा प्राबल्य था। इस प्रकार के साहित्य की वृद्धि का कारण भी आर्यसमाज ही था। जनता की रुचि भी बहुत कुछ खंडनात्मक भजनों के सुनने की ओर थी अतः भजनीकों को भी प्रोत्साहन मिला। निम्नलिखित प्रसिद्ध भजन में निराकारोपासना की पुष्टि के साथ ही साथ तर्क और शिष्ट व्यंग की झलक भी है :—

"अजब हैरान हूँ भगवन तुझे क्यों कर रिझाऊँ मैं।
कोई वस्तु नहीं ऐसी जिसे सेवा में लाऊँ मैं।।
करूँ किस तरह आवाहन कि तुम मौजूद हो हरजा।
निरादर है बुलाने को अगर घंटी बजाऊँ मैं।।
तुम्हीं हो मूर्ति में भी तुम्हीं व्यापक हो फूलों में।
भला भगवान को भगवान पर कैसे चढ़ाऊँ मैं।।
लगाना भोग कुछ तुमको यह इक अपमान करना है।
खिलाता है जो सब जग को उसे कैसे खिलाऊँ मैं।।
तुम्हारी ज्योति से रोशन हैं सूरज चाँद और तारे।
महा अन्धेर है तुमको अगर दीपक दिखाऊँ मैं।।
भुजायें हैं न सीना है, न गर्दन है न पेशानी।
तू है निर्लेप नारायण कहाँ चन्दन लगाऊँ मैं।।"[3]

शुद्धि का भजनों द्वारा प्रचार

आर्यसमाज आन्दोलन ने जितने भी सामाजिक और धार्मिक क्रान्तिकारी सुधार

१—पुष्पांजलि, पृष्ठ २६
२—प्रकाश भजन सत्संग, पृष्ठ ४
३—पुष्पांजलि, प्र० राजपाल एण्ड संस, पृष्ठ ३०

किये सभी में विरोधों, कठिनाइयों और विघ्नों से पग पग पर टक्कर लेनी पड़ी परन्तु सबसे कठिन मोर्चा आर्यसमाजियों को मुसलमानों और ईसाइयों से लेना पड़ा। हिन्दुओं की अधोगति से लाभ उठाकर उक्त विधर्मी अपनी संख्या दिन प्रति दिन बढ़ा रहे थे। फलतः हिन्दुओं की संख्या निरन्तर कम होती जा रही थी। आर्यसमाज इसे न देख सका और उसने शुद्धि का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। सभी प्रचारकों ने इस पर बल दिया फलस्वरूप ईसाई और मुसलमान भी शुद्ध होकर हिन्दू धर्म में मिलने लगे। अब तक हिन्दू धर्म से निष्क्रमण तो था परन्तु आगमन न था आर्यसमाज ने सभी धर्मावलम्बियों के हेतु वैदिक धर्म का द्वार खोल दिया। इस प्रकार आधुनिक सुधारों में यह बड़ा क्रान्तिकारी और कठिन-साध्य कार्य आर्यसमाज ने कर दिखाया। कर्मठ आर्य पीछे न हटे और उच्च स्वर से कहते रहे :—

उठो अब दोस्तो बांधो कमर को।
पिला दो जामें शुद्धि हर बशर को।
बिछड़ कर जो चलें हमसे हमारें,
कहो उनसे कि जाते हो किधर को।
बहुत से लाड़ले बच्चे हो नंगे,
तके हैं भूख में गैरों के घर को।
उच्चारन वेद का जो नित करते थे,
पढ़े बाइबिल कुरां शामो सहर को।
कभी कुर्बान जो गौओं पे होते।
लिये फिरते हैं वे पैनी छुरी को।
अहिंसा जीव का जो नुक्ता रखते थे,
करें वह चाक गौओं के जिगर को।
जनेऊ और शिखा के जो थे रक्षक,
रखा दाढ़ी फिरें मुंडवाये सर को।
... .

बनो हामी जरा शुद्धि के प्यारो,
लगा दो सीमो ज़र अपना इधर को।[1]

मुसलमान और ईसाइयों को सीमित संख्या में ही हिन्दू बना लेने से आर्यसमाज को सन्तोष न था, उसका उद्देश्य था 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस भाव को उत्साही प्रचारक अपने शुद्धि सम्बन्धी भजनों में अवश्य कहते थे निम्नलिखित गजल में 'मुसाफिर' की महत्वाकांक्षा देखिए :

'मिलाओ शुद्ध दिल से शुद्ध करके लख्ते जिगरों को।
तेरे नूरे नजर नजरों से पिनहा होते जाते हैं॥

१— भजन भास्कर संग्रहीता, पं० हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ २०१. २०२

उठाओ ओम् का झण्डा चलो मक्के मदीने को।
मुसलमानी के बस अब होश परेशां होते जाते हैं ॥
शजर शुद्धी को सींचा खूने शीरीं से 'मुसाफिर' ने।
जिसके जेरे साया लाखों शादां होते जाते हैं ॥'[1]

शुद्धि-पथ पर चलने में आर्यसमाजियों को बड़ा मँहगा मूल्य चुकाना पड़ा। दो प्रसिद्ध नेता पंडित लेखराम और स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान इसी कारण हुये परन्तु ये बलिदान निरर्थक नहीं गये। आर्यसमाज सोत्साह अपने कार्य में रत रहा। भजनों में ईसाई मुसलमान के कुकृत्यों, गौ, विधवाओं की दुर्दशा और हिन्दुओं की अधोगति का चित्रण बराबर होता रहा और शुद्धि की आवश्यकता पर जनता में निरन्तर प्रकाश डाला जाता रहा। आर्यसमाज अपने हुत आत्माओं को कैसे भूल सकता था अतः उनका वर्णन भी भजनों में आना अनिवार्य था :—

'न हर्गिज चाहिये कभी तहकीर शुद्धि की।
बड़ी मुश्किल से आई है नजर तस्वीर शुद्धि की ॥
यह वह पौधा है जिसको खून से स्वामी ने सींचा था।
मुसाफिर भी गये लिखकर वही तहरीर शुद्धी की ॥'[2]

शुद्धि और समाज-सुधार सम्बन्धी अनेक कवितायें जिनमें उर्दू और फारसी शब्दों का बाहुल्य है आर्यसमाज के भजनोपदेशकों ने रचीं और जनता को सुनाईं। उनका यह कार्य निरुद्देश्य नहीं था। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों, दिल्ली और पंजाब में उर्दू का ही आधिपत्य था। वहाँ के हिन्दू भी उर्दू ही पढ़ते थे। ऐसी जनता के सम्मुख संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी भाषा का प्रयोग और उसमें कविता एवं भजन सुनाना वांछनीय न था। जनता को शुद्ध हिन्दी ग्राह्य न थी अतः उपदेशकों द्वारा हिन्दी-प्रयोग से आर्यसमाज इतनी शीघ्रता से अपनी धाक न जमा पाता। यही कारण था कि आगरे के प्रसिद्ध महोपदेशक पंडित भोजदत्त और उनके शिष्यों ने उर्दू की शैली अपनाई। यद्यपि मुसलमानों से शास्त्रार्थ में भिड़ने के कारण भी उनकी भाषा उर्दू प्रधान थी। वास्तव में उर्दू भी हिन्दी की ही एक शैली है। आर्योपदेशकों ने उर्दू शब्दों के प्रयोग के साथ ही साथ भाषण एवं भजन के मध्य हिन्दी और संस्कृत के शब्दों का भी प्रयोग किया। इस प्रकार आर्य विद्वानों ने जहाँ उर्दू फारसी और अरबी का अध्ययन कर मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों का निरीक्षण किया वहाँ व्याख्यान एवं शास्त्रार्थ के समय उन्होंने अपने विरोधी मुसलमान और ईसाइयों को भी अनेक हिन्दी और संस्कृत के शब्दों का ज्ञान कराया। पंडित भोजदत्त जी के मुसाफिर विद्यालय के शिक्षित उपदेशकों में कुँवर सुखलाल आर्य मुसाफिर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने उपदेश और भजनों द्वारा हिन्दू-समाज में बड़ी जागृति उत्पन्न की है। उनके भजन अधिकतर उर्दू की गजलों में हैं। उनकी, उपदेश और गजलों के सुनाने की शैली

१—भजन भास्कर, सं० पं० हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ २०२-२०३।
२—वही, पृष्ठ २१५।

बड़ी मोहक है। गजलों के मध्य सन्दर्भानुसार रामायण की चौपाइयाँ अत्यन्त आकर्षक ढंग से वे सुनाते हैं और जनता को घंटों मन्त्रमुग्ध सा रखते हैं। राष्ट्र को अवनति की ओर ले जाने वाली अनेक सामाजिक बुराइयों का चित्रण उनकी निम्नलिखित गजल में देखिये :—

नेशन की इमारत कहीं मिसमार न हो जाय।
गुलशन में कहीं देखना पुरखार न हो जाय।।
देखो तबीबों कहने ही कहने में तुम्हारे।
चलता कहीं जहाँ से ये बीमार न हो जाय।।
जल्दी से जात पांत के बन्धन को तोड़ दो।
ये नुसखये शुद्धि कहीं बेकार न हो जाय।।
उल्फत दिखाओ ऐसी अछूतों से कि कोई।
ईसाई यवन बनने को तैयार न हो जाय।।

\+ \+ \+

धिक्कार है 'सुखलाल' तुझे सुख से बैठना।
जब तक ऋषिऋण से तेरा उद्धार न हो जाय।।[1]

आर्यसमाज के साहित्यिक कवि

आर्यसमाज के भजनीक प्रचारक और उनकी कविता का जो प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ा उसका विवरण दिया जा चुका है। साधारण जनता में तो भजनीकों का ही प्रभाव पड़ा क्योंकि उन्हें एकत्रित जन समूह में अपनी रचनायें सुनाने का अवसर प्राप्त होता था। साहित्यिक कवियों की रचनाओं का क्षेत्र अधिक व्यापक न था। अधिकांश में उनकी कवितायें पत्र पत्रिकाओं में निकलती रहीं और पठित वर्ग ने पढ़कर उनका रसास्वादन किया। अध्यापक, प्राध्यापक, आचार्य, सम्पादक आदि वर्ग से आने के कारण इन साहित्यिक कवियों को जनता में जाकर स्वयं अपनी रचनाओं के सुनने का अवसर बहुत कम मिला। कतिपय कवियों ने कवि सम्मेलनों एवं वार्षिकोत्सवों के अवसर पर अपनी रचनायें यदा-कदा सुनाई परन्तु वे अपठित एवं अल्प पठित जनता पर अपना प्रभाव न डाल सके क्योंकि उक्त जनता न तो कठिन शब्दों में आवेष्टित उनकी कविता समझ सकती थी और न भजन के रूप में उन्हें संगीत का ही आनन्द मिलता था।

साहित्यिक कवियों के काव्य के रूप

साधारण जनता पर पूर्ण प्रभाव न पड़ने पर भी साहित्यिक कवियों की कविताओं का स्थायी मूल्य है। आर्यसमाज के सुरक्षित काव्य की शोभा इन्हीं कवियों की कविताओं में है। साहित्यिक कवियों ने अधिकतर स्फुट रचनायें विभिन्न विषयों पर की हैं जो मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आती हैं। समाज की दुर्बलताओं और अनेक कुरीतियों एवं धर्मान्तर्गत

१—भजन भास्कर, संग्रहीता, पं० हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ १५४, १५५।

अनाचारों और आडम्बरों का दिग्दर्शन विभिन्न विषयों के शीर्षक से स्फुट कविताओं में ही सरलता से हो सकता है। समाज-सुधार मुख्य ध्येय होने के कारण साहित्यिक कवियों ने अपनी रचनाएँ सामाजिक और धार्मिक विषयों पर ही लिखीं और उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया। प्रबन्ध काव्य के अनुकूल आर्यसमाज में कोई विषय न था अतः कवियों की लेखनी इस दिशा में नगण्य सी है। स्वामी दयानन्द के जीवन पर कुछ कवियों ने लिखा है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

स्फुट कवितायें और उनके विषय

उपर्युक्त कथनानुसार स्फुट कविताओं के विषय सामाजिक और धार्मिक हैं। अतः मुख्य विषय निराकार ईश्वर, स्वामी दयानन्द, बाल-वृद्ध-अनमेल विवाह, विधवा, जाति-पाँति, अस्पृश्यता, शुद्धि, वेद, सत्यार्थप्रकाश, स्त्री-शिक्षा, दहेज आदि के विषय में है जिनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। साहित्यिक कवियों ने अपनी रचनाओं के संग्रह करवाने का प्रयत्न नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य अर्थ लाभ न था परन्तु इससे यह हानि अवश्य हुई कि अनेक सुन्दर रचनायें प्राचीन समाचार पत्र और पत्रिकाओं के गर्भ में विलीन हो गईं जिनका खोज निकालना बड़ा ही दुःसाध्य है। आर्यसमाज के प्रसिद्ध साहित्यिक कवि श्री पं० नाथराम शर्मा "शंकर" की रचनायें तो "अनुराग रत्न", "शंकर सरोज", और "शंकर सर्वस्व" के रूप में उपलब्ध हैं परन्तु अन्य कवियों की रचनाओं के हेतु पत्र-पत्रिकाओं की संचिकायें एवं अन्य व्यक्ति द्वारा संग्रहीत कतिपय कविता संग्रहों का आश्रय ही लेना पड़ता है। विभिन्न विषयों पर रचित साहित्यिक कवियों की रचनाओं पर विचार नीचे की पंक्तियों में दिया जाता है :

ईश्वर

ईश्वर को विभिन्न मतावलम्बियों ने विभिन्न रूप में देखा है। आर्यसमाज की दृष्टि में ईश्वर कैसा है इसका वर्णन महाकवि शंकर के कुछ दोहों में देखिये :

"शंकर स्वामी एक है, सेवक जीव अनेक।
वे अनेक हैं एक में वह अनेक में एक ॥१॥
विश्व विलासी ब्रह्म का, विश्व रूप सब ठौर।
विश्व रूपता से परे, शेष नहीं कुछ और ॥२॥
होना सम्भव ही नहीं, जिसमें सैक निरेक।
जाना उस अद्वैत को, किसने बिना विवेक ॥३॥
जिसकी सत्ता का कहीं, नादि, न मध्य, न अंत।
योगी हैं उस बुद्ध के, विरले सन्त महन्त ॥४॥
सर्व शक्ति सम्पन्न है, स्वगत सच्चिदानन्द।
भूले भेद अभेद में, मान रहे मतिमन्द ॥५॥[1]

आर्यसमाज ईश्वर जीव और प्रकृति की सत्ता अलग मानता है। ऊपर के

१—"दिव्य दयानन्द" सम्पादक पूर्ण चन्द्र एडवोकेट और नारायण गोस्वामी वैद्य "परमात्म पंचक", पृ० २०६

दोहों में यद्यपि प्रकृति का वर्णन नहीं है परन्तु ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध का वर्णन करते हुये कवि ने आर्यसमाज की दृष्टि से अद्वैत का स्पष्टीकरण किया है।

ईश्वर एक है सर्वव्यापक है उसकी प्रतिमा नहीं बन सकती और न वह अवतार ले सकता है। इन सब भावों को निम्नलिखित कवित्त में शंकर जी ने स्पष्ट किया है :—

माने अवतार तो अनंगता की घोषणा है,
अंगहीन सारे अंगियों का सिर मौर है।
पूजें प्रतिमा तो विश्व व्यापकता बोलती है,
नारायण स्वामी का ठिकाना सब ठौर है।
खोजें घने देवता हो सकता निषेध करे,
एक महादेव कोई दूसरा न और है।
अन्त को प्रपंच ही में पाया शुद्ध शंकर जो,
भावना से भिन्न है न श्याम है न गौर है।[1]

हिन्दुओं के पौराणिक ग्रन्थों में कहीं राम नाम जपने और कहीं केवल गंगास्नान से ही मुक्ति की बात कही गई है परन्तु आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार महाकवि 'शंकर का कथन है कि मुक्ति इतनी साधारण वस्तु नहीं है। वह अत्यन्त कष्ट साध्य और ज्ञान एवं योग के द्वारा ही प्राप्य है।

योग साधनों से होगा चित्त का निरोध और,
इन्द्रियों के दर्प की कुचाल रुक जावेगी।
ध्यान धारणा के द्वारा सामाधिक धर्म धार,
चेतना भी संयम की ओर झुक जावेगी।
मूढ़ता मिटाय महामेधा का बढ़ेगा वेग,
तुच्छ लोक लालच की लीला लुक जावेगी।
शंकर से पाय परा विद्या यो मिलेंगे युक्त,
बन्धन की वासना अविद्या चुक जावेगी।[2]

महाकवि 'शंकर' की भांति अन्य कवियों ने भी ईश्वर का चित्रण उसी भाँति किया है जिसमें सर्वशक्तिमत्ता, निराकारत्व और सर्वव्यापकता आदि गुणों का गान है। इन कविताओं में आर्यसमाज का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। कबीर एवं अन्य रहस्य-वादी कवियों का प्रभाव भी आर्यसमाजी कवियों पर पड़ा है और उन्होंने इस प्रकार की कवितायें भी की हैं। कवि 'प्रकाश' के निम्नलिखित गीत में रहस्यवादी झलक देखिये :

जीवन, जीवन धन पर वारूँ।
जो आयें प्रभु मोरे आँगन,

१—'शंकर सर्वस्व' ब्रह्म विवेकाष्टक, पृ० ४३
२—वही, पृ० ४३. ४४

नयन नीर से चरण पखारूँ। । जीवन०।
सरस सनेह, सुखद सुमधुर सुधि।
एक घड़ी पल छिन न विसारूँ। । जीवन०॥
प्रभु मुख चन्द्र 'प्रकाश' छोड़कर,
मैं चकोर किस ओर निहारूँ। । जीवन०।[1]

स्वामी दयानन्द के जीवन-चरित संबंधी कविता

स्वामी जी आर्यसमाज के संस्थापक थे। उनका कार्य बहुमुखी और व्यापक था। वैदिक धर्म का पुनरुत्थान, सामाजिक सुधार और राष्ट्रीयता का बीज आधुनिक भारत में सर्वप्रथम उन्होंने ही बोया। अतः केवल आर्यसमाजी ही नहीं समस्त देश उनका ऋणी है। आर्यसमाजेतर व्यक्तियों ने भी उनकी प्रशस्ति लिखी है, उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की है और उनका गुणगान किया है। स्वामी जी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कवितायें की गई हैं। कवियों ने उनका जीवन-चरित संक्षेप में पद्य-बद्ध किया है, उनके जीवन की विशेष घटनाओं से सम्बन्धित कवितायें भी की हैं। उन्हें धर्मोद्धारक, राष्ट्र निर्माता और आदर्श रूप में भी देखा है।

महाकवि 'शंकर' और पं० हरिशंकर शर्मा ने कतिपय छन्दों में स्वामी जी का जीवन चरित लिखा है। पं० हरिशंकर जी का वर्णन 'मूल शंकर का शंकर विवेक' के अन्तर्गत केवल गृहत्याग तक ही है। 'शंकर' जी ने ११ बीर छंद और ७ दोहों में चरित्र-चित्रण किया है। जिनमें के कुछ छंद निम्नलिखित हैं।

जन्मस्थान :—

'धन्य मोरवी नगर निवासी, बुधवर अंबाशंकर शैव।
जिनके पुत्र मूलशंकर का, सुयश रहेगा शुद्ध सदैव॥
होनहार बालक ने अपना, जिस प्रकार से बदला ढंग।
धर्म धुरन्धर कर्मबीर का, सुनिये मित्र चरित्र प्रसंग॥२॥

गृह त्याग :—

चरचा चलते ही विवाह की, हुआ मूलशंकर अति खिन्न।
निश्चय किया स्वतंत्र रहूँगा, होकर कुल कुटुम्ब से भिन्न॥
एक रात चुपचाप अकेला, कर गृहस्थ जीवन का अन्त।
पकड़ दया आनन्द भोग को, गेह त्याग चल दिया तुरन्त॥११॥

अन्तिम दो दोहे :

हारे प्रतियोगी पड़ी, मत पन्थों पर गाज।
धार दया आनन्द से उमगा आर्यसमाज॥६॥

१—भजन-सत्संग प्रकाशचन्द्र कविरत्न, पृष्ठ २५

प्यारे वैदिक धर्म से, कर हमको संयुक्त।
त्याग देह को हो गये, दयानन्द ऋषि मुक्त ॥७॥[1]

पं० हरिशंकर शर्मा ने 'मूलशंकर का शंकर विवेक' शीर्षक से ४३ हरिगीतिका छंदों में जन्म से गृहत्याग तक का चित्रण किया है। प्रारम्भ के १७ छंदों में प्राचीन और स्वामी जी के जन्म के पूर्व की देश-दशा का वर्णन किया है। जन्म से पूर्व देश की हीनावस्था का चित्र देखिये :

हा ! हिन्दुओं के ह्रास का कुछ भी न पारावार था।
परदेशियों के धर्म से इस देश का उद्धार था॥
अगणित अछूतों का अनादर देख जो उपताप था।
उससे अधिक अपनी दशा पर शोक या संताप था ॥१४॥
'खाओ पियो आनन्द भोगो' बस यही सब सार था।
जिस ओर जो चाहे उधर जाये न कुछ प्रतिकार था॥
हा ! कौन सुनता था कथा शोकाकुलों के शोक की।
मदमत्त रहते थे, न सुध थी, लोक की परलोक की ॥१५॥

ऋषि दयानन्द के जन्म-स्थान का परिचय देखिये :

गुजरात भारतवर्ष में चिरकाल से विख्यात है।
सौराष्ट्र की कल कीर्ति सारे देश में प्रख्यात है॥
प्रिय प्रकृति देवी नित नये अवतार धरती है यहाँ।
अपने अलौकिक रूप से मन मुग्ध करती है यहाँ ॥२०॥
इस प्रान्त में ही 'मोरवी' का राज्य मंगल मूल है।
उद्यान उपवन बन घने मच्छू नदी का कूल है॥
यतिवर 'दयानन्दर्षि' की है जन्म भू जननी यही।
अभिमान करती है इसी पर भव्य भारत की मही ॥२१॥

अन्त में गृह-त्याग का दृश्य निम्नलिखित है :

फिर शीघ्र शादी के लिये होने लगी आयोजना।
सर्वत्र ही समझी गई सुखदा यही संयोजना॥
पर बन्धनों से बाँधने का यत्न सब बेकार था।
जब 'मूलशंकर' मुक्त होने के लिये तैयार था ॥४१॥
पूरे प्रलोभन और अस्थिर भोग, सुख साधन सभी।
क्या ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा तोड़ सकते थे कभी ?
बस एक दिन अवसर मिला तो छोड़ पुर परिवार को।
घर से सिधारा मूलशंकर देश के उद्धार को ॥४२॥[2]

१—'दिव्य दयानन्द' 'महर्षि महिमा पृष्ठ १०४
२—वही, पृष्ठ २०६-२१७

आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् एवं कवि डॉ० सूर्यदेव शर्मा ने अपनी एक **कविता में** जिसमें ११ छंद हैं गुरु दक्षिणा का दृश्य अंकित किया है। प्रथम दो दोहों में सम्पूर्ण कविता का सारांश है :

"विद्याध्ययन समाप्त कर, दयानन्द मतिमान।
गुरु अर्पण करने लगे, लौंग दक्षिणा दान।।
गुरुवर बिरजानन्द ने, दिया अमित आदेश।
भारत भू हित जो बना, अमर दिव्य सन्देश।।"

गुरु विरजानन्द का शिष्य के प्रति कथन निम्नलिखित छंद में देखिये :

"अहो प्रिय शिष्य मुदित मतिमान, अखिल आशा पंजर के कीर।
अभय अति अतुलित आभावान, अनूपम आज्ञाकारी वीर।
दक्षिणा देते हो क्या तात ! थाल में रखकर आधासेर।
न लौंगे लूंगा, सुन लो बात, आ रही अन्तस्तल से टेर।।१।।

गुरु जी ने आज्ञा प्रदान की :

अहो ऋषि मुनियों का गुरु ज्ञान भुलाया भारत ने भरपूर।
गपोड़े ग्रन्थ गढ़े गढ़ मान उन्हें तुम कर दो चकनाचूर।।
दिखा कर वैदिक 'सूर्य' प्रकाश भगा दो निशिचर अबुध उलूक।
अविद्या तम का करके नाश सुपथ दिखला दो अटल अचूक।।"

अन्त में शिष्य ने प्रतिज्ञा की :

विश्व में करके वेद प्रचार करूँगा स्थापित आर्यसमाज।
मातृ भू भारत का उद्धार आर्य जाती का गौरव साज।।
इसी में अर्पण कर दूँ प्राण अगर है दयानन्द मम नाम।
आपकी आशिष से कल्याण सफल हो गुरुवर ! मेरा काम।।"[1]

उक्त कविताओं में सर्वत्र स्वामी जी के त्याग, औदार्य, वीरत्व और राष्ट्रसेवा-भाव की झलक हैं। ये कवितायें अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं अतः उनकी गणना मुक्तक में ही की जा सकती है।

प्रशस्ति

स्वामी जी के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक कविताओं का आर्यसामाजिक काव्य-जगत में अभाव नहीं है। उच्च कोटि के कवियो ने भी इस विषय पर कवितायें की हैं। आजकल व्रजभाषा की कविता का चलन नहीं है परन्तु अखिलेश कवि ने "स्वामी दयानन्द" नामक एक छोटी सी काव्य-पुस्तक लिखी है। इसमें छप्पय, कवित्त और सवैयों में स्वामी जी का स्तवन किया है। प्रारम्भ में एक दोहा और सोरठा गुरुवर विरजानन्द के विषय में भी है। महर्षि के स्तवन की भाषा अत्यन्त ओजपूर्ण, आलंकारिक और परिमार्जित है। इस कविता

१—दिव्य दयानन्द, 'आदर्श गुरु दक्षिणा' पृष्ठ १७३-१७६

पुस्तक के पठन से महाकवि भूषण की स्मृति पुनर्जीवित हो जाती है। छप्पय, कवित्त और सवैयों में से क्रम से प्रत्येक का उदाहरण देखिये।

"अवल अनाश्रित ढाल, म्लेच्छ कानन दावानल।
गो विधवा प्रतिपाल, ग्यान सुरसरित हिमाचल।।
जय जन मानस व्योम सोम नित ओम प्रचारक।
तारक पतित समाज, जयति सावित्री धारक।।
प्रिय जन्मभूमि जननी सुवन, दुवन दीह खल दल सकल।
जय सम्प्रदाय गज बन्ध हित, दयानन्द अन्दुक प्रवल।।[1]

"पीरी परी अनय असत्य अविवेक अनी
पीरे परे पातक विलोक रिखिराज को।
"अखिलेस" पीरो मुख पापन पुरानन को
पीरो तन कौलन औ मौलन के राज को।।
पीरी परी पादरी प्रपंचिन की नीति रीति
पीरो परी दम्भी दल दुरग दुराज की।
जनमत एकै विस्ववन्द्य दयानन्द जू के,
रंग भो हरित सूद्र विधवा समाज को।।"[2]

जो प्रभु भक्ति कुदारि सों गोड़ि
दया की सुपांसि दई विथराय कै।
लै तप सीर औ संजम नेम के
बैलनि जोत्यो असंक अधाय कै।।
मुक्ति को बीज वै आतम खेतहिं
वेद के नीर सों सींच्यो सिहाय के।
सो दयानन्द मुनीन्द्र किसान करें
नित ही मम मंगल आय कै।।"[3]

महाकवि नाथूराम शर्मा "शंकर" ने स्वामी जी की प्रशंसा में अनेक गीत, लावनी, कवित्त, सवैया एवं अन्य छन्द लिखे हैं। उनकी रचनाओं में हिन्दू समाज एवं धर्म में प्रचलित दोषों और अनाचारों के प्रति व्यंग, प्रतारणा और घृणा का आभास प्रत्येक स्थान पर मिलता है। स्वामी जी की स्तुति करते समय भी इस भाव का अभाव नहीं है। "लावण्यात्मक लावनी" का एक खंड देखिये :—

१—महर्षि दयानन्द ले० पं० अखिलेश शर्मा, पृष्ठ २१
२—वही, पृष्ठ २८
३—वही, पृष्ठ ६२

"कर कोप न कल्पित प्रेत, पिशाच पुकारें।
भुमियां भैरव हनुमान न अब हुंकारे ॥
चढ़ चामड़ चैत चुड़ैल, न फूंक पजारें।
जाबई जिन पीर मसान, मसोस न मारें ॥
मिल ऊत मरे यमदूत सदैव सताते।
यदि दयानन्द गुरुदेव, उदार न आते ॥"[१]

स्वामी जी की प्रशंसा में "शंकर" जी का निम्नलिखित पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

आनन्द सुधासार दया कर पिला गया।
भारत को दयानन्द दुबारा जिला गया ॥
डाला सुधार वारि बढ़ी वेल मेल की।
देखो समाज फूल फवीले खिला गया ॥
काटे कराल जाल अविद्या अधर्म के।
विद्या वधू को धर्म धनी से मिला गया ॥

× × ×

"शंकर" दिया बुझाय दिवाली को देह का।
कैवल्य के विशाल वदन में विला गया ॥"[२]

स्वामी जी की प्रशस्ति में श्रीमती सावित्री देवी "प्रभाकर" की ओजपूर्ण कविता का प्रारम्भिक भाग देखिये :—

हुआ चमत्कृत विश्व, अरे यह कौन ? वीरवर सन्यासी ?
जिसकी भीषण हुंकारों से, काँप उठी मथुरा काशी ?
यह किसका गर्जन तर्जन है, कौन उगलता ज्वाला है ?
किसकी वाणी में से निकली आज धधकती ज्वाला है ?

सकल ज्ञान विज्ञान विभव का, जिसके भीतर सार भरा।
सद् अभिलाषाओं का जिसमें, लीन हुआ उद्यान हरा ॥
लेकर विश्व विजयिनी प्रतिभा, देवदूत बन कर आया।
तम रजनी का तिमिर हटा कर, विमल चन्द्रमा मुसकाया ॥"[३]

स्वामी जी की स्मृति में पं० हरिशंकर शर्मा द्वारा लिखित "जगज्ज्योति" की अंतिम पंक्तियाँ अत्यन्त भावपूर्ण हैं :—

१—दिव्य दयानन्द, पृष्ठ १८९
२—अनुराग रत्न, पृष्ठ ९५-९६
३—नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ २९९

"ओ टंकारा की ज्वलित ज्योति ! तू कभी नहीं बुझने वाली,
तुझसे जगमग यह जगतीतल, तुम से भारत गौरव शाली ।
तू दमक रही दुनिया भर में, तू चमक रही रन में वन में,
अभ्युदय और निःश्रेयस बन, तू रमी हुई जग जीवन में ।"[१]

शोक-गीत

स्वामी जी के विषय में कुछ कवितायें शोक-गीत के रूप में भी लिखी गई हैं । देश की दयनीय अध : पतित और गम्भीर परिस्थिति में जब उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी विषपान द्वारा सहसा स्वामी जी का कालकवलित हो जाना एक बड़ी हृदय विदारक घटना थी । उनका अकस्मात् निधन भारत का दुर्भाग्य था । भारतमाता के मुख से करुण विलाप का चित्रण एक कवि द्वारा हुआ है ।

"देखो तुम्हारे दुःख में मैं दीन हो गई ।
सर्वस्व गया हाथ में वलहीन हो गई ।।
पिटती हूँ सिसकती हूँ कोई उफ नहीं करता ।
कायर कुटुम्ब हाय न जीता है न मरता ।।
जिस भाँति बने वीर मुझे धीर बनाओ ।
हे पुत्र दयानन्द न अब देर लगाओ ।।"[२]

\+ \+ \+

महापुरुषों का देहावसान और वह भी अकाल मृत्यु द्वारा कितना कष्ट कर, करुण और दुःखद है । उन महामानवों के कार्य अधूरे रह जाते हैं, शिष्य एवं अनुयायी निर्देश हीन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं । डॉ० सूर्यदेव ने निम्नलिखित कविता में यह भाव स्पष्ट किया है ।

"गुरुदेव ! तू कहाँ है ? फिर एक बार आ जा ।
दैवी "दया" दिखा जा "आनन्द" रस बहा जा ।।१।।
मृत-श्राद्ध मूर्ति-पूजा अवतारवाद दूजा ।
हैं मानते अभी तक, श्रुति-मार्ग तू दिखा जा ।।२।।
विधवा अनाथ रोते नित धर्म भ्रष्ट होते ।
आ एक वार इनको, सान्त्वना दिला जा ।।३।।

\+ \+ \+

१—नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ १७

२—भजन भास्कर, पृष्ठ ७६

"प्रतिनिधि" समाज जोड़ा जिनपै स्व कार्य छोड़ा।
वह जन वहीं खड़े हैं, आगे उन्हें बढ़ा जा ॥५॥ "[१]

\+ \+ \+

एक कवि का शोक-गीत देखिये।

कहाँ है मुनिवर आज हमारा ?
पूर्ण प्रभा से भारत विधु मंडल में चमकन हारा।
कहाँ गया भारत नौका का आज प्रबल पतवारा॥
कहाँ गया वैदिक सरिता का सुन्दर रम्य किनारा।
भू पतिता वृद्धा भारत माँ का वह सुखद सहारा॥
स्वतंत्रता का सुखद संदेशा जिसने दिया दुबारा।[२]

\+ \+ \+

स्वामी जी के विभिन्न कार्य-क्षेत्र होने के कारण कवियों ने अपनी कविताओं में उन्हें अनेक प्रकार से स्मरण किया है और उनका गुण गाया है। उन्होंने राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न की, वैदिक धर्म का सत्य स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित कर एकेश्वरवाद की स्थापना की और समाज में प्रचलित कुरीतियों का समूलोच्छेदन कर हिन्दू-समाज का आदर्श रूप प्रस्तुत किया। अतः स्वामी जी के प्रति प्राप्य कविताओं में भी उक्त सभी भाव पाये जाते हैं।

समाज-सुधार

आर्यसमाज ने सूक्ष्म दृष्टि से समाज में प्रचलित अनेक दोषों का निरीक्षण किया और जनता को चेतावनी दी। सामाजिक दोषों का यथार्थ चित्रण कर हिन्दुओं को प्रतारणा देने और उन्हें उचित मार्ग-निर्देशन करने वाले महाकवि "शंकर" जी थे। उनकी दृष्टि समाज के प्रत्येक दोष की ओर गई अतः उन्होंने अशिक्षा, अस्पृश्यता, मद्य-मांस-सेवन, पाखंड, भ्रूण-हत्या, बाल-वृद्ध-अनमेल विवाह, पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण आदि विषयों पर अपनी लेखनी उठाई। उनके पश्चात् अन्य कवियों ने भी समयानुसार उक्त सामाजिक विषयों पर अपनी रचनायें कीं।

बाल-विवाह

'शंकर' जी के निम्नलिखित गीत में बाल-विवाह का यथार्थ चित्रण और कटु सत्य कथन है :

१—भजन भास्कर, पृष्ठ ६१-६२
२—वही, पृष्ठ ५८-५९

'विषधारी बाल विवाह,
डस गयो भारत को।
सात साल की वरनी वारी, अठ वरसो वर निपट अनारा।
इनहूँ ते लघु और घनेरे, घर घर धरनी नाह ।। डस गयो० ।।
लरिकाई को अन्त न आयो, बालक सी ने बालक जायो।
दुलहिन को सुहाग सागर की, मानो मिल गई थाह ।। डस गयो० ।।
अब घर धीर निहारो तिनको, कर गई राँड सीतला जिनको।
वे नवला वैधव्य धर्म को, कैसे करें निबाह ।। डस गयो० ।।
सर्वनाश ने शोक पसारो, हाय ख पुष्प भये कल चारो।
'शंकर' हम सब ने सुधार की, अब लौं गही न राह ।।डस गयो०।।"[१]

बिधवा

भारत में विधवा विवाह का पोषक और प्रचारक भी आर्यसमाज था। उसने विधवाओं के उद्धार का स्वर निनादित किया। उन पर करुणा के दो आंसू बहाये। महाकवि शंकर ने लिखा है :

'बैठी सुख सूने गेह में,
बाला विधवा रोती है।

+ + +

गरज रहे घन कोयल कूके, बोलत मोर न चातक चूके।
सुन सुन उठत मदन की हूकें, हा दुखिया की देह में ।।

उमगी उमंग थोथी है।
वाला विधवा रोती है ।।

+ + +

गौरी कहाय वरो वर वारो, रही रोहिणी सुहाग बिसारो।
कन्या तक तो धीरज धारो, 'शंकर' आज सनेह में ।।

मनमेल लाज खोती है।
वाला विधवा रोती है ।।"[२]

विधवा की करुण कथा का चित्रण डा० सूर्यदेव शर्मा ने 'प्रवर ललितावृत' के १० छंदों में किया है। जिसमें विधवा की कष्ट कथा है।

१—भजन भास्कर, पृष्ठ २६५
२—वही, पृष्ठ २५९

'विधाता क्यों तूने, विषम विष वैधव्य दीना ?
किये सारे सूने, घर नगर सौभाग्य छीना ॥
न मेरा आगामी, इस अवनि पर जन्म होवे।
न कोई हे स्वामी, इस तरह आजन्म रोवे ॥"

विधवा का दुर्भाग्य यह भी है कि बहुधा स्वजन ही उसे पाप पंक में लिप्त करते हैं। कवि का कथन है :

'सभी शृंगारों को, धन वसन को भी न छोड़ा।
सुशोभागारों को, सुभग तन को भी निचोड़ा ॥
किया हा ! जेठों ने श्वसुर तक ने कर्म काला।
स्वजाती मेठों ने, फिर स्वगृह से भी निकाला ॥"

गृह-त्याग का फल निश्चय ही यवन या ईसाइयों के समुदाय में मिलना है। वहाँ भी निरन्तर दुःख की भट्ठी से ही निकलना पड़ता है। अन्त में वह प्रभो से प्रार्थी है :

'कथा तो भारी है, यदपि विध विधवों के दुखों की।
न आई वारी है, तदपि इनके हा सुखों की ॥
विधाता है नामी, इस विपति से पार कीजै।
हमारा है स्वामी, सुन विनय उद्धार कीजै ॥"[1]

इसी विषय पर श्री वागीश्वर जी विद्यालंकार का चित्रण सुंदर पदावली में देखिए। उनकी इस रचना में पंत जी की कविता का आभास मिलता है :

कौन यह करुणा सी साकार ?
निष्ठुर नर-समाज के कुत्सित भावों का दयनीय शिकार।
प्रातःकालिक चन्द्र-कला सी, विदलित कलिका सी सुकुमार।
नव यौवन के खड़ी द्वार पर, लिये लांछनाओं का भार ॥

× × ×

अरे यही तो है वह विधवा, जिसका आशामय संसार।
इन्द्रजाल की तरह उड़ गया, धोखा दे इसको मँझधार ॥

× × ×

लाद दिये इस पर समाज ने, त्याग और तप अत्याचार।
उलट गया पीयूष-पात्र, थी जब यह पीने को तैयार ॥
यह न माँगती वस्त्राभूषण, यह न मांगती कुछ उपहार।
देते जाओ सहृदयता के अश्रु-विन्दु ही बस दो चार।"[2]

१—सार्वदेशिक मई १९३३ 'विधवा विलाप' पं० सूर्य देव शर्मा छंद १-५-१०, पृ०९९-१००
२—नीराजना, ले० पं० वागीश्वर विद्यालंकार 'विधवा', पृष्ठ ६१-६२

अस्पृश्यता

अन्य सामाजिक दोषों की अपेक्षा अस्पृश्यता हिन्दू-समाज के लिये उच्चतम अभिशाप है। मानव, मानव से घृणा करता है और उसे पशु-तुल्य समझता है। इस प्रथा ने हिन्दुओं के संगठन को खोखला कर दिया। आर्यसमाजी कवियों ने अस्पृश्यता की निन्दा कर मनुष्यमात्र के प्रति समता और विश्व-बन्धुत्व का पाठ पढ़ाया है। डा० सूर्य देव शर्मा ने लिखा है :—

"घराने ऊँचे में, विमल कुल में क्या निवहना।
गली में कूंचों में, अब कठिन है राम ! रहना ॥
अछूती छाया से, द्विज वदन नापाक बनता।
कपूती काया से, विषय विष क्या क्या न छनता ॥ १ ॥

× × ×

श्रुती ने है गाया, अमृत सुत हैं ईश्वर के।
किसी ने क्या पाया, स्वजन कुल से द्रोह करके ॥
अछूतों पे भारी, अधम अघ है पाप करना।
पड़ेगा सौ वारी, इस अनय का शाप भरना ॥ ४ ॥"[1]

श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति ने इसी भाव को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है :

"सार्वभौम है धर्म हमारा है कोई अस्पृश्य नहीं।
सब ईश्वर के पुत्र बराबर कोई घृणा के योग्य नहीं ॥
इसी भाव को धारण कर लो तब हो भारत का उद्धार।
सब में प्रेम परस्पर होवे हो संगठन समाज सुधार ॥"[2]

ईश्वर की इस सृष्टि में कुलीन अपने को उच्च समझे और अछूतों से घृणा करें, उन्हें ऐसा करने का अधिकार ही क्या है ? कवि कहता है।

"जिनको कहते हो अछूत तुम, क्या न तुम्हारे भाई हैं ?
क्या वे नहीं मनुष्य ? न वैदिक मत के या अनुयायी हैं ?
अथवा लगे हुये हैं तुमको सुरखावों के पर कोई ?
या दुनिया को समझा तुमने खाला जी का घर कोई ?

× × ×

नहीं एक दो पर पूरे हैं सात करोड़ अछूत जहाँ।
नहीं सड़क पर चलने पाते ये ऋषियों के पूत जहाँ ॥

१—सार्वदेशिक अप्रैल १९३३ 'अछूत पुकार' पं० सूर्यदेव शर्मा, पृष्ठ ५४-५५
२—सार्वदेशिक 'अस्पृश्यता निवारण' जून १९३३, ले० पं० धर्मदेव जी, पृष्ठ १५६

कुत्तों से भी नीच गिनी है जाती मनु सन्तान जहाँ।
प्रतिदिन पावन मनुष्यत्व का होता है अपमान जहाँ :"[1] इत्यादि

मनुष्यता की इस अवहेलना के कारण ही देश पराधीन हुआ और भारतवासियों को देश और विदेश में अपमानित होना पड़ा। इसीलिये कवि को कहना पड़ा :—

"अरे आज तो पराधीन बन सारा भारत हुआ अछूत
सब तुमको दुत्कार रहे हैं पर न तुम्हारा उतरा भूत।
क्या ब्राह्मण क्या शूद्र किसी को गोरे नहीं बिठाते पास
तुम आपस में जूझ रहे हो, कैसा भीषण है उपहास ?
अब भी सँभलो, हुआ जो हुआ करो किये का पश्चाताप
करो प्रतिज्ञा अब न करेंगे आगे से हम ऐसा पाप।"[2]

इसी प्रकार आर्यसमाजी कवियों ने दहेज, अनमेल विवाह, मादक द्रव्य सेवन, जाति-पांति, अशिक्षा, पाखंड आदि समस्त कुप्रथाओं के विरुद्ध कवितायें लिखी हैं और जनता में समाज की यथार्थता का चित्रण कर, दोषों एवं तज्जनित परिणामों का स्पष्टीकरण कर उसे आदर्श की ओर प्रेरित किया है। समाज-सुधार सम्बन्धी कवितायें रच कर उन्होंने उन कवियों को भी प्रेरणा दी है जो हिन्दी-साहित्य के पुजारी होते हुये भी आर्यसमाजी नहीं हैं।

धार्मिक खंडन-मंडन

धार्मिक खंडन-मंडन सम्बन्धी साधारण कोटि की कवितायें भजनीक प्रचारकों ने पर्याप्त मात्रा में रचीं और उनके द्वारा प्रचार किया। साहित्यिक विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया तथापि साहित्यिक कवियों का नितान्त अभाव नहीं है। द्विवेदी युग अथवा आर्यसमाज के प्रादुर्भाव काल में महाकवि "शंकर" ने इस प्रकार की कवितायें प्रचुर मात्रा में लिखीं। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, मृतक श्राद्ध, गंगास्नान द्वारा मुक्ति, वैतरिणी द्वारा भवसागर पार आदि कितनी ही धारणाओं का उग्र, कठोर एवं व्यंग्यात्मक शब्दों में उन्होंने खंडन किया है। वस्तुत: अपने काल के वे प्रतिनिधि आर्यसमाजी कवि थे। यदि वे इतने अक्खड़पन से आर्यसमाज का पक्ष पोषण न करते तो सरल कविता का तत्कालीन जनता पर प्रभाव भी न पड़ता। निम्नलिखित सवैये में मूर्ति पूजा के विषय में बड़ा तीखा व्यंग और उपहास है :—

"शैल विशाल महीतल फोड़ बढ़े तिनको तुम तोड़ कढ़े हो।
लै लुढ़की जलधार धड़ा धड़ ने धर गोल मटोल गढ़े हो।

१—नीराजना ले० पं० वागीश्वर विद्यालंकार "वंसी की तान," पृष्ठ १८, १९
२—नीराजना ले० पं० वागीश्वर विद्यालंकार "वंसी की तान" पृष्ठ २०

प्राण विहीन कलेवर धार विराज रहे न लिखे न पढ़े हो।
हे जड़देव शिला सुत "शंकर" भारत पै करि कोप चढ़े हो।"[1]

इसी प्रकार हिन्दुओं को बहकाने वाले धर्म के ठेकेदारों के प्रति उनका व्यंग कथन है :—

ठेके पर लेकर वैतरणी, देकर डाढ़ी मूंछ।
वाटर वाइसिकिल के द्वारा, बिना गाय की पूंछ।।
मरों को पार उतारूँगा, किसी से कभी न हारूँगा।।
जाति पांति के विकट जाल में, जूझे फँसे गमार।
मैं अब सबको सुलझा दूँगा, कर के एकाकार।।
महा सद्धर्म प्रचारूँगा, किसी से कभी न हारूँगा।[2]

तैंतीस करोड़ देवताओं को पूजने पर भी हिन्दुओं को सन्तोष नहीं हुआ। जड़-पूजा के अतिरिक्त हिन्दुओं ने मुसलमानों की कब्र-पूजा को अपनाया और मसजिदों में भी जाना प्रारम्भ किया। इन सबका उपहास करता हुआ कवि लिखता है :—

"सुर तैंतीस करोड़ मिले पर तो भी थोड़े हैं।
पुजते जड़ चैतन्य, मरों के पिंड न छोड़े हैं।।
पुजापा कहाँ न डाला है
दिया जला कर देख दिवाली नहीं दिवाला है।"[3]

इस प्रकार 'शंकर' जी के पश्चात् कोई साहित्यिक कवि खंडनात्मक कविता की उलझन में नहीं पड़ा। आर्यसमाज की उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में भी खंडनात्मक पद्य का अभाव है। स्वदेशी आन्दोलन के पश्चात् वातावरण परिवर्तित होने से विद्वान् साहित्यिक आर्यसमाजी इस ओर से तटस्थ हो गये और अब तो भजनीक प्रचारकों की भी खंडनात्मक प्रवृत्ति अत्यन्त कम सी हो गई है।

सत्यार्थप्रकाश

आर्यसमाज के इतिहास में अनेक बार जीवन-मरण के प्रश्न उपस्थित हुये। ऐसे गम्भीर अवसर पर आर्यसमाज ने धैर्य त्याग और वीरता का परिचय दिया। आर्य समाजियों को मानसिक कष्ट हुये, उन्हें आर्थिक हानि उठानी पड़ी और हैदराबाद सत्याग्रह में तो कितने ही बलिदान भी देने पड़े। तप, त्याग और संगठन के फलस्वरूप प्रत्येक बार आर्य-

---

१—महाकवि शंकर के स्फुट छंदों से
२—पंचपुकार "अनुराग रत्न," पृष्ठ २८३
३—अनुराग रत्न, पृष्ठ ३०७

समाज ने विजय प्राप्त की । ऐसे महान अवसरों पर आर्यसमाज ने बड़ा ही व्यापक प्रचार किया । प्रचार में काव्य का भी बड़ा मूल्य है । भजनीकों के अतिरिक्त साहित्यिक विद्वानों ने भी अपनी ओजस्विनी कविताएँ लिखकर सत्याग्रही वीरों को उत्साहित किया और आर्य-जगत में जीवन-जागृति और हलचल उत्पन्न कर दी । सिंध-सरकार, द्वारा सत्यार्थप्रकाश के केवल चौदहवें समुल्लास के ज़ब्त करने की आज्ञा से जो उथल पुथल आर्य-संसार में हुआ उसका आभास निम्नलिखित कतिपय काव्य-पंक्तियों से हो जायगा जो 'सत्यार्थ प्रकाश के सम्बन्ध में रची गई है :

'ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश महान् मुनीश्वर का उज्ज्वल बलिदान ।
सुधारक संस्कृत का सज्ञान ज्ञान की परिपूरित है खान ।
तमिस्रा का करता है ह्रास विश्व को देता विमल विकास ।
वेद का मंजुल सा आभास सत्य की सत्य सत्य पहिचान ।[1]

यह तो एक कवि की वाणी थी । दूसरा कवि भी तड़प कर कह उठा—

'शतत: वर्षों से भारत के आंगन में अँधियारा था ।
अंड बंड पाखंड खंड ने पूरा पांस पसारा था ।।
दम्भ-द्वेष के दावानल ने प्रेम-प्रसून पजारा था ।
वन्य वृकों ने भारत-भुवि का, भव्योद्यान उजारा था ।।
उस तमसावृत गगनांगन में दयानन्द रवि उदय हुआ ।
जगद् विजयिनी आर्य जाति की, देख दुर्दशा सदय हुआ ।।
सत्य अर्थ के सुप्रकाश से तमस तोम का निलय हुआ ।
अखिल आर्य जगती का अंचल, अंधकार से अभय हुआ ।।'[2]

अन्त में कवि पं० सूर्यदेव शर्मा को कहना पड़ा :—

'कौन शक्ति है जग में जो रवि के प्रकाश को मिटा सके ?
कौन शक्ति है जो पर्वत के तुंग शृंग को लिटा सके ?
कौन शक्ति है जो सागर के चंड वेग को घटा सके ?
कौन शक्ति है जो ऋषि के उस अमर ग्रन्थ को हटा सके ?[3]

एक अन्य कवि का कथन है कि सत्यार्थप्रकाश गीता से कम महत्वपूर्ण नहीं है :—

इस भूतल की धवल धरा में,
यश फैला है आज महान ।
जिस ऋषि ने विपदायें सहकर,
सदा दिया जीवन का दान ।।

१—सार्वदेशिक सितम्बर १९४३ 'सत्यार्थ प्रकाश गौरव' ले० ओंकार मिश्र, पृष्ठ ३२५
२—सार्वदेशिक सितम्बर १९४३ 'सत्यार्थप्रकाश हमारा है' ले० पं० सूर्यदेव शर्मा, पृ० ३२४
३—वही, पृष्ठ ३२४।

श्री कृष्ण की पावन गीता,
लाती जीवन में नव आश।
उसी तरह पावनस्मृति को है,
फैलाता सत्यार्थ प्रकाश ।।[1]

सार्वदेशिक सभा द्वारा सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास को जन्ती से बचाने के हेतु सत्याग्रह की घोषणा हुई और कवि ने आर्य वीरों को बलिदान के हेतु आवाहन किया।

'आगई बलिदान बेला
बज रही रण-दुन्दुभी है, सज रहा संग्राम मेला ।।१।।
क्या कहा ? यह रण-निमन्त्रण, सिंध की सरकार का है ?
या नमूना लीग पाकिस्तान के दरबार का है ?
मुस्लिमों के राज का या एक अत्याचार का है ?
या खिलाफत की मदद का प्रेम-प्रत्युपकार का है ?
कौन ! किसका यह झमेला ? आ गई बलिदान वेला ।।२।।
सत्य पर परदा गिराना कोई इनसे सीख लेवे।
चांद से सूरज दबाना कोई इनसे सीख लेवे ।।
फूंक से पर्वत उड़ाना कोई इनसे सीख लेवे।
फूंस में पावक छिपाना, कोई इनसे सीख लेवे ।।
तान में हैं यह तवेला । आगई बलिदान बेला ।।३।।

\+ \+ \+

आर्यवीरों का विभूषण तो सतत संग्राम ही है।
अनय-अत्याचार से लड़ना हमारा काम ही है ।।
हमको कभी सत्यार्थ विन जग में नहीं आराम ही है।
धर्म पर बलिदान होने में अमर निज नाम ही है ।।
वीर डट जाता अकेला । आ गई बलिदान वेला ।।८।।'[2]

इस प्रकार सत्यार्थ-प्रकाश की जव्ती-विरोधी कवितायें उन दिनों आर्यसमाजी पत्रों में ही नहीं अपितु आर्यसमाज से सहानुभूति रखने वाले समस्त पत्र-पत्रिकाओं में छपा करती थीं।

उद्बोधन

संसार के उपकार में रत आर्यसमाज उत्साह और वीरता के गीत गाता हुआ अपने पथ पर अग्रसर होता रहा। अपने आर्यवीरों और कर्म-योगियों को उत्साहित करने

१—सार्वदेशिक मई १९४५ 'सत्यार्थ प्रकाश' ले० नथमल शर्मा, पृष्ठ ४८
२—सार्वदेशिक दिसम्बर १९४४ 'बलिदान बेला' ले० पं० सूर्यदेव शर्मा, पृष्ठ ३४१

के लिये आर्यसमाज में प्रेरक कवितायें लिखी गईं। आर्यवीरों को प्रोत्साहन देते हुये शान्तिवीर आर्य कवि का उद्‌गार निम्नलिखित है :—

"भुला दिया क्यों आज तुम्हीं ने
ऋषिवर का वह त्याग महान।
जाति धर्म के हेतु हकीकत
से बालक का शीश प्रदान॥
भूल गये क्यों हँसते हँसते
गाते जाना रण का गान।
करो स्मरण निज पुरुषाओं का
धर्म भूमि के हित बलिदान।"[१] इत्यादि

जीवन संग्राम में कर्मवीर बनने के हेतु एक अन्य कवि की ललकार देखिये :—

"कई मनचले चले कुचलने तुहिनाचत को।
कितने चला जहाज चीरते जलनिधि जल को॥
कोई उड़ा विमान व्योम को फाड़ रहे हैं।
कोई खाली हाथ मृगेन्द्र पछाड़ रहे हैं॥
कर्म भूमि में कर्म तुम करो कर्म से नाम है।
क्षण भर भी भूलो नहीं यह जीवन संग्राम है।"[२]

डॉ० सूर्यदेव शर्मा ने सोते सिंहों को जगाने के हेतु कविता लिखी मानों कायरों को भी सिंह बनाकर खड़ा कर दिया :—

"ऐ सोते सिंहों जाग उठो, देखो तो कौन जगाता है ?
यह आग तुम्हारे उपवन में देखो तो कौन लगाता है ?
तुमको श्रृगाल भयभीत बना, देखो तो कौन भगाता है ?
कर खंड तुम्हारे ही घर के, तो पाकिस्तान बनाता है ?

\+ + +

वर वीर प्रताप शिवा जी का क्या रहा नसों में रक्त नहीं ?
वह लेखराम श्रद्धानंद का क्या गया व्यर्थ बलिदान कहीं ?
क्या भाग्य नगर में वीरों ने अनगिन विपदायें व्यर्थ सहीं ?
बस उठो तड़प कर एक बार अब सोने की घड़ियाँ न रहीं ?"[३]

१—सार्वदेशिक जून १९४६ "आर्य वीरों से" ले० शान्ति वीर आर्य, पृष्ठ १५२
२—नीराजना, ले० पंडित वागीश्वर विद्यालंकार "जीवन संग्राम" पृष्ठ ६९
३—सार्वदेशिक दिसम्बर १९४५ "ऐ सोते सिंहो जाग उठो" ले० सूर्यदेव शर्मा, पृष्ठ २१७

प्रबन्ध-काव्य

आर्यसमाज में प्रबन्ध-काव्य का अभाव

आर्यसमाज में प्रबन्ध-काव्य का अभाव सा है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रचार-कार्य में प्रबन्ध-काव्य का उपयोग सफलता पूर्वक नहीं हो सकता। स्वामी जी का जीवन चमत्कार पूर्ण किम्बदन्तियों से परिपूर्ण नहीं है। आधुनिक युग में होने और अवतार-वाद का विरोध करने के कारण उनके जीवन-चरित में तथ्यहीन घटनाओं का सम्मिश्रण न हो सका। स्वामी दयानन्द जी स्वयं इस विषय में बड़े सजग थे। अपनी मूर्ति एवं स्मारकादि बनाने का उन्होंने घोर विरोध किया। उन्हें आशंका थी कि उनके निधनोपरान्त अशिक्षित जनता उनकी मूर्ति का पूजन और स्मारक पर भेंट आदि चढ़ाने लगेगी और जिस मूर्ति-पूजा का उन्होंने घोर विरोध किया वह किसी न किसी रूप में उनके अन्ध भक्तों में प्रचलित हो जायगी। आर्यसमाज भी इस विषय में जागरूक रहा फलतः स्वामी जी का जीवन-चरित हमें वास्तविक रूप में उपलब्ध है और उसमें चमत्कारपूर्ण घटनाओं का अभाव है।

चमत्कारिक घटनाओं के अभाव होने पर भी स्वामी जी के ब्रह्मचर्य, सत्य-व्यवहार, विद्वता, वाग्मिता आदि का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके इन गुणों का चित्रण स्फुट कविताओं में विशेष रूप से हुआ जिनके कतिपय उदाहरण हम पीछे दे चुके हैं। कुछ कवियों ने सम्बद्ध जीवन-चरित भी लिखा। कविराज जयगोपाल जी ने "दयानन्द चरितामृत" रामायण के ढंग पर ब्रजभाषा में लिखा है और मुलतान के महाशय रामावतार जी ने "ऋषि दयानंद चरित" नाम से पद्यमय जीवनी लिखी है। यद्यपि ये पुस्तकें प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आती हैं परन्तु संक्षिप्त और अप्राप्य है।

दयानन्दायन

सबसे प्रसिद्ध और प्रबन्ध-काव्य के अभाव की पूर्ति करने वाला ग्रन्थ "दयानन्दायन" है जो अभी पाँच वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ है। यह ३८२ पृष्ठ का महाकव्य जो रामायण की भाँति दोहा और चौपाइयों में है अत्यन्त भक्ति पूर्ण है। इसके लेखक स्वर्गीय ठाकुर गदाधर सिंह जी गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक थे। यह ग्रन्थ सन् १९२७ और १९२९ के मध्य लिखा गया था। सन् १९३० ई० में लेखक का देहान्त हो गया और यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अप्रकाशित पड़ा रहा। लेखक के भाई डॉ० सूबा बहादुर सिंह ने इस ग्रंथ को इतने दिनों पश्चात प्रकाशित कराया। ग्रन्थ के सम्बन्ध में डाक्टर सूबा बहादुर सिंह ने लिखा है :—

"यह काव्य ग्रन्थ प्रबन्ध काव्यों की प्रचलित प्रणाली जो जायसी के समय से चली आ रही है उसी के अनुसार दोहा चौपाई में लिखा गया है। भाषा इसकी खड़ी बोली है।"[1]

१—दयानन्दायन "कवि के सम्बन्ध में" पृष्ठ घ

वस्तुतः यह ग्रन्थ खड़ी भाषा में नहीं है। इसकी भाषा अवधी और व्रजमिश्रित है। रामायण की भाँति होते हुये भी भाषा परिमार्जित नहीं है। इसमें बहुधा खड़ी भाषा की क्रियाओं के प्रयोग हुये हैं। शिवरात्रि के अवसर पर शिव-पिंडी पर चूहा चढ़ने के पश्चात बालक मूलशंकर के मस्तिष्क में जो तर्क वितर्क हुये हैं उनका चित्रण देखिये :

"तुरत लहर इक चित मँह आई। पावन परम पुनीत सुहाई ॥
लगा विचार करन मन मांही। लहा उतर "सो शिव" यह नाहीं ॥
चलते फिरते रमते रहते। नित त्रिशूल वह धारण करते ॥
अरु डमरू सुन्दर कर धरहीं। वृषभारूढ़ सदा वह रहहीं ॥[१]

कहीं कहीं सजीव चित्रण भी हैं जिनका चित्र नेत्रों के सम्मुख खिच जाता है :

"जह्नु सुता के तीर पर, राजघाट इक ठाम।
तहँ पद्मासन मारि कै, बैठे ऋषि अभिराम ॥[२]

भाषा का सौष्ठव और परिमार्जन स्थान स्थान पर खटकता है निम्नलिखित दोहों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

"पाप वृक्ष की जड़ कटे, तब होवे वह नाश।
छिन्न भिन्न शाखा किये, पुनि बढ़ने की आस ॥[3]
"तिन ढिग पहुंचे शुक्ल जी, धरि रजाइ ऋषि शीश।
प्रश्न पत्र देखत भये, अति व्याकुल विज्ञीश ॥"[४]

इन दोहों में खड़ी भाषा, व्रज एवं अवधी का विचित्र संयोग है। इस प्रकार की भाषा लगभग समस्त ग्रन्थ में है। 'विज्ञीश' शब्द भी खटक रहा है। अतः भाषा की दृष्टि से इस प्रबन्ध काव्य को चाहे विशिष्ट स्थान न मिले परन्तु आर्यजगत में स्वामी जी का जीवनचरित दोहों और चौपाइयों में लिखकर उपस्थित करना निस्संदेह अपूर्व और प्रशंसनीय कार्य है। यह ग्रन्थ स्वामी जी के जन्म से लेकर निर्वाण तक पांच सौपानों में विभाजित है।

पद्यानुवाद

सत्यार्थप्रकाश का पद्यानुवाद पंडित गदाधर प्रसाद जी लखनऊ निवासी ने किया है। यह ग्रन्थ भी रामायण की भाँति दोहा चौपाई में है। इसमें व्रज भाषा का प्राधान्य है। पद्यबद्ध पुस्तक का नाम सत्यसागर है। इसके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

१—दयानन्दायन, पृष्ठ ५
२—दयानन्दायन, पृष्ठ ११६
३—वही, पृष्ठ १२३
४—वही, पृष्ठ १५८

वेद-मंत्रों के पद्यानुवाद

वेद-मंत्रों के पद्यानुवाद अनेक कवियों ने किये हैं परन्तु डाक्टर सूर्यदेव शर्मा और डाक्टर मुंशीराम शर्मा के पद्य इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। डा० मुंशीराम जी ने सन्ध्या और हवन के मंत्रों को पद्यबद्ध किया है। उनकी इस पुस्तक का नाम 'सन्ध्या संगीत' है। गायत्री मंत्र का निम्नलिखित पद्यानुवाद देखिए :

ओउम् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य
धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।
'प्रभो ! प्राणेश, मलहारी, तुम्हीं आनन्द-सागर हो ।
प्रकाशक देव ! सविता, विश्व-नाटक-नाट्य-नागर हो ॥
तुम्हारे शुभ्र-व्यापक तेज का हो ध्यान नित हमको ।
विमलवर बुद्धि हो स्वामी ! असत-सत ज्ञान हो हमको ॥'[1]

इस प्रकार यद्यपि आर्यसमाज में साहित्यिक कवियों का अभाव नहीं है परन्तु उन्होंने अपनी रचनाओं को पत्र-पत्रिकाओं में निकालने के अतिरिक्त कविताओं के संग्रह करवाने का प्रयत्न नहीं किया। आर्यसमाज की ओर से भी ऐसा प्रयास न होने से अनेक प्रसिद्ध कवियों की उत्तम रचनायें लुप्त होती जा रही हैं।

१—सन्ध्या संगीत डा० मंशीराम शर्मा, पृष्ठ ८

७

साहित्यिक क्षेत्र में प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वानों के रचनात्मक कार्य

अब तक स्वामी दयानन्द, आर्यसमाज और उसकी विविध संस्थाओं एवं आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा हिन्दी-भाषा और साहित्य के विषय में किये गये उन कार्यों का उल्लेख किया गया है जो हिन्दी भाषा के प्रचार, भाषा-रूप के निर्माण एवं हिन्दी में लिखित आर्यसमाज के सिद्धान्तों से संबंधित ग्रन्थों से है। संस्था-रूप में आर्यसमाज ने जो कार्य किया वह विशेष कर हिन्दी-भाषा के प्रचार और उसके अध्ययन द्वारा सिद्धान्तों की विवेचना से संबंधित है। विभिन्न मतों के खंडन-मंडन का भी कुछ साहित्य उपलब्ध है। इस प्रकार आर्यसमाज की मुख्य देन वेद वेदांग, दर्शन, उपनिषदादि ग्रन्थों की हिन्दी-भाषा में व्याख्या तथा स्वामीजी द्वारा निरूपित वैदिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थ-रूप में है। हिन्दी काव्य और साहित्य के विविध रूपों का रचनात्मक कार्य अल्प मात्रा में है क्योंकि आर्य-समाजी विद्वानों और उपदेशकों का मुख्य ध्येय वैदिक धर्मप्रचार ही रहा है।

आर्यसमाज के अनेक विद्वान सदस्य और गुरुकुल के उच्च पठित स्नातक एवं उसकी शिक्षा संस्थाओं के विज्ञ आचार्यों ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विषय में विशेष रूप से महत्वपूर्ण कार्य किया है। आर्यसमाज के सिद्धान्तों को मानने वाले व्यक्तियों द्वारा भी हिन्दी का कार्य हुआ है। इन सब में से यहाँ कतिपय अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यिक तथा भाषा-विज्ञ विद्वानों की कृतियों का विवरण एवं संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा जिनके मुख्य साहित्यिक क्षेत्र ये हैं, भाषा-विज्ञान, रस और अलंकार, समालोचना, काव्य-व्याख्या, कथा-साहित्य, प्रबन्ध (Thesis) और साहित्यिक लेख।

भाषा-विज्ञान

'हिंदी भाषा का इतिहास'

हिन्दी-भाषा के इतिहास-विषय की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी-भाषा का

इतिहास'[1] प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा जी की है। सबसे प्रथम यह पुस्तक सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस ग्रंथ की रचना पूर्ववर्ती भाषा विज्ञों के लिखे हुए ग्रन्थों की अनुरूपता में खोजपूर्ण और मौलिक ढंग से लिखी गई है। विषय के सुष्ठ प्रतिपादन के साथ भाषा विज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द बनाने और नई ध्वनियों के लिए देवनागरी में नवीन लिपि चिह्न निर्माण करने में भी लेखक ने विशेष परिश्रम किया है। इस ग्रंथ के प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका है जो ५३ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इसमें हिन्दी भाषा और उसकी पूर्व एवं समकालीन आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय है। भूमिका के मुख्य शीर्षक निम्नलिखित हैं :

(अ) संसार की भाषायें और हिन्दी (आ) आर्यावर्ती अथवा भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास (इ) आधुनिक आर्यावर्ती अथवा भारतीय आर्य भाषायें (ई) हिन्दी भाषा तथा बोलियाँ (उ) हिन्दी शब्द-समूह (ऊ) हिन्दी-भाषा का विकास (ए) देवनागरी लिपि और अंक।

इतिहास-भाग के मुख्य शीर्षक निम्नलिखित हैं :

(१) हिन्दी ध्वनि-समूह (२) हिन्दी ध्वनियों का इतिहास (३) विदेशी शब्दो में ध्वनि परिवर्तन (४) स्वराघात (५) रचनात्मक उपसर्ग तथा प्रत्यय (६) संज्ञा (७) संख्या-वाचक विशेषण (८) सर्वनाम (९) क्रिया और (१०) अव्यय।

"सामान्य भाषा विज्ञान"

हिन्दी में भाषा-विज्ञान विषय की "सामान्य भाषा"[2] एक उच्चकोटि की पुस्तक है। इसके लेखक डाक्टर बाबूराम सक्सेना आर्यसमाज के श्रेष्ठ विद्वानों में से हैं। इसका प्रथम संस्करण सन् १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक के प्रथम खंड में बीस अध्याय हैं जिनमें क्रमशः निम्नलिखित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है :

विषय प्रवेश, भाषा, भाषा का उद्गम, भाषा-विज्ञान तथा अन्य विज्ञान, भाषा का विकास, विकास का मूलकारण, ध्वनि मंत्र, ध्वनियों का वर्गीकरण, ध्वनियों के गुण, संयुक्त ध्वनियाँ, ध्वनि विकास, पद-रचना, पद-विकास, पद-व्याख्या, पद विकास का कारण, अर्थ-विचार, भाषा की गठन, भाषा का वर्गीकरण, वाक्य विचार, भाषा विज्ञान का इतिहास। प्रथम खंड के परिशेष में 'लिपि का इतिहास' १८ पृष्ठों में दिया गया है।

द्वितीय खंड में ६ अध्याय हैं जिनमें क्रमशः विविध भाषा परिवार, यूरेशिया के भाषा परिवार, आर्येतर भारतीय परिवार, आर्य परिवार, आर्य परिवार की शाखायें, हिन्द ईरानी शाखा आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया है। द्वितीय खंड के अन्त में द्वितीय परिशेष में ग्रन्थ सूची और तृतीय में पारिभाषिक शब्द सूची दी गई है। भाषा-विज्ञान जैसा नीरस विषय होते हुए भी विद्वान् लेखक ने विषय प्रतिपादन और भाषा शैली से पर्याप्त सरसता

१—"हिन्दी भाषा का इतिहास" द्वितीय संस्करण के आधार पर
२—"सामान्य भाषा विज्ञान" तृतीय संस्करण के आधार पर

उत्पन्न कर दी है, प्रतिदिन के जीवन की वार्ताओं के उदाहरण देकर क्लिष्ट विषय को अत्यन्त सरलता से समझाया है। पुस्तक उपयोगी होने के साथ-साथ मनोरंजक भी है।

"भाषा विज्ञान"

"तुलनात्मक भाषा शास्त्र अथवा भाषा विज्ञान"[1] नामक पुस्तक डाक्टर मंगलदेव शास्त्री ने लिखी है। शास्त्री जी का आर्यसमाज से अत्यन्त पुराना सम्बन्ध है। इस "भाषा विज्ञान" का प्रथम संस्करण सन् १९२५ ई० में ही छप चुका था। पुस्तक ग्यारह परिच्छेदों में विभाजित है जिनके शीर्षक क्रम से निम्नलिखित हैं :

विषयावतरण, "भाषा" शब्द के अनेक अर्थ, भाषा का स्वरूप, भाषा की रचना, भाषा की परिवर्तन शीलता, भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया, भाषा की उत्पत्ति, वर्ण-विज्ञान, भाषाओं के परिवार, भारत यूरोपीय भाषा परिवार और ईरानी भाषा वर्ग। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में पारिभाषिक तथा अन्य उपयोगी हिन्दी शब्दों के अंगरेजी पर्याय भी दिये गये हैं। शास्त्री जी की इस पुस्तक का विशेष महत्व इसलिये भी है कि यह हिन्दी में तुलनात्मक भाषा शास्त्र की प्रथम पुस्तक है। यह खोजपूर्ण पुस्तक अत्यन्त परिश्रम से लिखी गई है। भाषा शास्त्र के जिज्ञासु हिन्दी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं के विद्यार्थियों के लिये यह ग्रन्थ उपयोगी है। इसमें भाषा विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न सरल और ग्राह्य है।

"प्राकृत विमर्श"

भाषा विज्ञान विषयक यह ग्रंथ डाक्टर सरयू प्रसाद अग्रवाल का लिखा हुआ है। इसमें मध्य कालीन आर्य भाषाओं वाली, प्राकृत और अपभ्रंश का तुलनात्मक विवेचन है। 'चयनिका' के अन्तर्गत प्राकृत भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों से कुछ उद्धरणों का संग्रह है।

रस और अलंकार

आर्यसमाज के विद्वानों की इस विषय में प्राप्त पुस्तकों के दो रूप हैं। प्रथम हिन्दी में, काव्य शास्त्र के आचार्यों के सिद्धान्तों को लेकर, इस विषय पर मौलिक पुस्तक लिखी गई है। द्वितीय, संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा अलंकार विशेष पर लिखित ग्रंथों की हिन्दी में व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

"रस रत्नाकर"

"रस रत्नाकर" नामक ग्रंथ हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान कवि और पत्रकार पंडित हरिशंकर शर्मा ने लिखा है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९४५ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह ग्रन्थ मुख्यतः रस और नायिका भेद पर लिखा गया है। इसमें

१—"तुलनात्मक भाषा शास्त्र अथवा भाषा विज्ञान" चतुर्थ संस्करण के आधार पर

लेखक ने रस और नायिकाभेद विषय में भिन्न भिन्न आचार्यों के मतों का संग्रह किया है और उनकी विवेचना भी की है। नायिका भेद एवं रस के विषय में प्रचलित वादों में बड़ी उलझन है परन्तु शर्मा जी ने उसे यथा संभव सुलझाने का प्रयत्न किया है और प्रत्येक विषय सरलता पूर्वक प्रस्तुत किया है। उन्होंने समस्त उदाहरण प्राचीन एवं आधुनिक व्रजभाषा कवियों की कविताओं के ही दिये हैं। ७०४ पृष्ठ की यह पुस्तक रस, नायिका भेद, नखशिख आदि पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इसकी 'भूमिका' हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी ने और "दो शब्द" पंडित हरिदत्त एम. ए. शास्त्री सप्ततीर्थ ने लिखी है।

संस्कृत से हिन्दी में होने वाले अलंकार विषयक प्रसिद्ध व्याख्या ग्रन्थों में अनेक ग्रंथ हैं जिनकी व्याख्या आचार्य विश्वेश्वर जी ने की है। आचार्य महोदय प्रसिद्ध आर्यसमाजी और गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य हैं।

हिन्दी ध्वन्यालोक"

"ध्वन्यालोक" की व्याख्या हिन्दी ध्वन्यालोक नाम से आचार्य महोदय ने की है जो अगस्त सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक पर उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कार भी दिया है।

"हिन्दी काव्यालंकार सूत्र"

सन् १९५४ ई० में "काव्यालंकार सूत्र" की व्याख्या "हिन्दी काव्यालंकार सूत्र" के नाम से प्रकाशित हुई। यह सूत्र-ग्रन्थ संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य वामन का लिखा हुआ है। इस ग्रंथ के सम्पादक हैं डाक्टर नगेन्द्र। उन्होंने प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका लिखी है जिससे ज्ञात होता है कि आचार्य वामन सन् ७५० और ८५० के मध्य हुये हैं और अनुमानतः उनका समय ८०० ई० है। भूमिकानुसार सूत्र शैली पर लिखा हुआ संभवतः यही एक मात्र ग्रन्थ है अन्य आचार्यों ने कारिका और वृत्ति शैली अपनाई है। इस ग्रंथ में अलंकारों की विवेचना किस प्रकार की गई है यह उसकी विषयानुक्रमणिका देखने से ज्ञात होता है जो संक्षेप में निम्नलिखित है :

"शारीर" नामक प्रथम अधिकरण। इसमें तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्रयोजना-स्थापना, द्वितीय में अधिकारि चिन्ता एवं रीति निश्चय और तृतीय में काव्यांग और काव्य भेद हैं। "दोष दर्शन" नाम का द्वितीय अधिकरण। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम में "पद पदार्थ दोष विज्ञान" और दूसरे में "वाक्य वाक्यार्थ दोष विभाग" है। "गुण विवेचन" नामक तृतीय अधिकरण में दो अध्याय हैं। प्रथम में गुणालंकार विवेक एवं शब्द गुण और द्वितीय में अर्थ गुण विवेचन है। "आलंकारिक" नामक चतुर्थ अधिकरण में तीन अध्याय हैं। प्रथम में शब्दालंकार विचार, द्वितीय में उपमा विचार और तृतीय में "उपमा प्रपंच" विचार है। "प्रायोगिक" नामक पंचम अधिकरण में दो अध्याय हैं। प्रथम में "काव्य समय" और द्वितीय में "शब्द शुद्धि" है।

"वक्रोक्ति जीवित"

वक्रोक्ति जीवित भी संस्कृत का एक प्रसिद्ध अलंकार-ग्रंथ है जिसकी व्याख्या गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य विश्वेश्वर जी ने हिन्दी में की है। इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य कुन्तक थे। आचार्य कुन्तक का समय ऐतिहासिक गवेषणाओं के आधार पर दसवीं शती माना गया है। डाक्टर नगेन्द्र जी ने इस ग्रन्थ का भी सम्पादन किया है। और उन्होंने प्रारम्भ में २८२ पृष्ठों की विद्वता एवं खोज पूर्ण भूमिका लिखी है। आचार्य विश्वेश्वर जी की व्याख्या ५४३ पृष्ठों में है। ग्रन्थ का विषय विभाजन निम्न प्रकार है।

(१) वक्रोक्ति सिद्धान्त (२) वक्रोक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य का स्वरूप (३) वक्रोक्ति के भेद (४) वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य सिद्धान्त (५) पाश्चात्य काव्य शास्त्र में वक्रोक्ति (६) हिन्दी और वक्रोक्ति सिद्धान्त (७) वक्रोक्ति सिद्धान्त की परीक्षा।

काव्य-व्याख्या

"पदमावत"

मलिक मुहम्मद जायसी कृत महाकाव्य "पदमावत" की संजीवनी व्याख्या हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने की है। डाक्टर महोदय पर आर्यसमाज का बहुत प्रभाव पड़ा है। "पदमावत" की व्याख्या एक बृहत् ग्रंथ के रूप में हुई है। यह ग्रन्थ संवत् २०१२ विक्रमी में प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। इसमें ७८२ पृष्ठ हैं। "पदमावत" का यह अपूर्व भाष्य सर्वोत्तम, वैज्ञानिक और अत्यन्त गवेषणा पूर्ण है। इससे लेखक के गम्भीर अध्ययन, अथक परिश्रम और सतत अध्यवसाय का परिचय मिलता है। मूल पाठ में संशोधन करके सरल भाषा में संजीवनी व्याख्या की गई है। व्याख्या के पश्चात आवश्यक शब्दों पर जो टिप्पणियाँ दी गई हैं वे बड़ी महत्वपूर्ण, विद्वत्ता युक्त एवं खोज के परिणामस्वरूप हैं। ग्रन्थकार ने ५६ पृष्ठ के प्राक्कथन में अनेक महत्व-पूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है जिनमें से मुख्य ये हैं, पदमावत के अध्ययन से साहित्यिक धार्मिक और ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक लाभ, दोहों की मात्रा, शुक्ल जी और माताप्रसाद गुप्त के संपादित पदमावत में पाठ भेद, जायसी के अन्य ग्रन्थ, जायसी का जन्म काल निर्णय, जायसी की जीवन-गाथा, जायसी की गुरु परम्परा, पदमावत का अध्यातम पक्ष आदि। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में पदमावत में वर्णित अस्त्र शस्त्रों बाजों और कवचादि के तत्कालीन चित्र बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। सबसे अन्त में पदमावत में आये हुये लगभग तीन सहस्त्र शब्दों की अकारादि क्रम से दी गई सूची भी अवधी भाषा के अध्येताओं के लिये अत्यन्त लाभप्रद है।

प्रत्येक दोहे के पश्चात शब्दार्थों को स्पष्ट करने के हेतु जो टिप्पणियाँ दी गई हैं उनमें आवश्यक शब्दों के मूल संस्कृत रूप एवं क्रमशः प्राकृत, अपभ्रंश और अवधी में परिवर्तित होकर आये हुये रूपों को दिखाया है। बहुधा संस्कृत के धातुओं की ओर भी संकेत किया गया है। अन्तर्कथा एवं अन्य ज्ञातव्य विषयों पर आवश्यकतानुसार प्रकाश

डाला है। उदाहरणार्थ पृष्ठ ४५ पर पव्वै शब्द किस प्रकार अवधी भाषा में इस रूप में आया है उसे निम्न प्रकार दिखाया है।

पव्वै—सं० पर्वत 7 पव्वय 7 पव्वय 7 पव्वै।

समालोचना

"विहारी सतसई का भाष्य"

समालोचना क्षेत्र में पंडित पद्मसिंह शर्मा अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये हैं। शर्मा जी का सम्बन्ध आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्थाओं गुरुकुल कांगड़ी गुरुकुल वृन्दावन और विशेष रूप से गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर से रहा है वे आर्यप्रतिनिधि सभा के उपदेशक भी थे।

हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक समालोचना के प्रारम्भकर्ता पंडित पद्मसिंह शर्मा ही थे। इस विषय के लेख उन्होंने सर्वप्रथम सरस्वती में लिखे थे। शर्मा जी का लिखा हुआ विहारी सतसई का संजीवन भाष्य हिन्दी साहित्य में अनूठा है। इसमें उन्होंने संस्कृत के "आर्यासप्तशती" "गाथा सप्नशती" और अमरुक शतक से ही तुलनात्मक पद्य उद्धृत नहीं किये अपितु हिन्दी एवं उर्दू के श्रृंगारी कवियों की कविताओं को भी प्रस्तुत कर महाकवि विहारी के दोहों की श्रेष्ठता दिखाई है। हिन्दी में उर्दू के चलते हुये शब्दों और मुहावरों का प्रयोग कर उन्होंने फड़कती हुई जीवित-जागृत हिन्दी-गद्य-शैली का प्रचार किया। सतसई-भाष्य में भी उन्होंने ऐसी ही भाषा का उपयोग किया है। "सतसई संहार" की आलोचनात्मक भाषा कुछ कठोर हो गई है परन्तु उनकी प्रवल लेखनी का एक मात्र उद्देश्य हिन्दी साहित्य में उच्च कोटि की टीका एवं व्याख्या-ग्रन्थों के सृजन करने का है दूसरों पर आक्रमण करने और दिल दुखाने का नहीं।

प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान डाक्टर सूर्यकान्त जी शास्त्री ने भी एक पांडित्यपूर्ण समालोचना शास्त्र का ग्रन्थ "साहित्य मीमाँसा" नाम से लिखा है।

प्रबन्ध

"व्रज भाषा"

हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ विद्ववान डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा जी का प्रबन्ध (Theisis) "व्रजभाषा" अत्यन्त प्रसिद्ध है। मूलग्रंथ फ्रेंच भाषा में लिखा गया था और पैरिस विश्वविद्यालय से उस पर डि० लिट्० की उपाधि मिली थी। हिन्दी में "व्रजभाषा" उसका परिवर्द्धित रूप है। व्रजभाषा पर यह मौलिक ग्रन्थ है। इसमें व्रज-भाषा के उद्भव और विकास पर प्रकाश डाला है। लेखक ने हिन्दी की अन्य विभाषाओं से उदाहरण देकर व्रजभाषा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है एवं कनोजी को व्रज का पूर्वी और बुंदेली को व्रज का दक्षिणी रूप निश्चित किया है। पुस्तक में व्रजभाषा की

ध्वनि, शब्द समूह और व्याकरण के रूपों का विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में हिन्दी की विविध बोलियों के नमूने भी दिये गये हैं।

प्रबन्ध और काव्य-अध्ययन

"भारतीय साधना और सूर साहित्य"

हिंदी साहित्य में महाकवि सूरदास की चिन्ता-धारा का सूक्ष्म अध्ययन कर प्रबन्ध (Thesis) प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् डाक्टर मुंशीराम शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। उनके प्रबन्ध का विषय है "भारतीय साधना और सूर साहित्य" प्रबन्ध में प्रस्तुत आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उद्भव किस प्रकार हुआ इस विषय में लेखक ने लिखा है।

"सूर की साधना का आभास सर्वप्रथम मुझे उस समय हुआ, जब मैं सारावली में सूर की हरि लीला दर्शन सम्बन्धी स्वीकारोक्ति को पढ़ रहा था। जिस दिन मेरे मानस-पट पर सूर का हरि लीला दर्शन अंकित हुआ, उसी दिन से मेरे सूर-अध्ययन के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। सूर की भाव विभोरता एक दम नवीन अध्यात्म रूप में मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुई। प्रस्तुत प्रबन्ध का आधार यही साधना सम्बन्धी दृष्टिकोण है"[१] "भारतीय साधना प्रत्यक्ष में छिपी हुई एक परोक्ष शक्ति (परब्रह्म) की खोज करती रही है।" इस खोज के अनेक मार्ग हैं। विभिन्न भागों का विवरण देते हुये विद्वान् लेखक ने सूरदास के पुष्टिमार्ग पर प्रकाश डाला है। सगुणोपासना और हरि लीला में जो आध्यात्मिक भाव निहित हैं उनका उद्घाटन करने का इस प्रबन्ध में प्रयत्न किया गया है। इस प्रबन्ध में कुल ग्यारह अध्याय हैं जिनके विषय क्रम से ये हैं। "भारतीय साधना," "सूर साहित्य," "विनय के पद" (आचार्य वल्लभ से पूर्व) "हरिलीला," (आचार्य वल्लभ के पश्चात) "सूरदास और पुष्टि मार्ग," "सूरदास और हरिलीला," "सूरदास के राधा-कृष्ण," "सूरदास और शृंगार रस," "सूरदास और व्रज की संस्कृति," "सूरदास का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव," "सूर साहित्य की विशेषतायें"। इसके अतिरिक्त तीन परिशिष्ट हैं जिनके विषय (१) वायु पुराण और श्री कृष्ण लीला (२) पद्म पुराण और श्री कृष्ण लीला एवं (३) सूर सम्बन्धी साहित्य हैं।

"अकबरी दरबार के हिन्दी कवि"

"अकबरी दरबार के हिन्दी कवि" नामक प्रबन्ध पर डाक्टर सरयूप्रसाद अग्रवाल को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की उपाधि मिली है। इसमें अकबर के दरबार के पाँच प्रमुख कवि नरहरि, ब्रह्म (बीरबल), तानसेन, गंग और रहीम के जीवनवृत्त और कृतियों का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में उक्त कवियों की दुष्प्राप्य कविताओं का संकलन भी है।

१—"भारतीय साधना और सूर साहित्य" ले० डा० मुंशीराम शर्मा प्राक्कथन पृष्ठ (क)

"सूर सौरभ"

"सूर सौरभ" भी डाक्टर मुंशीराम शर्मा का लिखा हुआ एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिसमें सूरदास की प्रतिभा का अध्ययन और उनके काव्य की समीक्षा की गई है।

कथा-साहित्य

आधुनिक हिन्दी के गद्य-साहित्य में कथा-साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। समाज में प्रचलित अनेक कुरीतियों, अमान्य धारणाओं और अन्धविश्वास का सामाजिक कहानियों द्वारा पूर्ण रूपेण उद्घाटन हुआ है। साधारण जनता जो रूढ़ि-ग्रस्त और अविश्वासों में लिप्त है, प्रत्यक्ष व्याख्यान और स्पष्ट लेखों द्वारा उनका खंडन और उनकी निस्सारता सुनना पसन्द नहीं करती क्योंकि किसी भी प्रचलित प्रथा का विरोध चाहे वह कितनी ही हानिकारक और समाज के लिये घातक क्यों न हो, जन-समाज उन्हें अकस्मात त्यागने को तत्पर नहीं होता और सुधारक के प्रति घृणा एवं रोष प्रकट करता है। इसी कारण आर्यसमाज के प्रवर्तक को अपने जीवन की बलि देनी पड़ी और तत्पश्चात् अनेक प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेताओं ने भी जन-सुधार हेतु अपने प्राणों को समाज-सुधार की बलिवेदी पर अर्पित किया।

हिन्दी-साहित्य में यद्यपि कथा-साहित्य का प्रारम्भ १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही हो गया था परन्तु उस समय के उपन्यासों का उद्देश्य समाज-सुधार न था। उस समय उपन्यासों की रचना मुख्यत: जनता के मनोविनोद एवं समय अतिवाहन के ही हेतु होती थी। उनके विषय भी तदनुकूल होते थे। हिन्दू-समाज पुराणों से प्रभावित था और पौराणिक कथाओं में वर्णित चमत्कार पूर्ण कथानकों में उसका विश्वास था अत: अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की ओर स्वभावत: तत्कालीन समाज आकृष्ट हुआ। शनै : शनै : जनता की रुचि में परिवर्तन होने लगा इसके दो मुख्य कारण थे एक तो अंगरेजी शिक्षा का प्रचार, दूसरे आर्यसमाज द्वारा धर्म-सुधार और समाज-सुधार का प्रयत्न जिससे उच्च पठित वर्ग की रुचि यथार्थवादिता की ओर आकृष्ट हुई। आर्यसमाज ने शिक्षित हिन्दू जनता में ऐसा वातावरण उत्पन्न किया कि वह उपन्यास की चमत्कार पूर्ण घटनाओं और अलौकिक कथानकों से उदासीन होने लगी। २० वीं शती के प्रारम्भ होने तक हिन्दी में सामाजिक उपन्यासों की सृष्टि होने लगी। यद्यपि आर्यसमाज की ओर से ऐसा प्रयत्न नहीं हुआ कि वह अपने उपदेशकों और प्रचारकों से सामाजिक उपन्यास लिखवा कर जनता में प्रचार कराता परन्तु उसने जो वातावरण उत्पन्न किया उसमें स्वभावत: कुछ विद्वानों को यह उपाय सूझा कि कथा-साहित्य के द्वारा भी समाज-सुधार का कार्य सफलतापूर्वक किया जा सकता है। अत: यह स्पष्ट है कि यद्यपि संस्था रूप से आर्यसमाज ने उपन्यास नहीं लिखवाये परन्तु उसके समाज सुधार कार्य से ही अनेक आर्यसमाजी और आर्यसमाज से प्रभावित विद्वानों को सामाजिक सुधार सम्बन्धी उपन्यासों के लिखने की प्रेरणा मिली। इस तथ्य को "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" नामक ग्रन्थ में डाक्टर श्री कृष्ण लाल ने भी एक प्रकार से स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है :—

"परन्तु यद्यपि शिक्षित जनता उपन्यासों को घृणा की दृष्टि से देखती थी, फिर भी उनकी मांग सर्वदा बढ़ती ही जा रही थी। उपन्यासों की इस लोक प्रियता के कारण धर्म-प्रचारकों और समाज-सुधारकों ने उपन्यासों को अपने मतों और विश्वासों के प्रचार का एक अस्त्र बनाना चाहा, विशेषतया आर्यसमाजियों ने जो अपने सुधारवादी विचारों के प्रचार के लिये सदा ऐसे ही साधनों की खोज में रहते थे, इस अस्त्र का पूर्ण प्रयोग किया। इस प्रकार उपदेश उपन्यासों का बहुत प्रचार होने लगा और सामाजिक उपन्यास अधिक लिखे जाने लगे। उपन्यासों के सौभाग्य से हमारे सामाजिक और पारिवारिक जीवन में अनेक दोष थे। सास बहू और ननद भौजाई का झगड़ा हमारे घरों की प्रतिदिन की घटना थी। बाल-विवाह, स्त्रियों की दासता, जातपांत का झमेला, दहेज, अस्पृश्यता और ऐसी ही हजारों समस्यायें हमें सुलझानी थीं। अस्तु, उपदेश उपन्यासों के लिये विस्तृत क्षेत्र था"[1]

वस्तुतः बीसवीं शती के प्रथम चरण में आर्यसमाज ने उपन्यासकारों और कहानी लेखकों के लिये उसी प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी जिस प्रकार कि इस शती के द्वितीय चरण में स्वदेशी आन्दोलन ने उत्पन्न कर दी। सामयिकता की छाप कथा साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था। द्वितीय चरण में कथा साहित्य के कथानक और विषय राजनैतिक चेतना के परिणाम स्वरूप हैं और यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार द्वितीय चरण के पूर्वार्द्ध में महात्मा गांधी द्वारा संचालित आन्दोलन का प्रभाव इन कथानकों पर है उसी प्रकार उत्तरार्द्ध में किसान एवं श्रम जीवी व्यक्तियों के उत्थान और पूँजीवाद के विरुद्ध चर्चा इनमें पाई जाती है। अतः साम्यवाद के प्रचार के साथ आर्थिक अव्यवस्था और वर्ग-चेतना का चित्रण द्वितीय चरण के उत्तरार्द्ध में लिखित उपन्यासों में विशेष रूप से पाया जाता है। आर्यसमाज ने जिस प्रकार प्रचलित काव्य-धारा में परिवर्तन उत्पन्न कर नवीन विषय प्रदान किये उसी प्रकार कथा-साहित्य को प्रभावित किया और समाज-सुधार सम्बन्धी नये उपादान प्रस्तुत किये।

आर्यसमाज और प्रेमचंद

आर्यसमाज का प्रभाव तो उन सभी उपन्यास और कहानी लेखकों पर पड़ा है जिन्होंने समाज-सुधार सम्बन्धी विषय अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किये और विभिन्न कथानकों द्वारा बाल-वृद्ध-विवाह, दहेज अस्पृश्यता, जाति पांति आदि के दोष दिखाये परन्तु सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद पर पड़ा है जिन्होंने सामाजिक दोषों का चित्रण अपनी कहानियों और उपन्यासों में कर हिन्दू जाति को सुधार की ओर प्रेरित किया। यह निर्विवाद है कि प्रेमचंद हिन्दी के सफल उपन्यास लेखक थे और उनके ग्रन्थों का अत्यधिक प्रचार हुआ। उन्होंने चाहे उपदेश एवं व्याख्यानों द्वारा प्रचार न किया हो परन्तु सामाजिक सुधार सम्बन्धी उपन्यासों की सृष्टि कर लाखों नर नारियों

१—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' ले० डा० श्रीकृष्ण लाल, पृष्ठ २८९-२९०

के हृदय में जिन भावनाओं का संचार किया वह उपदेशों और व्याख्यानों की तुलना में कम नहीं अपितु अधिक ही है।

प्रेमचंद के उपन्यासों पर आर्यसमाज का प्रभाव

बीसवीं शती में सन् १९२५ ई० तक आर्यसमाज का बड़ा प्राबल्य था। सन् १९२५ ई० में ऋषि दयानन्द जन्म शताब्दी महोत्सव के पश्चात् आर्यसमाज की प्रबलता में राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण कुछ शिथिलता आने लगी। प्रेमचंद के उपन्यासों में भी इसकी झलक हमें मिलती है। उनके प्रारम्भिक उपन्यास विशेषकर समाज-सुधार संबंधी ही हैं। प्रेमा, सेवासदन, निर्मला इसके प्रमाता हैं। इसके पश्चात के उपन्यासों में सामाजिक सुधार का नितान्ताभाव नहीं है परन्तु राष्ट्रीय आँदोलन के परिणामस्वरूप अहिंसा, हिन्दू मुसलिम समस्या, अदालतों की धांधली, पुलिस के हथकंडे, किसानों की दयनीय दशा आदि का भी चित्रण सम्यक् रूपेण हुआ है। कायाकल्प, रंगभूमि, गबन कर्मभूमि आदि उपन्यासों से यह बात स्पष्ट है। समाज-सुधार और राष्ट्रीयता आर्यसमाज की देन है। यद्यपि महात्मा गांधी द्वारा संचालित अहिंसात्मक आन्दोलन ने राष्ट्रीयता को बहुत आगे बढ़ाया परन्तु समाज-सुधार और राष्ट्रीयता का श्रीगणेश आर्यसमाज ने ही किया। प्रेमचंद को इसकी प्रेरणा आर्यसमाज से ही मिली यही कारण है कि उन्होंने सामाजिक सुधार सम्बन्धी उपन्यास सन् १९२१ ई० के सत्याग्रह संग्राम प्रारम्भ होने के १५-१६ वर्ष पूर्व ही लिखना आरम्भ कर दिया था। प्रेमचंद उत्तर-कालीन उपन्यासों में यद्यपि समयानुसार अहिंसा, हिन्दू मुस्लिम समस्या, वर्ग चेतना आदि की ओर अग्रसर हुए हैं परन्तु समाज-सुधार की भावना उसमें ऐसी मिली हुई है कि उसे अलग कर ही नहीं सकते। एक आर्यसमाजी की भांति प्रेमचंद राष्ट्रीय उत्थान के साथ समाज-सुधार को साथ लेकर चले हैं। समाज के विभिन्न क्षेत्रों से अपने पात्रों को चुनकर उन्होंने जो चित्रण अपने उपन्यासों में किया है वह नग्न एवं अवांछनीय नहीं है जैसा कि 'कला के लिये कला' सिद्धान्त मानने वालों को इष्ट है। उनके दुष्ट पात्रों के प्रति घृणा दुःखी के प्रति दया और असहाय के प्रति सहानुभूति की भावना पाठकों के हृदय में उत्पन्न होती है। उन्होंने समाज को उठाने का प्रयत्न किया है। अनौचित्य का खंडन कर औचित्य का समर्थन किया है। समाज के सम्मुख एक आदर्श रक्खा है। अतः उनके उपन्यासों को पढ़कर केवल भले बुरे का ज्ञान ही नहीं होता अपितु दोषों को त्याग कर गुणों के ग्रहण करने की प्रेरणा भी मिलती है। उन्होंने वासना के स्थान पर शुद्ध प्रेम, आचार हीनता के स्थान पर सदाचार, निराशा के स्थान पर आत्मविश्वास एवं दृढ़ता आदि की शिक्षा दी है।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रेमचन्द आर्यसमाज से किंचिन्मात्र भी प्रभावित न थे उन्होंने जो कुछ भी लिखा स्वयंमेव लिखा अतः उपन्यासों में व्यक्त भावों का आर्यसामाजिक सुधार-आन्दोलन से कोई संबंध नहीं है। वस्तुतः प्रेमचन्द को आर्यसमाज के प्रभाव से रहित समझना एक तथ्य से मुख मोड़ना है। प्रेमचन्द के जन्म और औपन्यासिक जीवन में प्रवेश करने के समय उत्तरी भारत में आर्यसमाज ने जो वातावरण उत्पन्न किया उसका प्रभाव तत्कालीन पठित समाज पर किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ा। आर्यसमाज के

समर्थक और विरोधी दोनों ही उत्पन्न हो चुके थे। तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में भी खंडन-एवं सुधार की चर्चा थी। उदार विचार के पठित व्यक्ति आर्यसमाज द्वारा समर्पित सुधारों को मानने लगे थे और अनेक किसी न किसी रूप में सहायता भी करते थे। प्रेमचन्द जैसे स्वतन्त्र विचारक ने निश्चय ही तत्कालीन वातावरण में सुधार का संकल्प किया और व्याख्यान का मार्ग ग्रहण न कर कथा-साहित्य को अपनाया। उनके उपन्यासों को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपने भावों को व्यक्त करने के हेतु व्यग्र थे। उनके हृदय में समाज के दोषों के निराकरण की अग्नि धधक रही थी जिसे प्रकट करना अनिवार्य था। अतः उन्होंने उपन्यास और कहानियों द्वारा यह कार्य किया जैसा कि हमने पीछे कहा है कि व्याख्यान द्वारा प्रत्यक्ष खंडन और प्रचलित रूढ़ियों के स्थान पर नये विचारों के समर्थन से जनता चिढ़ जाती है परन्तु उपन्यास और कहानियों के कथानक में घटना क्रम से किसी प्रचलित प्रथा के दुष्परिणाम को पढ़कर जनता उसे हृदयंगम करती है और उसे एक तथ्य पर शान्तिपूर्वक विचार करने का अवसर प्राप्त होता है। प्रेमचन्द के कथानक ही इस बात की साक्षी देते हैं कि उनपर आर्यसमाज का प्रभाव पड़ा है।

प्रेमचन्द केवल कथा-साहित्य द्वारा ही सुधार करने वाले व्यक्ति न थे। उन्होंने स्वयं इस क्षेत्र में क्रियात्मक कार्य करके दिखाया। समाज-सुधार के क्षेत्र में उन्होंने विधवा विवाह का उदाहरण स्वयमेव प्रस्तुत किया और राष्ट्र की पुकार पर नौकरी त्याग दी। उनकी सक्रियता उनके साहित्य में अधिक बल ला सकी क्योंकि इससे यह सिद्ध हो गया कि वे कथन वीर न थे अपितु उनके भाव सच्चे हृदय से निकले थे। उस समय के आर्य-समाजी भी ऐसे ही कर्मठ थे। जो कुछ कहा उसे कार्यान्वित करके दिखाया व्यापक रूप से सुधार करने वाली संस्था आर्यसमाज और उसके प्रसिद्ध नेताओं का प्रभाव उन पर अवश्य ही पड़ा था।

कुछ आर्यसमाजी विद्वान तो प्रेमचन्द्र को आर्यसमाजी ही मानते हैं। सुप्रसिद्ध कवि, लेखक, ग्रंथकार, एवं पत्रकार पंडित हरिशंकर शर्मा कवि रत्न का ऐसा ही मत है। एक पत्र में उन्होंने स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह जी शर्मा का मत भी तदनुकूल ही बताया है।[1]

१—आदरणीय पंडित हरिशंकर शर्मा कविरत्न जी ने २९. ९. ५६ के एक पत्र में मुझे निम्नलिखित सूचना देने की कृपा की है :

"……मेरे स्वर्गीय गुरु आचार्य पंडित पद्मसिंह शर्मा जी से उपन्यास सम्राट श्री प्रेमचन्द जी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे उन्हें उस समय से जानते थे, जबसे हिन्दी संसार में वे अधिक प्रसिद्ध न थे। मेरे गुरू जी ने कई बार मुझे बताया कि प्रेमचन्द जी पर ऋषि दयानन्द की विचार धारा का बड़ा प्रभाव है और वे आर्यसमाजी हैं। बल्कि वे यह भी कहा करते थे कि प्रेमचन्द जी और दूसरे कहानी लेखक श्री सुदर्शन जी दोनों आर्यसमाज से आये हैं। मैंने अपने गुरू जी के कहने से "आर्यमित्र" के लिए श्री प्रेमचन्द जी से कई बार लेख मंगाये तो उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से भेज दिये। मैं कई वर्ष लगातार "आर्यमित्र" का संपादक रहा था। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के दर्शन मैंने तीन बार किये थे। वे मुझे जानते थे परन्तु घनिष्ठता मेरी नहीं थी।"

अन्य आर्यसमाजी उपन्यास और कहानी लेखक

अन्य उपन्यास और कहानी लेखकों में, जो आर्यसमाजी वातावरण में रह चुके हैं एवं आर्यसमाज से यथेष्ट प्रभावित हैं, आचार्य चतुरसेन शास्त्री हैं। शास्त्री जी के उपन्यास अधिकतर "कला के लिए कला' विचार धारा के समर्थक हैं तथापि उनके उपन्यास और कहानियों में सुधार भावना का आभास मिलता है। इनकी लेखनी बड़ी ओजपूर्ण प्रभावशालिनी और सजीव है परन्तु समाज की लज्जास्पद बातों का चित्रण सुधार के दृष्टिकोण से अनुचित सा प्रतीत होता है और आर्यसमाज से प्रभावित व्यक्ति के लिए समाज के कृत्यों का नग्न उद्घाटन जन कल्याण की दृष्टि से भी बड़ा अरुचिकर है। उससे हित के स्थान पर अहित की भी संभावना रहती है।

श्री सुदर्शन जी आर्यसमाज से ही साहित्य की ओर आये उनके अनेक नाटक उपन्यास और कहानी संग्रह निकल चुके हैं। कुछ प्रसिद्ध प्राप्त रचनाओं के नाम हैं भाग्यचक्र, सुप्रभात, पुष्पलता, तीर्थ यात्रा, गल्प मंजरी, सुदर्शन सुधा, सुदर्शन सुमन आदि।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता श्री इन्द्र जी विद्यावाचस्पति ने जहाँ विविध विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं वहाँ कथा साहित्य भी उनसे नही छूटा। तत्संबंधी कुछ पुस्तकों के नाम हैं, सरला की भाभी, सरला, जमीदार। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार भी उच्चकोटि के कहानी लेखक हैं और हिन्दी कथा-साहित्य में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। उनका संग्रह "भय का राज्य" प्रसिद्ध है।

साहित्यिक निबन्ध

साहित्यिक निबन्ध लेखकों में प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा और डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पंडित पद्मसिंह शर्मा के लेख भारतोदय, सरस्वती एवं अन्य पत्र पत्रिकाओं में निकला करते थे। विशेष रूप से सरस्वती में उनके लेख अधिक निकले। उन समस्त लेखों के संग्रह की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति संवत् १९८६ विक्रमी में "पद्मपराग" के रूप में हुई।

"पद्मपराग"

पद्मपराग में स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा के बीस लेख और दो संभाषण छपे हैं। लेखों में अधिकतर महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं। अधिकांश महापुरुष संस्कृत हिन्दी और उर्दू साहित्य में से किसी न किसी से सम्बन्धित हैं। श्री पंडित सत्यनारायण कविरत्न और पंडित नवनीत लाल चतुर्वेदी ब्रजभाषा के उच्च कोटि के कवि थे। शर्मा जी ने उनके चरित्र लेखन में उनकी कविताओं का मूल्यांकन किया है। इसी प्रकार अमीर खुसरों के जीवन-चरित्र में उस खड़ी बोली के आदि कवि की विशेषताओं का चित्रण है। उर्दू साहित्य के प्रसिद्ध कवियों में मौलाना आजाद और महाकवि अकबर का साहित्यिक विवरण है। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों के उद्धार के विषय में एक लेख शर्मा जी ने "हिन्दी के प्राचीन साहित्य का उद्धार" शीर्षक से लिखा है। इस लेख में उन्होंने सूर सागर एवं अन्य ग्रंथों के विषय में विशेष खोज और सुन्दर संस्करण प्रकाशन की हिन्दी सेवियों से प्रार्थना

की है। श्री पंडित गणपति शर्मा के सम्बन्ध में जो लेख लिखा गया है और उनके निधन पर जो श्रद्धांजलि उन्होंने अर्पित की है और शोक प्रकाश किया है वह कारुणिक गद्य-खंड का हिन्दी में अपूर्व उदाहरण है। अन्य जीवन सम्बन्धी निबन्धों में भी साहित्यिकता का अभाव नहीं है। शर्मा जी के दो भाषण इसमें छपे हैं वह भी साहित्यिक ही हैं। इनमें से प्रथम भाषण संयुक्त प्रान्तीय षष्ठ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व पद से मुरादाबाद में सन् १९२० ई० में दिया गया था और द्वितीय अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन मुजफ्फरपुर के ९८ वें अधिवेशन के सभापति पद से सन् १९२८ ई० में दिया गया था।

"हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी"

"हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी" नाम का एक निबन्ध हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग ने प्रकाशित करवाया है। यह निबन्ध ५, ६, ७ मार्च सन् १९३२ ई० को शर्मा जी ने हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद की अवधानता में पढ़ा था। इसमें उन्होंने उर्दू को हिन्दी से भिन्न नहीं माना। हिन्दी नाम वस्तुतः मुसलमानों का दिया हुआ है।

पंडित पद्मसिंह शर्मा अपने समय के श्रेष्ठ साहित्यिकों में से थे। वे पत्रकार, निबंध लेखक, समालोचक और उपदेशक सभी थे। शर्मा जी की प्राप्त रचनाओं से तो उनकी साहित्यिकता पर प्रकाश पड़ता ही है। परन्तु अभी प्रकाशित ग्रंथ "पद्मसिंह शर्मा के पत्र" से उनके साहित्यिक जीवन पर विशेष प्रकाश पड़ता है। इस विषय में राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और उपन्यास सम्राट श्री प्रेमचन्द से भी उनका पत्र व्यवहार होता था।[1]

"विचार धारा"

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा जी के निबन्ध 'विचार धारा' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं।

१—राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी ने एक पत्र में उन्हें लिखा था :—

"परम पूजनीय श्रद्धेयवर,

प्रणतयः सादरम् सस्नेहम्

कृपा पत्र पाकर अत्यन्त अनुगृहीत हुआ। आपने जो मुझे लोकोत्तर विरुदावलियों से विभूषित किया है यह केवल आपकी कृपा और दाक्षिण्य का अविकल प्रमाण है। मैं तो स्वयं, अपने को अत्यन्त अल्पज्ञ जान कर आपकी सहायता का सदैव अभिलाषी हूँ। बात असल यह है कि मुझे इतने शब्दों से भूषित कर आप सहायता देने के परिश्रम से अलग नहीं हो सकते। "सरस्वती" में जो लेख देने की आज्ञा की गई; सो अनुल्लंघनीय न होने पर भी लेख के असामर्थ्योपहत होने से विलम्ब साध्य होगी। "सतसई संहार" लिख कर आपने "सरस्वती" के पाठकों का जो आशीर्वाद ग्रहण किया है सो उसकी पुष्टि मेरे से अल्पज्ञ के लेख से कैसे हो सकती है प्रथम तो ऐसा विषय नहीं सूझता जिस पर हिन्दी रसिकों का अनुराग हो, द्वितीयतः हिन्दी लेख में भी सामर्थ्य नहीं। आप कुछ विषय निर्देश करें तो कुछ यत्न हो। "समाज संशोधन"

हैं। सन् १९२१ और १९४१ के मध्य के लेख इस संग्रह में हैं। उन्होंने 'विचार धारा' के वक्तव्य के अन्तर्गत लिखा है"........१९२१ से १९४१ तक की रचनायें होने के कारण लेखों की शैली आदि में पर्याप्त भेद मिलेगा। एकरूपता उपस्थित करने का प्रयत्न जान बूझकर नहीं किया गया।' 'विचार धारा' के लेखों के पांच विभाग किये गये हैं। (क) खोज, (ख) हिन्दी प्रचार, (ग) हिन्दी साहित्य, (घ) समाज तथा राजनीति और (ङ) आलोचना तथा मिश्रित।

खोज-विभाग में अधिकतर भाषा सम्बन्धी लेख हैं। यथा 'हिन्दी की बोलियां तथा

वाला लेख आपको इतना पसन्द होगा, यह मुझे कभी धारणा नहीं थी। यदि उधर 'भारतोदय' कृतार्थ हुआ तो इधर मैं भी कृतार्थ हुआ। हिन्दी लेखन जन्म सफल हुआ। आशा है अपने समुचित उपदेशों से आप मुझे सदा कृतार्थ करते रहेंगे।

आपका परम सेवक
राजेन्द्र

७।१ बेचू चटर्जी स्ट्रीट
कलकत्ता
१४ पौष १९६७

('पद्मसिंह शर्मा के पत्र' संपादक पं० हरिशंकर शर्मा और पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पृष्ठ २५०)

उपन्यास सम्राट् प्रेमचंद जी ने एक पत्र में लिखा था :

"शर्मा जी जितने बड़े साहित्य सेवी थे उससे कहीं बड़े मनुष्य थे। आपसे मिलकर कभी जी नहीं भरता था। नये लेखकों को आप प्रोत्साहन देते थे जो माता अपने लपटते बालक को देती है। मेरे ऊपर तो उनकी असीम कृपा थी। 'सेवासदन' उपन्यास क्षेत्र में मेरा पहला प्रयास था। शर्मा जी ने जिस तरह दिल खोलकर दाद दी वह मैं भूल नहीं सकता। उस समय उनकी कठोर आलोचना ने मेरा अन्त कर दिया होता। उसके बाद जब जब मुझे उनसे मिलने का सुअवसर मिला, इस तरह टूटकर गले लगाते थे कि चित्त उनके सौजन्य पर पुलकित हो उठता था। सरल जीवन और ऊंचे विचार की ऐसी मिसाल मुश्किल से मिलेगी......आप में नवीन और प्राचीन का अभूतपूर्व मेल हो गया था। क्या संस्कृत, क्या हिन्दी, क्या उर्दू, क्या फारसी आप इन सभी साहित्यों के ज्ञाता थे।....हिन्दी में आप एक खास शैली के जन्मदाता हैं जिसमें चुलबुलापन है, शोखी है, प्रवाह है और उसके साथ ही गाम्भीर्य भी। उनका पांडित्य उनके काबू में है वह उस पर शहसवार की भांति सवार होते हैं। उसकी लगाम ढीली नहीं करते, उसे बहकने नहीं देते।........कौन जानता था कि हिन्दी साहित्य का वह सूर्य अपने साहित्य जीवन के मध्याह्न में यों अस्त हो जायगा'।

—प्रेमचंद

'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' संपादक पंडित हरिशंकर शर्मा और पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी, पृष्ठ २४९।

प्राचीन जनपद', 'हिन्दी भाषा सम्बन्धी अशुद्धियां' 'हिन्दी में नई ध्वनियां तथा उनके लिये नये चिह्न', 'हिन्दी वर्णों का प्रयोग'।

'हिन्दी प्रचार विभाग में' सभी लेख महत्वपूर्ण हैं। (१) हिंदी, उर्दू, हिन्दुस्तानी (२) हिन्दी की भौगोलिक सीमायें, (३) साहित्यिक हिन्दी को नष्ट करने के उद्योग, (४) पंजाब की साहित्यिक भाषा कौन होनी चाहिये हिंदी उर्दू या पंजाबी ? (५) क्या प्रस्तावों के द्वारा हिन्दी का कायाकल्प हो सकता है ? (६) भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों में हिन्दी प्रचार का रूप तथा उसके उपाय, (७) हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का मोह, (८) राष्ट्र भाषा बनाने का मूल्य। हिन्दी साहित्य विभाग में सभी लेख साहित्यिक हैं। उनके शीर्षक हैं। (१) सूर सागर और भागवत, (२) हिन्दी साहित्य में वीररस, (३) हिन्दी साहित्य का कार्यक्षेत्र, (४) सूरदास जी के इष्टदेव श्री नाथ जी का इतिहास, (५) क्या दो सौ बावन वार्ता गोकुल नाथ कृत हैं ? (६) मध्य देशीय संस्कृत और हिंदी साहित्य। समाज तथा राजनीति विभाग में हिंदी-भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी लेख नहीं हैं यद्यपि अन्य विचारात्मक लेख हैं। आलोचना तथा मिश्रित विभाग में, हिन्दी साहित्य के इतिहास, श्री मैथिलीशरण गुप्त का नया महाकाव्य, हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण आदि महत्व पूर्ण लेख हैं। इस विभाग के अन्त में डाक्टर महोदय का एक भाषण भी है। यह भाषण उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन में साहित्य परिषद के सभापति पद से दिया था।

'विचार धारा' में दिये हुये डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा जी के लेख बड़े सारगर्भित, खोज-पूर्ण एवं संक्षिप्त शैली युक्त हैं। जो कुछ लिखा गया है वह विषय के अनुकूल है उसमें व्यर्थ की टीका टिप्पणी और पिष्टपेषण नहीं है।

———

८

आर्यसमाज द्वारा विदेशों में हिन्दी-कार्य

दक्षिण अफ्रीका

विदेशों में धर्म प्रचार के साथ-साथ आर्यसमाज ने हिन्दी प्रचार का कार्य भी प्रारम्भ किया। आर्यसमाज का सबसे अधिक कार्य अफ्रीका में हुआ है। पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीका में भारतवासियों के विशेष रूप से बसने के कारण आर्यसमाज का कार्य-क्षेत्र भी उन्हीं प्रदेशों में रहा है। अंग्रेजों के इन अधिकृत भागों में दीन और निर्धन भारतवासियों को भी बाध्य होकर श्वेत प्रभुओं की सेवा के लिये वहाँ बसना पड़ा। भारतीयों को पकड़ कर वहाँ भेजे जाने की कथा बड़ी ही रोमांचकारी, दुखद और हृदय-विदारक है। अतः स्थिति को पूर्णरूपेण हृदयंगम करने के लिये संक्षेप में उसका जानना आवश्यक है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के आगमन के कारण

सन् १८३३ ई० से दास-प्रथा के उठ जाने से उपनिवेशों में बसे हुए अंग्रेजों को अपने कृषि-क्षेत्रों और उपवनों में काम करने वाले मजदूरों का अभाव खटकने लगा। इसकी पूर्ति के हेतु उन्होंने भारतवर्ष की ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार से सहायता की प्रार्थना की फलस्वरूप कम्पनी सरकार ने एक शर्त बन्दी की प्रथा प्रचलित की जो (Indentured System) के नाम से प्रसिद्ध है। इस शर्तबन्दी प्रथा के अनुसार भारतीय मजदूर को पाँच साल के लिये अनिवार्य रूप से उपनिवेशों में जाकर अंग्रेजों का दासत्व स्वीकार करना पड़ता था। पाँच वर्ष के लिये इन मजदूरों की वही दशा होती थी जो एक हब्शी गुलाम की। खेतों का कार्य साधारण न था। उन्हें प्रातः से सायं तक कठोर परिश्रम करना अनिवार्य था एवं किंचिन्मात्र शिथिलता पर असह्य दंड भुगतना पड़ता था। दासता की असह्य मंत्रणा से व्यथित हो कितने ही भारतवासियों ने आत्मघात कर प्राण विसर्जन किये।

सर्वप्रथम १८३४ ई० में भारतीय मजदूर मोरिशस और तत्पश्चात् फीजी, जमेका, ब्रिटिश गायना, ट्रिनिडाड आदि स्थानों को भेजे गये। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात् महाराणी विक्टोरिया की घोषणा से यह आशा थी कि संभवतः इस प्रथा का अन्त हो जाय परन्तु नेटाल-निवासी अंग्रेजों के प्रयत्न से इसकी पुनरावृत्ति हुई और सन् १८६० ई० में मजदूरों का प्रथम जत्था जहाज द्वारा नेटाल पहुँचाया गया।

प्रारम्भिक दशा

अफ्रीका में आकर बसने वाले मजदूरों की दशा बड़ी दयनीय थी। आरकाटियों द्वारा फँसा कर लाये जाने पर उन्हें स्थिति का ज्ञान हुआ। जातपाँत, छुआछूत समुद्र-यात्रा आदि को बलात तिलांजलि देनी पड़ी। पकड़ कर लाये गये पुरुषों और स्त्रियों को एक दूसरे से बिना किसी विचार के विवाह सम्बन्ध स्थापित करने को बाध्य किया गया। खिन्न होकर अनेक व्यक्तियों ने अपने जनेऊ तोड़ डाले और चोटी कटवा दी इस प्रकार उन्होंने पवित्र धर्म से अपने को वंचित समझा।

विदेश में सामाजिक और धार्मिक स्थिति

विदेश जाकर पाँच वर्ष के अनन्तर अधिक संख्या में मजदूर वहीं बस गये बहुत से स्वदेश लौट आये। यहाँ आने पर उन्हें स्थिति का ज्ञान हुआ। रूढ़िवाद और परम्परा की शृंखलाओं में बंधे हुये हिन्दुओं ने उन्हें विधर्मी समझा और जाति से बहिष्कृत किया। विवश हो कितने ही मजदूर पुनः अफ्रीका गये और वहाँ ईसाई और मुसलमान मत को स्वीकार कर लिया। इन उपनिवेशों में हिन्दुओं की बड़ी हीन अवस्था थी। वे अपनी संस्कृति, भाषा, धर्म, इतिहास सब भूलने लगे। उनका उद्धार करने वाला और चेतावनी देने वाला कोई न रहा। "ऋषि सन्तानों ने अपने त्योहारों की बिल्कुल तिलांजलि दे डाली। होली और दिवाली के स्थान पर इन्होंने ताजियेदारी को अपना त्योहार बना लिया। इनकी स्त्रियाँ भी मर्सिया गाने लगीं और इमामहुसैन कह कर सीना पीटने लगीं। गोरों ने इस त्योहार का नाम "कुली क्रिसमस" रख दिया और इसी ताजियेदारी के अवसर पर हिन्दुओं को सरकार छुट्टी देने लगी। मुसलमान और ईसाइयों की तरह हिन्दू भी अपने मृतकों को गाड़ने लगे और उनकी कब्रों पर फूल मिठाई इत्यादि चढ़ाने लगे।"[१]

मुसलमानों और ईसाइयों ने हिन्दुओं की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सभी स्थितियों पर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। कभी धन कभी जमीन और कभी युवतियों के आकर्षण से हिन्दू अपने धर्म को त्याग अधिक संख्या में विधर्मी होने लगे। जो हिन्दू अपने धर्म पर आरूढ़ रहे वे भी अज्ञानता और अन्धविश्वास से ग्रसित थे और मन्दिरों में पशुओं के बलिदान किया करते थे।

भाषा की समस्या

भाषा की दृष्टि से उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय थी। शर्त बन्द मजदूर के रूप में मुख्यतः उत्तरप्रदेश बिहार और मद्रास प्रान्त से स्त्री-पुरुष भेजे गए थे। इसके अतिरिक्त गुजरात और पंजाब से कुछ व्यवसायी वहाँ पहुँचे। यद्यपि मद्रासियों की संख्या अधिक थी परन्तु हिन्दी में विचारों का आदान प्रदान सरल होने के कारण स्वभावतः वह सबके बोलचाल की भाषा हो गई। प्रारम्भ में ऐसी ही दशा थी परन्तु शनैः शनैः वहाँ के

१—"विदेशों में आर्यसमाज" सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ २।

निवासियों पर अंग्रेजी का भूत चढ़ने लगा और वे इसे अपनाते गए। तीसरी पीढ़ी के लोगों में अंग्रेजी का इतना प्रचार हो गया कि उन्होंने इसे अपने घर की साधारण बोलचाल की भाषा बना ली और हिन्दी को भूलने लगे।

प्रथम आर्यप्रचारक भाई परमानन्द का आगमन

भारतवर्ष में १९ वीं शती के अन्त और २०वीं शती के प्रारम्भ में आर्यसमाज बड़े वेग से प्रगति कर रहा था। कुछ आर्यसमाजी सज्जन अफ्रीका भी पहुँचे और उन्होंने वहाँ की दशा पर बड़ा शोक प्रकट किया परिणामस्वरूप दक्षिण अफ्रीका के कुछ आर्य सज्जनों ने जिनमें लाला मोहकमचन्द वर्मन का नाम विशेष उल्लेखनीय है, लाहौर कालेज के प्रिंसपल महात्मा हंसराज जी से किसी प्रचारक को भेजने के लिए प्रार्थना की। महात्मा हंसराज जी ने इस प्रार्थना पर ध्यान देकर भाई श्री परमानन्द जी को वहां भेजा। ५ अगस्त सन् १९०५ ई० का वह दिन बड़ा शुभ था जब कि आर्य संस्कृति के प्रथम संदेशवाहक प्रोफ़ेसर भाई परमानन्द जी ने दक्षिण अफ्रीका में पदार्पण किया। भारतीयों के इस देश में आगमन के ४५ वर्ष के पश्चात सर्वप्रथम एक भारतीय विद्वान इस देश में आया।[1]

भाई परमानन्द जी ने जाकर वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि तत्काल स्थिति में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रावल्य के कारण आर्यसमाज की स्थापना सम्भव न थी अतः हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न करने के हेतु उन्होंने 'हिन्दू सुधारक सभा' की एवं नवयुवकों के उत्थान के लिए 'हिन्दू यंग मेन असोशियेशन' की स्थापना अनेक स्थानों पर की। भाई जी ने अपने व्याख्यान हिन्दी और अंग्रेजी में दिये। उनके व्याख्यानों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ां और इस प्रकार वे धार्मिक सुधार के साथ ही साथ हिन्दी प्रचार का क्षेत्र भी तैयार कर आये।

द्वितीय आर्यप्रचारक स्वामी शंकरानन्द

आर्यसमाज के दूसरे प्रभावशाली प्रचारक स्वामी शंकरा नन्द जी थे। वे ४ अक्टूबर सन् १९०८ ई० को दक्षिण अफ्रीका के डरबन बन्दरगाह पर उतरे।[2] स्वामी जी का वहाँ भव्य स्वागत हुआ। उन्होंने स्थिति का सूक्ष्मता से अध्ययन कर अपना कार्यक्रम निश्चित किया 'जाति के इस वैद्य ने उसकी नाड़ी को पकड़ कर रोग को ठीक तरह से परख लिया था। इसका इलाज करने के लिए उन्होंने व्याख्यानों और उपदेशों का, त्योहारों और संस्कारों के प्रचलन का, तथा मातृभाषा की शिक्षा का त्रिविध कार्यक्रम रचा और निःसंदेह जाति का यह वैद्य अपने निदान और चिकित्सा में सफलता पाने लगा।[3]

१—'दक्षिण अफ्रीका में धर्मोदय' ले० नरदेव वेदालंकार पृ० ४।

२—विदेशों में आर्यसमाज नामक पुस्तक में स्वामी जी के डरबन बंदरगाह पर उतरने की तिथि २५ सितम्बर १९०९ ई० दी है जो अशुद्ध है क्योंकि १९०९ की दीपावली स्वामी जी के प्रोत्साहन से मनाई गई थी।

'दक्षिण अफ्रीका में धर्मोदय' पृष्ठ ७

३—वही, पृष्ठ ७

स्वामी जी हिन्दी और अंग्रेजी के उद्भट वक्ता थे। उन्होंने अनेक व्याख्यानों द्वारा आध्यात्मिक विषयों के साथ साथ मातृभाषा की महत्ता और उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला एवं अनेक संस्थाओं की नीव डाली।

श्री भवानीदयाल जी संन्यासी का हिंदी-कार्य

दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी का व्यापक प्रचार श्री भवानीदयाल जी संन्यासी द्वारा हुआ। संन्यासी जी के माता पिता पंचवर्षीय शर्तबन्दी के अन्तर्गत भारतवर्ष से दक्षिण अफ्रीका भेजे गए थे। उनका जन्म अफ्रीका में ही हुआ था। सत्यार्थप्रकाश पढ़ने से उनके जीवन में काया पलट हुई। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "मेरे लिये तो आर्यसमाज वह माता है जिसकी गोद में बैठ कर मैंने सार्वजनिक सेवा का कार्य सीखा है।"[1] अतः नेटाल की आर्यसमाजों को संगठित एवं सुव्यवस्थित रूप देकर व्यक्तिगत और संस्थागत रूप से हिन्दी सेवा करने का श्रेय सन्यासी जी को है।

सबसे प्रथम उन्होंने ट्रान्सवाल में हिन्दी-प्रचार का कार्य किया। यहाँ उन्होंने ट्रान्सवाल-हिन्दी-प्रचारिणी सभा, हिन्दी-रात्रि-पाठशाला और हिन्दी-फुटबाल-क्लब की स्थापना की। हिन्दी-रात्रि-पाठशाला में सन्यासी जी के अभाव में उनकी पत्नी श्रीमती जगरानी देवी जी और अनुज श्री देवीदयाल जी भी अध्यापन-कार्य किया करते थे। सन् १९१५ ई० में जब वे ट्रान्सवाल से नेटाल आकर डरबन में निवास करने लगे तो हिन्दी-प्रचार-कार्य प्रचलित रक्खा उन्होंने लिखा है:—

"पाँच साल मैंने नेटाल और ट्रान्सवाल में लगातार हिन्दी-प्रचार का काम किया। इस दरम्यान में जर्मिस्टन, न्यूकासिल, डेनहाउजर, हार्टिंगस्पुट, ग्लेंको, वर्नसाइड, लेडीस्मिथ, विनेन जेकव्स आदि शहरों और कस्बों में हिन्दी-प्रचारिणी-सभायें और हिन्दी-पाठशालायें खुल गई। इन सभाओं को एक केन्द्रीय मंडल के अन्तर्गत संगठित करने के विचार से दक्षिणीय अफ्रीका-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मैंने स्थापना की, जिसका पहला वार्षिकाधिवेशन लेडीस्मिथ में और दूसरा पीटर मेरित्सवर्ग में बड़ी धूम धाम से हुआ था।"[2]

डरबन नगर के क्लेरस्टेट में सन्यासी जी ने एक हिन्दी-आश्रम बनवा कर उसके अन्तर्गत हिन्दी पुस्तकालय, हिन्दी विद्यालय और हिन्दी मुद्रणालय की भी व्यवस्था की। उन्होंने इस आश्रम से एक "हिन्दी" साप्ताहिक पत्र निकालने का भी प्रयत्न किया परन्तु अनेक बाधाओं के उपस्थित हो जाने से वे कृतकार्य न हो सके।

"धर्मवीर" का संपादन

यद्यपि सन्यासी जी स्वयं पत्र-संचालन न कर सके परन्तु उन्होंने हिन्दी-सेवा-यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित रक्खा। श्री रल्लाराम गंधीलामल भल्ला नाम के एक आर्यसमाजी सज्जन ने सन् १९१६ के प्रारम्भ से अमरशहीद पं० लेखराम जी की पुण्य स्मृति में

१—प्रवासी की आत्मकथा ले० भवानी दयाल सन्यासी, पृष्ठ ५२५
२—वही, पृष्ठ १७०

"धर्मवीर" नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकाला। उर्दू-भाषा-विज्ञ होने के कारण भल्ला जी को पत्र-सम्पादन में बड़ी कठिनाई होती थी। उनके सहकारी श्री मेहरचन्द जी, भल्ला जी के उर्दू लेख को हिन्दी रूप प्रदान करते थे तब प्रेस में छपता था। इस प्रकार जनता को शुद्ध हिन्दी के स्थान पर उर्दूमयी भाषा के दर्शन नागरी वर्णमाला में होते थे। इस अभाव को दूर करने के लिए भल्ला जी ने सन्यासी जी को सम्पादन कार्य के लिए आमन्त्रित किया और उन्होने भी हिन्दी-सेवा के विचार से आर्थिक हानि उठा कर भी इस कार्य-भार को संभाल लिया। लगभग दो वर्ष तक कार्य करने के पश्चात भल्ला जी से मतभेद होने के कारण सन्यासी जी को सम्पादक-पद से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा।

"धर्मवीर" के सम्पादन-काल में सन्यासी जी ने "हमारी कारावास कहानी" "शिक्षित और किसान" "नैपाली हिन्दू" "सत्याग्रही गाँधी" और "वैदिक धर्म और आर्य सभ्यता" नामक हिन्दी पुस्तकों की भी रचना की। इसके पश्चात भी उन्होंने हिन्दी की अनेक महत्व पूर्ण पुस्तकें लिखीं जिनमें "दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास" "दक्षिण अफ्रीका के मेरे अनुभव" "शंकरानन्द संदर्शन" "प्रवासी की आत्मकथा" आदि प्रसिद्ध हैं।

"हिन्दी"

दक्षिण अफ्रीका ही नहीं अपितु पूर्वी अफ्रीका और अन्य उपनिवेशों में हिन्दी प्रचार और भारतवासियों में जागृति उत्पन्न करने का श्रेय सन्यासी जी द्वारा संचालित "हिन्दी" पत्र को है। इसी पत्र के द्वारा उन्होंने सन् १९२५ ई० में महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म-शताब्दी मनाने का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप दक्षिण अफ्रीका के नेटाल प्रदेश के डरबन नगर में यह महोत्सव बड़े समारोह पूर्वक मनाया गया। अपनी पत्नी श्रीमती जगरानी देवी की इच्छानुसार "हिन्दी" पत्र उन्होंने मई सन् १९२२ ई० में निकाला और नवम्बर सन् १९२५ ई० में एक शिष्ट मंडल के साथ भारत जाने के कारण उन्हें बाध्य होकर इसे स्थगित कर देना पड़ा। इस प्रकार यह पत्र केवल साढ़े तीन साल के लगभग चल सका। इतने अल्पकाल में भी इस पत्र ने सामाजिक और राजनैतिक कार्यों के साथ हिन्दी प्रचार का जो कार्य अफ्रीका आदि विदेशों में किया वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। "प्रवासी भारतीयों में तो वह ऐसी लोक प्रिय हुई कि नेटाल के सिवा ट्रान्स-वाल, केप, रोडेसिया, मोजम्बिक, टांगानिगा, यूगांडा, केनिया, मोरिशस, फिजी, डमरारा, ट्रिनिडाड, जमेका, ग्रनेडा, सुरीनाम, आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैण्ड आदि उपनिवेशों में उसकी काफी खपत होने लगी। 'हिन्दी' अपने समय में प्रवासी भारतीयों की मुख पत्रिका बन गई थी। उसमें प्रायः स्वर्गीय साधु एंड्रूज, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, राजा महेन्द्रप्रताप डाक्टर तारकनाथ दास, श्री हेनरी पोलक, डाक्टर सुधीन्द्र बोस प्रभृति प्रवासी समस्या के विशेषज्ञों के लेख निकलते थे"[1]

उपर्युक्त आर्यसामाजिक विद्वानों के प्रचार और प्रयत्न के फलस्वरूप नेटाल में

१—प्रवासी की आत्मकथा, ले० भवानीदयाल सन्यासी, पृष्ठ २४५।

अनेक आर्य संस्थाओं और आर्यसमाजों की स्थापना हुई। प्रारम्भ में आर्यसमाज के अनुकूल वातावरण न होने से विभिन्न नामों से अनेक संस्थायें स्थापित की गईं। उन संस्थाओं में आर्यसमाज के सिद्धान्तों की ही चर्चा एवं तदनुकूल कार्यवाहियाँ होती थीं।

आर्य प्रतिनिधि सभा नेटाल की स्थापना और हिंदी-कार्य

सन् १९२५ ई० में महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्मशताब्दी महोत्सव पर वहाँ के आर्य कार्यकर्ताओं ने एक प्रस्ताव द्वारा २२ फरवरी १९२५ ई० को शिवरात्रि के दिन आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की। २३ अक्टूबर सन् १९२७ ई० को यह सभा दिल्ली की सार्वदेशिक सभा से सम्बन्धित हो गई। सन् १९२५ ई० से लेकर सन् १९५७ ई० तक इस सभा के अन्तर्गत ६ वैदिक परिषदें हुईं। इन परिषदों में हिन्दी भाषा की उन्नति और प्रचार के विषय में भी विचार-विमर्श हुए और शीघ्र ही ये विचार कार्यान्वित किये गये। तीसरी परिषद, जो सन् १९२६ ई० में हुई थी, के निर्णयानुसार सभा और उससे सम्बन्धित सभी संस्थाओं में हिन्दी में ही कार्य होता है। चौथी परिषद (सन् १९३९ ई०) में प्रत्येक संस्था से मातृ भाषा में पढ़ाने की व्यवस्था का आग्रह किया गया। पांचवीं एवं छठी परिषद में जो क्रमशः सन् १९४२ ई० और सन् १९४७ ई० में हुई, स्त्रियों को हिन्दी पढ़ाने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ एवं मातृभाषा पर निबन्ध पढ़े गये।

हिन्दी-सम्मेलन और हिंदी-संघ की स्थापना

आर्य प्रतिनिधि सभा नेटाल के प्रयत्न से २४-२५ अप्रैल सन् १९४८ ई० में एक हिन्दी-सम्मेलन की आयोजना की गई। "इस सम्मेलन में हिन्दी-प्रचार के लिये "हिन्दी शिक्षा संघ 'नाताल' नाम की स्वतंत्र संस्था की स्थापना हुई। मतमतान्तरों के भेद भावों को छोड़कर इसमें सबका सहयोग लिया गया। इस सम्मेलन में 'हिन्दी शिक्षा संघ की नीति के रूप में मुख्यतया तीन बातें स्वीकार की गईं (१) नाताल की सभी हिन्दी पाठशालाओं को संघ में सम्मिलित किया जावे (२) सभी पाठशालाओं में एक जैसी पाठ विधि और परीक्षा प्रणाली चालू की जावे (३) हिन्दी भाषा की शिक्षा के अतिरिक्त हिन्दी में भारतवर्ष का का इतिहास, भूगोल, धर्म शिक्षा तथा सामान्य गणित भी सिखाया जावे।'[1] इन्हीं आधारों पर 'हिन्दी शिक्षा संघ में सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि नेटाल की आर्य प्रतिनिधि सभा उन्नति पथ पर अग्रसर हो रही है और हिन्दी की सेवा भी सन्तोषजनक रीति से कर रही है। ५० वर्ष पूर्व भाई परमानन्द जी के आगमन-कालीन स्थिति और वर्तमान स्थिति में आकाश पाताल का अन्तर हो गया है। अब अंगरेजी के स्थान पर हिन्दी में कार्य होने लगा है। सभा के अन्तर्गत होने वाले परिषदों, आर्य युवक और स्त्री सम्मेलनों तथा अन्य महोत्सवों की कार्यवाहियाँ और व्याख्यान अब हिन्दी में ही होने लगे हैं। सभा के अन्तर्गत समाजों और संस्थाओं को आर्य भाषा में ही समस्त कार्य करने का आदेश किया गया है।

१—'दक्षिण अफ्रीका में धर्मोदय' ले० पं० नरदेव वेदालंकार, पृ० ५०-५१।

इस समय आर्य प्रतिनिधि सभा में २९ बड़ी संस्थायें सम्मिलित हैं। इनमें स्प्रिगफील्ड और अवोका की क्रमशः नागरी प्रचारिणी एवं हिन्दी प्रचारिणी सभायें भी हैं।

पूर्वी अफ्रीका

भारतीयों का आगमन

ब्रिटिश पूर्व अफ्रीका में केनिया प्रदेश अन्य प्रदेशों की अपेक्षा भारत से निकट है। यहाँ भारतवासी शर्तबन्द मजदूर के रूप में नहीं आये। सन् १८९२ ई० में यहाँ अंग्रेजों ने रेलवे चालू करने का प्रयत्न किया और केनिया यूगांडा रेलवे निर्माण कार्य में स्थानीय और दक्षिण अफ्रीका के गोरे मजदूरों से काम निकालना चाहा परन्तु वे कृतकार्य न हो सके अन्त में भारतीय मजदूरों के आगमन से यह कार्य सम्पन्न हुआ। भारतीय मजदूर मुख्यतः पंजाब प्रान्त से ही आये। इसके अतिरिक्त गुजराती भी यहाँ आये। दक्षिण अफ्रीका, मोरिशस, फिजी आदि उपनिवेशों की भाँति यहाँ केवल मजदूर ही नहीं आये अपितु क्लर्क उच्च पदस्थ कर्मचारी और इंजीनियर भी आये तथा स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने वाले व्यक्ति भी आये।

प्रारम्भिक दशा

दक्षिणअफ्रीका के प्रवासी-भारतीयों के विपरीत यहाँ आने वाले गुजरातियों और पंजाबियों ने अपनी मातृभूमि से सम्पर्क सदा बनाये रक्खा। पंजाबियों के आगमन से मुख्यतः उर्दू का ही प्रचार यहाँ प्रारम्भ में हुआ। प्रसिद्ध आर्यप्रचारक उपर्बुध जी के लेखानुसार "आने वालों में कुछ संख्या आर्यसमाजियों की भी थी किन्तु उन दिनों हिन्दी प्रचार का प्रबल पक्ष पोषक होते हुए भी आर्यसमाज का साहित्यादि उर्दू में ही था गिने चुने विद्वान हिन्दी के पंडित थे। सामान्य आर्यसामाजी हिन्दी सीखने आदि का प्रयत्न तो करते ही थे।"[1]

प्रारम्भ में उर्दू के प्रचलित हो जाने पर भी आर्यसामाजियों ने आते ही भिन्न वातावरण उत्पन्न कर दिया। पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के प्रसिद्ध महोपदेशक पं० सत्यपाल जी ने लिखा है"...............तब भारतीय मजदूरों के साथ ही भारतीय क्लर्क, व्यापारी इस देश को भरने लगे। उनमें ही देश से प्रेरणा लेकर आये हुए आर्यसमाजी भी आये और आते ही उन्होंने सत्संग प्रारम्भ कर दिये काम के बाद सारा समय भजनों को गाकर बाजार फिरने, प्रातः सायं सत्संग और सन्ध्या करने में व्यतीत होने से नया युग प्रारम्भ हुआ। १९०३ में आर्य सत्संगों का लिखित विवरण अब भी उपलब्ध है उनसे पता लगता है कि तब के आर्य क्या भावनायें रखते थे :

(१) सारे अफ्रीका खंड को आर्य बनाना।
(२) इस देश में आर्यभाषा को ही मुख्य भाषा बनाना।

१—श्री उपर्बुध जी के पत्र के आधार पर।

(३) इन कौलियों को भारत का हिस्सा बनाना।[1]

कतिपय आर्यसमाजियों ने प्रारम्भ में विचार किया कि भारत से विद्वान उपदेशकों को आमन्त्रित कर इस देश में आर्यसमाज की स्थिति दृढ़ की जाय फलतः पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने पंडित पूर्णानन्द जी को भेजा। पंडित जी तीन बार सन् १९०४, १९०८ और १९२२ ई० में अफ्रीका आये। पंडित जी ने आते ही हिन्दी और संस्कृत के अध्ययन के लिये मुम्बासा, नैरोबी और कम्पाला में सायंकाल की पाठशालायें प्रचलित कीं।

सन् १९१२ ई० से लेकर १९१८ ई० तक पूर्वी अफ्रीका के आर्यसमाज का इतिहास संकट काल का है। भारतवर्षीय आर्यसमाजों पर अंग्रेजी सरकार की कोप दृष्टि मुख्यरूपेण सन् १९१२ से सन् १९१४ तक रही अतः अफ्रीका में भी अंग्रेज सरकार का दृष्टिकोण वैसा ही क्यों न हो ? प्रथम विश्व-युद्ध-काल में तो मुम्बासा आर्यसमाज के अनेक सदस्यों को फांसी और लम्बा कारावास दंड मिला। शनैः शनैः स्थिति में परिवर्तन हुआ आर्यसमाज ने अपनी स्थिति दृढ़ करना प्रारम्भ किया।

आर्य प्रचारक

पं० पूर्णानन्द जी के पश्चात पं० महाराणी शंकर, स्वामी स्वतंत्रानन्द, पं० बालकृष्ण, पं० मणिशंकर, प्रो० ईश्वरदत्त, डाक्टर भगतराम, ठाकुर प्रवीणसिंह, पं० रविदत्त और पं० माथुर शर्मा आदि महोपदेशक और प्रचारक पूर्वी अफ्रीका गये। पं० सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार ने तो अफ्रीका को अपना घर ही बना लिया है। हिन्दी-प्रचार के लिये उनका त्याग और तप सराहनीय है। पं० उषर्बुध जी ने उनके विषय में लिखा है "यहाँ हिन्दी प्रचार के लिये पं० सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकर के त्याग का वर्णन आवश्यक है। सन् १९२९ ई० में वे यहाँ आये आर्य-प्रचारक के रूप में। पुनः सन् ३१ में लौट गये और कांग्रेस आन्दोलन में सन् ३५ तक जेल में रहे। सन् ३६ से पुनः यहाँ आये, तब से यहीं पर हैं। पं० सत्यपाल जी का हिन्दी प्रचार में एक महत्वपूर्ण हाथ रहा है। मांसाहारी अफ्रीकनों के रिजर्वों (सुरक्षित वसतियों) में वे महीनों शाक और फल मात्र खा कर रहे हैं केवल हिन्दी शिक्षण के लिये"।[2] अफ्रीकनों के सम्पर्क में आने के कारण कैनिया की ब्रिटिश सरकार पंडित जी को संदेह दृष्टि से देखने लगी परन्तु सरकारी कोप की चिन्ता न कर वे कार्य संलग्न रहे यद्यपि कुछ समय पश्चात उन्हें "अफ्रीकन रिजर्व" से निकाल दिया गया।

केनिया

आर्यसमाज और अन्तर्गत संस्थायें

सबसे पूर्व केनिया की राजधानी नैरोबी नगर में ३ अगस्त सन १९०३ ई० में आर्य समाज की स्थापना हुई। इस समाज के ३ लाख शिलिंग मूल्य के बड़े भव्य भवन हैं। इसके अन्तर्गत हिन्दी-प्रचारक संस्थाओं में एक पुस्तकालय है जिसमें हिंदी, उर्दू, गुरुमुखी,

---

१—पं० सत्यपाल जी के पत्र के आधार पर।

२—पं० उषर्बुध जी का पत्र

गुजराती और अंग्रेजी सब मिला कर लगभग २००० पुस्तकें हैं। वाचनालय में भी उपर्युक्त भाषाओं के पत्र भारत में आते हैं। आर्य युवक सभा, आर्य वीर दल, स्त्री समाज आदि में तो हिन्दी का कार्य होता ही है इसके अतिरिक्त आर्य कन्या पाठशाला और हिंदी रात्रि पाठशाला भी हैं। नैरोबी की इस कन्या पाठशाला का आरम्भ तो सन् १९०८ ई० से ही हो गया था परन्तु सन् १९१८ ई० से यह सुचारु रूप से चल रही है। इस समय लगभग १४०० कन्यायें शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। यह पूर्वी अफ्रीका की प्रथम संस्था है जिसका शिक्षण-माध्यम हिन्दी है।

आर्यसमाज नैरोबी ने सन् १९३६ ई० से एक सायंकाल पाठशाला खोली जो अत्यंत सफल रही। १९४३ ई० से यह पाठशाला वर्धा की राष्ट्र भाषा प्रचार समिति की परीक्षाओं का केन्द्र बना दी गयी। इससे सहस्त्रों विद्यार्थी लाभ उठा चुके हैं। यह पाठ-शाला पं० सत्यपाल जी के व्यक्तिगत पुरुषार्थ से चल रही है।

यहाँ की आर्य स्त्री-समाज ने भी हिन्दी की उन्नति के लिए प्रयत्न किया है। अधि-वेशन की कार्यवाही तो हिन्दी में होती ही है इसके अतिरिक्त इस संस्था की ओर से पंजाब की रत्न, भूषण, प्रभाकर परीक्षाओं के लिए भी केन्द्र चल रहा है।

पत्र-पत्रिकायें

प्रथम विश्व युद्ध के अनन्तर सन् १९२१ ई० में "आर्यवीर" नाम का पत्र आर्यसमाज नैरोबी की ओर से प्रारम्भ हुआ परन्तु दो वर्ष के पश्चात समाप्त हो गया। कभी-कभी साइक्लोस्टाइल की सहायता से प्रचार-पत्रिकायें निकलती रही।

आर्यसमाज ही के द्वारा शिक्षा-विभाग में हिन्दी स्वीकार कराने के हेतु अनेक बार आन्दोलन हुये "जो प्रस्तावों विरोधी और दूसरे प्रकार के आन्दोलनों के बाद सन् १९४५ ई० में सफल हुआ और अब शिक्षा-विभाग ने हिन्दी को स्वीकार कर लिया है और सब बड़ी-बड़ी जगहों में हिन्दी का प्रबन्ध हो चुका है।[१]

आर्यसमाज किसिमु

नैरोबी के पश्चात किसिमु आर्यसमाज का स्थान है। इसकी स्थापना सन् १९१० ई० में हुई है। इसका मन्दिर ३० सहस्त्र शिलिंग लागत का है। इसके अतिरिक्त आर्य कन्या पाठशाला और श्रद्धानन्द पथिकाश्रम के भव्य-भवन भी हैं। इस समाज के अन्तर्गत पुस्तकालय और स्त्री आर्यसमाज भी हैं।

इन सभी संस्थाओं द्वारा हिन्दी का प्रचार विभिन्न प्रकार से होता है। पं० ईश्वर दास जी ने किसिमु में हिन्दी प्रचार का कार्य संभाल रक्खा है। वे इन कर्मवीरों में से हैं जिन्होंने उर्दू-प्रचार-काल में अन्य आर्य वीरों के साथ भारतवर्ष जाकर हिन्दी का उच्च ज्ञान प्राप्त किया और पुनः इस देश (अफ्रीका) में जा कर हिन्दी-शिक्षा-कार्य को अपना लिया।

१—पं० सत्यपाल जी का पत्र

आर्यसमाज मुम्बासा

मुम्बासा केनिया का मुख्य बन्दरगाह है। यहाँ भी आर्यसमाज मन्दिर बना हुआ है। स्वामी स्वतंत्रानन्द जी सन् १९२९ में यहाँ आकर प्रचार कर गये हैं। यहाँ गुजरातियों की संख्या अधिक होने के कारण गुजराती भाषा को हिन्दी की अपेक्षा अधिक महत्व प्राप्त है। कुछ वर्षों से अनन्त शास्त्री जी हिन्दी-प्रचार कार्य कर रहे हैं। वे राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति एवं पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षायें दिलवाते हैं।

युगांडा

आर्यसमाज कम्पाला

यूगांडा प्रदेश की राजधानी कम्पाला है। यद्यपि यहाँ सन् १९०८ ई० में पं० पूर्णानन्द जी के प्रयत्न से आर्यसमाज स्थापित हुआ था परन्तु कुछ समय पश्चात शिथिल हो गया। सन् १९१३ में इसका पुनरुद्धार हुआ किन्तु युद्ध काल में पुनः शिथिलावस्था को प्राप्त हुआ सन् १९२० से पुनर्जीवन मिला और सन् १९२८ में आर्य मंदिर भी तैयार हो गया। कम्पाला आर्यसमाज के अन्तर्गत सन् १९३९—से एक कन्या पाठशाला चल रही है जिसमें छात्राओं को हिन्दी भी पढ़ाई जाती है।

उपदेशकों द्वारा प्रचार

"सन् १९१३ ई० में श्री पं० महाराणीशंकर जी उपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई यहाँ पधारे। उनके उपदेश का यह प्रभाव होता था कि आर्य हिन्दू, खोजै, मुसलमान सभी इनके अमृत रूपी उपदेशों से अपनी धर्म पिपासा को तृप्त करने के लिए इनके व्याख्यानों में भाग लेते थे।[1]

उक्त पंडित जी के अतिरिक्त श्री ठा० प्रवीण सिंह जी, पं० ईश्वरदत्त जी, स्वामी स्वतंत्रानन्द जी, प्रो० रामदेव जी, डा० भगत राम जी, पं० बालकृष्ण जी तथा पं० मणि शंकर जी ने भी यहाँ प्रचार किया। इस समाज के अन्तर्गत एक छोटा सा पुस्तकालय भी है जिसमें हिन्दी की भी पुस्तकें है।

जिजा, लौगाजी और मुवाली आर्यसमाज के भी मन्दिर हैं। जिजा के मन्दिर का निर्माण लगभग ४ वर्ष पूर्व हुआ है। इसकी लागत अनुमानतः २ लाख शिलिंग है। लौगाजी का मन्दिर पूर्ण रूपेण सेठ नानजी कालिदास मेहता द्वारा बनवाया गया है। मुवाली आर्यसमाज की स्थापना सन् १९२८ ई० में हुई। समाज मन्दिर के साथ ही यहाँ एक पाठशाला भी चल रही है।

आर्यसमाज जंजीबार और हिन्दी की स्थिति

जंजीबार पूर्वीय अफ्रीका के तट पर एक छोटा सा द्वीप है। यह द्वीप सुलतान

१—विदेशों में आर्य समाज, प्रथम सं०, पृष्ठ ३४

का है परन्तु शासन ब्रिटिश रेजीडेंट के हाथ में ही है। आर्यसमाज की स्थापना यहाँ सन् १९०७ ई० में हुई। दासों के क्रय विक्रय की मंडी के स्थान पर ही आर्यसमाज का मन्दिर बना है। यह दुमंजिला भवन है। प्रचारकों तथा अन्य आगन्तुकों के लिये अतिथिशाला भी है। अतः यहाँ आकर ठहरने वाले उपदेशकों और विद्वानों द्वारा आर्यसमाज और हिन्दी-प्रचार का कार्य कुछ न कुछ हो ही जाता है। आर्यसमाज की ओर से यहाँ एक कन्या पाठशाला चल रही थी। अब वह राजकीय नियंत्रण में है।

यहाँ गुजरातियों की जनसंख्या अधिक है। सन् १९१३ ई० में पं० महाराणी शंकर गुजराती भाषा में ही प्रचार करते थे। केनिया और यूगाँडा जाने वाले लगभग सभी आर्योपदेशक यहाँ से होकर गये। निश्चित रूप से आर्यसमाज ने हिन्दी के लिये कितना कार्य किया अथवा इस समय कर रहा है यह अभी अज्ञात हैं।

टांगानिका

आर्यसमाज दारुस्सलाम

टांगानिका प्रदेश का मुख्य नगर बन्दरगाह और राजधानी दारुस्सलाम है। यहाँ आर्यसमाज का प्रारंभ तो सन् १९११ ई० से ही हो गया था परन्तु नियमपूर्वक स्थापना और प्रारम्भ सन् १९१९ ई० से हुआ। इस समाज के अन्तर्गत देवकुंवर आर्य कन्या पाठशाला है जिसमें ७०० लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इसके अतिरिक्त आर्यवीर दल, पुस्तकालय और एक वाचनालय भी इसी समाज के साथ हैं। पुस्तकालय में संस्कृत हिन्दी और गुजराती की पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ उर्दू की पुस्तकें भी हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा और अन्य संस्थायें

इसके अतिरिक्त टवोरा, युचांजा, डोडोमा, ननसीओ तथा अन्य अनेक स्थानों पर आर्यसमाज स्थापित हैं जिनमें नियमानुसार अधिवेशन होते रहते हैं।

सन् १९२० ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पूर्वी अफ्रीका की स्थापना हुई। इसकी स्थापना से आर्य समाज का संगठन दृढ़ हो गया और सन् १९४५ ई० तक पूर्वी अफ्रीका की लगभग सभी संस्थायें इसके अन्तर्गत हो गई।

मौरिशस

प्रारंभिक दशा

अफ्रीका महाद्वीप के पूर्व हिन्द महासागर में मौरिशस नामक एक द्वीप है। भारत-वासियों में यह मिर्च के टापू के नाम से भी प्रसिद्ध है। सन् १८३४ ई० में भारतीय मजदूर शर्तबन्द होकर आये। शर्त की अवधि समाप्त हो जाने पर अधिकतर मजदूर यहीं बस गये। प्रारम्भ में इन प्रवासियों की दशा अत्यन्त हीन और दयनीय थी। हिन्दू अधिकतर दम्भ, पाखंड, अंधविश्वास और रूढ़ियों में ग्रस्त थे। ब्राह्मणों ने अपना जाल फैला रक्खा था। पोप की भाँति वे सीधा स्वर्ग का टिकट भोली भाली और मूर्ख जनता को देते थे।

हिन्दू उनके चरण-प्रक्षालन का अपवित्र जल पान करते थे। स्त्रियों का किंचिन्मात्र भी सम्मान न था। होली पर अपशब्दों का प्रयोग धर्म का अंग माना जाता था। हिन्दू अधिक संख्या में ईसाई बनते जा रहे थे। वे अपनी मातृभाषा हिन्दी को भूलकर इंगलिश, फ्रेंच और किर्योली[1] बोलने लगे थे।

आर्य समाज का आरम्भ

आर्यसमाज की नींव डालने वाले यहाँ प्रारम्भ में दो आर्यवीर थे प्रथम श्रीराम शरण मोती अथवा मोती मास्टर और द्वितीय श्री खेम लाल जी। आर्यसमाज से इनका सम्पर्क बड़े विचित्र ढंग से हुआ। मोती मास्टर को लाहौर की इंगलिश "आर्य पत्रिका" के कुछ पन्ने रद्दी में मिले जिन्हें पढ़कर वे आकृष्ट हुए और 'आर्य पत्रिका' के ग्राहक बने और आर्यसमाजी बन गये। श्री खेमनलाल जी को भारत से मौरिशस गई हुई सेना की एक कम्पनी के आर्यसमाजी हवलदार ने सत्यार्थप्रकाश दिया जिसे पढ़कर वे बड़े प्रभावित हुये। उन्होंने अकेले ही आर्यसमाज का प्रचार करना प्रारम्भ किया परन्तु नियमित रूप से आर्यसमाज की स्थापना न हो सकी। सन् १९०७ ई० में श्री मणिलाल जी बैरिस्टर मौरिशस पहुँचे। उनकी ब्राह्मणों से नहीं पटी। ब्राह्मण कट्टरपंथी थे और जातिगत भावों के कारण वे अपने को अन्य जातियों से ऊँचा समझते थे। श्री मणिलाल जी अब्राह्मण थे अतः ब्राह्मण उन्हें भी नीचा ही समझते थे। संस्कृतज्ञ एवं अन्य भाषा विज्ञ श्री मणिलाल जी ब्राह्मणों की इन भावनाओं का आदर स्वाभिमान वश क्यों करने लगे? फलतः उनकी मौरिशस के ब्राह्मणों से सदैव खटकती रही। इन्हीं श्री मणिलाल जी के प्रोत्साहन से १७ अप्रैल सन् १९१० ई० में पोर्ट लुईस में नियमित रूप से आर्यसमाज की स्थापना हुई और इसके अधिवेशन होने लगे।

आर्यसमाज का संगठन और हिंदी

सन् १९१२ ई० में श्री स्वामी मंगलानन्द जी पुरी मौरिशस पहुँचे और उसके पश्चात डा० चिरंजीव भरद्वाज जी का वहाँ आगमन हुआ। वे इंगलैंड के शिक्षित एक दक्ष डाक्टर थे। उनके आगमन से आर्यसमाज का कार्य सुचारु रूप से चलने लगा। आर्यसमाज की उन्नति से ब्राह्मणों को बहुत धक्का लगा उन्होंने डाक्टर महोदय का घोर विरोध किया यहाँ तक कि उनके घर पर धरना देने की भी धमकी दी गई। स्वामी स्वतंत्रानन्द जी ने उनके विषय में लिखा है :

"वे झुकना नही जानते थे। वे तो शेर की भाँति सीधा चलने वाले मर्द थे। उन्होंने पोर्ट लुइस का मकान छोड़कर बकुआ में आकर मकान लिया और अपने को तथा अपने परिवार को आर्यसमाज के अर्पण कर दिया। ये प्रतिदिन सायं को लोगों को हिन्दी पढ़ाते थे और रात्रि को घर से निकलकर व्याख्यान देते थे। उनकी धर्मपत्नी सुमंगली देवी जी लड़कियों और स्त्रियों को पढ़ाती थीं और अनेक बार बाहर जाकर व्याख्यान भी देतीं।

१—किमोली फ्रेंच भाषा का अपभ्रंश अथवा बिगड़ा हुआ रुप है जिसे साधारणतया मौरिशस में सभी बोलते है।

मौरिशस के लिये एक स्त्री का व्याख्यान देना नई बात थी और इसी प्रकार डाक्टर जी का व्याख्यान देना भी नई बात थी······"१

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि डाक्टर भारद्वाज जी ने मौरिशस के इतिहास में एक नवीन युग उपस्थित कर दिया। उन्होंने ब्राह्मणत्व की पाखंडमयी दीवार ध्वस्त कर दी, उनकी देवी जी के व्याख्यान से स्त्री-शिक्षा का महत्व प्रकट हुआ और हिन्दी शिक्षा द्वारा उन्होंने मातृभाषा की महत्ता और उपादेयता सिद्ध कर दी। उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में मौरिशस जैसे अनजान द्वीप में अशिक्षित रूढ़िवादी और अन्ध विश्वासी श्रमजीवियों के मध्य उनके सर्वमान्य ब्राह्मण देवता के विरुद्ध डट कर काम करना बड़ा ही असाधारण कार्य था। इससे डाक्टर महोदय की दृढ़ता, चारित्रिक उच्चता और जीवन का परिचय मिलता है। मौरिशस के वर्तमान आर्यसमाज का भव्य-भवन बैरिस्टर मणिलाल जी और डाक्टर भारद्वाज जी की डाली हुई सुदृढ़ नींव पर आधारित है।

आर्यसमाज को पूर्ण रूपेण संगठित करने के दृष्टिकोण से डाक्टर भारद्वाज जी ने (आर्य प्रतिनिधि सभा की सरकार द्वारा आज्ञा न मिलने पर) आर्य परोपकारिणी सभा की स्थापना सन् १९१२ ई० में की। पारस्परिक मतभेद के कारण सन् १९२८ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। स्वामी स्वतंत्रानन्द जी के प्रयत्न से सन् १९५० ई० में दोनों सभायें एक हो गई और उसका नाम आर्य-सभा रक्खा गया।

आर्य-प्रचारक

डा० भारद्वाज जी के अतिरिक्त अनेक आर्य उपदेशकों ने मौरिशस में प्रचार किया। जिनमें श्री स्वामी स्वतंत्रानन्द जी स्वामी विज्ञानानन्द जी, श्री मेहता जैमिनि, पं० नारायण दत्त जी सिद्धान्त भूषण प्रसिद्ध हैं। स्वामी स्वतंत्रानन्द जी ने दूसरी बार सन् १९५० ई० में मौरिशस जाकर पारस्परिक मतभेद मिटाकर आर्यसमाज को एक सूत्र में बाँधने के साथ ही हिन्दी-प्रचार को भी बड़ा प्रोत्साहन दिया। भारतीय बच्चों को हिन्दी प्रारम्भ से पढ़ाई जाय इसके लिये इन्होंने आन्दोलन किया। आर्यसमाज और विद्वान् भारतीय आर्य महोपदेशकों के प्रयत्न से मौरिशस के कुछ युवक हिन्दी की शिक्षा ग्रहण करने भारत आये। भारत से शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात अब वे अपने द्वीप मौरिशस में हिन्दी प्रचार करने लगे।

आर्यसमाज द्वारा हिन्दी-प्रचार का एक अन्य रूप

आर्यसमाज के प्रचार और कार्य के फलस्वरूप जिस प्रकार भारतवर्ष में सनातन धर्मियों ने अनेक संस्थायें खोलीं और आर्यसमाज की भाँति प्रचारादि करना प्रारंभ किया इसी प्रकार मौरिशस में भी कुछ सनातनधर्मी सज्जनों ने वही कार्य प्रणाली अपनाई। इससे आर्य समाज की कुछ हानि तो न हुई परन्तु यह लाभ अवश्य हुआ कि इस प्रकार हिन्दी का प्रचार हो गया। स्वामी स्वतंत्रानन्द जी ने लिखा है :—

१—"विदेशों में एक साल" ले० स्वामी स्वतंत्रानन्द जी, पृष्ठ ८०-८१

"आर्य सिद्धान्तों के साथ साथ मुझे कुछ बातों का विशेष रूप से प्रचार करना पड़ा, जसे आर्यभाषा (हिन्दी) का। जब मैं १९१४ में मारीशस गया था, उस समय आर्यसमाजों में हिन्दी पाठशालायें खोली थीं। उस समय उनका अभिप्राय यह था कि आर्य सत्यार्थ-प्रकाश पुस्तक को पढ़ सकें। इसके पश्चात सनातनधर्मियों ने भी पाठशालायें खोलीं। इसका फल यह हुआ कि भारतीयों को हिन्दी आ गई............।"[1]

संस्थायें

"इस समय मौरिशस में १३० आर्यसमाज और ८० पाठशालायें हैं जिनमें हिन्दी पढ़ना लिखना सिखाया जाता है।"[2] इसके अतिरिक्त आर्यसमाजों में उपदेशादि हिन्दी में होते रहते हैं। भारत से जाने वाले सभी उपदेशक और सन्यासी गण हिन्दी के प्रचार और प्रयोग पर बल देते रहते हैं।

पत्र

सबसे प्रथम "हिन्दुस्तानी" नामक पत्र हिन्दी में श्री मणिलाल जी बैरिस्टर द्वारा संचालित किया गया था। भारत जाते समय बैरिस्टर महोदय ने "हिन्दुस्तानी प्रेस" आर्य-समाज को प्रदान किया। आर्य परोपकारिणी सभा द्वारा आरम्भ में "आर्य पत्रिका" नामक साप्ताहिक पत्र निकला पश्चात इसका नाम "जागृति" पड़ा। आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से "आर्यवीर" नामक पत्र निकलता था। दोनों सभाओं के एकीकरण के पश्चात आर्य सभा की ओर से अब "आर्योदय" निकलता है। "आर्योदय के अंक लगभग ५०० की संख्या में छपते हैं।

अन्य साहित्य

आर्यसमाज की ओर से संभवतः किसी हिंदी पुस्तक का प्रकाशन नहीं हुआ परन्तु "आर्योदय" के सम्पादक पंडित आतमाराम विश्वनाथ जी ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें "मोरिशस का इतिहास" "हिन्दू मोरिशस" प्रसिद्ध हैं। पंडित जी ने हिंदी पाठ्य पुस्तकों की भी रचना की है।

फीजी

प्रारम्भिक दशा

फीजी एक द्वीप समूह है जो आस्ट्रेलिया महाद्वीप से पूर्व और न्यूजीलैंड से उत्तर की ओर है। यह लगभग २५० भागों में विभक्त है परन्तु मनुष्यों का निवास लगभग ८० द्वीपों पर है शेष उजाड़ है। सबसे पूर्व शर्तबन्द मजदूर सन् १८७९ ई० में फीजी पहुँचे और सन् १९१६ ई० तक वे आते रहे। दक्षिण अफ्रीका और मौरिशस की भाँति हिन्दुओं की दशा यहाँ भी अच्छी न थी। उनकी अज्ञानता, अशिक्षा और मूर्खता से लाभ उठा कर ईसाई प्रचारक उन्हें अधिकाधिक संख्या में विधर्मी बना रहे थे। २० वीं शती के प्रारम्भ

१—विदेशों में एक साल ले० स्वामी स्वतंत्रानन्द जी, पृष्ठ ८९

२—वही, पृष्ठ ८६

में उनकी दशा बड़ी दयनीय थी। यदि आर्यसमाज का प्रकाश ऐसे समय वहाँ न पहुँचता तो फीजी द्वीप से हिंदू संस्कृत, आर्य सभ्यता और हिंदी भाषा का समूलोच्छेदन हो जाता।

आर्यसमाज की स्थापना

सन् १९०४ ई० में सबसे पूर्व सामाबूला नामक स्थान पर आर्यसमाज की स्थापना हुई। सन् १९१२ ई० से फीजी के हिन्दुओं ने अपने त्योहारों का मनाना प्रारम्भ किया। सन् १९१३ ई० में सरकार ने राजद्रोह के अपराध में आर्यसमाज के कागज पत्रों को जब्त कर लिया परन्तु प्रमाण न मिलने से सब पत्रादि पुनः दे दिये। कुछ आर्योपदेशकों के पहुँचने से फीजी में आर्यसमाज की प्रगति तीव्र हो गई। अनेक स्थानों पर नये आर्य समाजों की स्थापना हुई। सन् १९१६ ई० में सूबा और द्रासा नामक स्थानों पर आर्य सम्मेलन हुए और पाठशाला संचालनार्थ धन एकत्र हुआ। इसी वर्ष आर्य प्रतिनिधि सभा की भी स्थापना हुई।

आर्य प्रचारक और हिंदी

प्रारंभ में सन् १९१३ ई० में स्वामी राममनोहरानन्द ने फीजी में आर्यसमाज का अच्छा कार्य किया। तत्पश्चात सन् १९१९ ई० से आर्यसमाज के जो प्रचारक वहाँ गये उन्होंने आर्यसमाज की नींव दृढ़ की। गुरुकुल वृन्दावन के अध्यापक पं० गोपेन्द्र नारायण जी का कार्य अनेक मार्गीय रहा है। उन्होंने समाप्तप्राय गुरुकुल की नींव दृढ़ की, आर्य-समाज को संगठित किया और अनेक बालक बालिकाओं को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के हेतु गुरुकुल, डी० ए० बी० कालेज और कन्या महाविद्यालय जालंधर आदि शिक्षणालयों में भेजा। "गोपेन्द्र जी के ही उद्योग से पं० श्री कृष्ण शर्मा आर्य मिश्नरी, पं० अमीचन्द्र विद्यालंकार, ठाकुर कुन्दन सिंह, श्री सरदार सिंह आदि प्रचारकों ने भारत से वहाँ जाकर प्रवासी हिंदुओं के सुधार और उद्धार के कार्य में पर्याप्त परिश्रम किया। श्री मेहता जैमिनि जी ने भी अपने उपदेशों से प्रवासी भारतीयों को लाभ पहुँचाया।"[1]

स्त्री प्रचारिकाओं में पं० अमीचन्द्र जी की धर्मपत्नी श्रीमती सर्वती देवी जी तथा ठाकुर सरदार सिंह जी की धर्मपत्नी श्रीमती दयावती देवी जी का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्रीमती सर्वती देवी जी ने स्त्री समाज की स्थापना की इसके अतिरिक्त वे हवन और सत्यार्थप्रकाश का पाठ भी करती थीं। अतः उपर्युक्त आर्य स्त्री पुरुषों द्वारा हिंदी का प्रचार विभिन्न रूप से हुआ जिनमें व्याख्यान, अध्यापन और सत्यार्थप्रकाश का पाठ आदि सुनाना सभी कार्य सम्मिलित हैं।

संस्थायें और हिंदी

फीजी में अनेक आर्यसमाजों ने विशाल मन्दिर बनवा कर अपनी संस्था को स्थायित्व प्रदान किया है जिनमें मुख्यतः सूबा तुराकी, नौसोरी, नान्दी आदि आर्य समाजों

१—नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, विदेशों में वैदिक धर्म प्रचार, ले० भवानी दयाल संयासी, पृ० २५५

के मन्दिर हैं। कतिपय आर्यसमाजों के अन्तर्गत कन्या पाठशालायें सफलतापूर्वक चल रही हैं जिनमें सामाबूला, विर्शशी, सूवा, रगरग आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन संस्थाओं द्वारा हिंदी का प्रसार हो रहा है।

फिजी में भी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को जनता का सहयोग मिला। सन् १९२९ ई० में एक महोत्सव के अनन्तर गुरुकुल नसोवा की स्थापना हुई। प्रारम्भ में इसके आचार्य श्री गोपेन्द्र नारायण जी थे। उन्होंने यहाँ का कार्य संचालन बड़े यत्नपूर्वक किया। गुरुकुल का वार्षिक व्यय १०००० रु० है।

पत्र

पं० श्रीकृष्ण शर्मा तथा पं० विष्णुदत्त जी के सहयोग से फीजी में "वैदिक संदेश" नाम का एक पत्र भी निकला जो कुछ दिनों के पश्चात बन्द हो गया।

डच गायना (सुरीनाम)

प्रारम्भिक दशा

दक्षिण अमेरिका के उत्तर में तथा फ्रेंच और ब्रिटिश गायना के मध्य में यह प्रदेश स्थित है। पारामारीबों डच गायना की राजधानी है। सबसे प्रथम सन् १८७३ ई० में भारतीय मजदूर यहाँ आये और सन् १९१२ ई० तक वे आते रहे। अन्य उपनिवेशों की भाँति यहाँ भी हिन्दुओं की दशा अच्छी न थी। यह स्थान अन्य उपनिवेशों की अपेक्षा भारतवर्ष से अत्यंत दूर है अतः भारतीयों के निकट सम्पर्क में यह न आ सका परिणाम-स्वरूप भारत से भी इसका सम्बन्ध टूट सा गया। हिंदुओं की अज्ञानता से ईसाइयों ने पूर्ण लाभ उठाया और हिंदुओं को अधिक संख्या में ईसाई बनाया। समस्त पठित वर्ग ईसाई मत स्वीकार कर चुका था सन् १९२६ ई० से सुरीनाम वासियों को "सत्यार्थप्रकाश" मँगा कर पढ़ने का अवसर मिला जिसके अध्ययन से उनमें बड़ा परिवर्तन हुआ।

आर्य प्रचारक और संस्थायें

जब "सत्यार्थ प्रकाश" के अध्ययन से कुछ जागृति उत्पन्न होने लगी थी तभी सन् १९२९ ई० में श्री मेहता जेमिनी जी वहाँ पहुँचे और एक सप्ताह तक प्रचार करके ब्रिटिश गायना चले गये। मेहता जी के पश्चात श्री पं० अयोध्याप्रसाद जी ने प्रचार किया। पं० जी के व्याख्यानों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा और पारामारीबो में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। पं० भवानीदयाल जी सन्यासी ने लिखा है "श्रीमती महादेवी जी पर पं० अयोध्याप्रसाद के व्याख्यानों का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अकेले ही अठारह बीस हजार रुपये खर्च करके आर्य मन्दिर बनवा दिया।"[१] पं० सत्याचरण शास्त्री ने भी वहाँ अच्छा प्रचार किया। आर्य प्रतिनिधि सभा सुरीनाम के अन्तर्गत सन् १९३३ ई० तक १४ आर्यसमाज कार्य कर रहे थे।

---

१ —नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, विदेशों में वैदिक धर्म प्रचार, ले० भवानी दयाल सन्यासी पृष्ठ २५९

हिन्दी कार्य

सुरीनाम में भी आर्य सज्जनों ने हिन्दी प्रचार का कार्य किया सबसे पूर्व "श्री शीतल-प्रसाद दुबे ने वहाँ के कुछ उत्साही कार्यकर्ताओं के सहयोग से "भारतोदय" नाम की एक सभा बनाई और हिन्दी में एक अखबार भी निकाला जो दो चार अंक के बाद बंद हो गया।"[१] यह सब प्रयत्न वस्तुतः आर्यसमाज के प्रचार के कारण था। इस प्रकार शनैः शनैः हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा। पं० गिरजादयाल जी शर्मा ने वैदिक संस्कारों के प्रचलित करने में स्तुत्य कार्य किया है। इन संस्कारों पर हिन्दी व्याख्यान द्वारा उपस्थित व्यक्तियों को प्रभावित करने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है और संस्कार के साथ ही साथ हिन्दी का भी प्रचार हो जाता है। आर्यसमाजियों की प्रगति देखकर कुछ सनातन धर्मी भी वहाँ पहुँच गये हैं। यद्यपि उन्हें खंडन में सफलता नहीं मिली परन्तु इस प्रकार हिन्दी की सेवा तो हो ही गई जो उनके प्रचार का माध्यम है।

ट्रिनिडाड

प्रारम्भिक दशा

ट्रिनिडाड का उपनिवेश ब्रिटिश गायना के निकट ही है। यहाँ के भारतीयों की संख्या लगभग डेढ़ लाख है। सन् १८४५ ई० में शर्तबन्द मजदूर सर्वप्रथम इस क्षेत्र में आये। उनकी अवनति दिन प्रतिदिन होती गई यहाँ तक कि भारतीयों के घर में हिन्दी के स्थान पर अँग्रेजी बोली जाने लगी। बच्चे और स्त्रियाँ सभी विदेशी भाषा को अपनाने लगीं। नाच रंग और मदिरा पान में लिप्त होकर उन्होंने विदेशी संस्कृति अपना ली। पठित व्यक्ति लगभग सभी ईसाई हो जाते थे।

आर्य प्रचारक संस्थायें और हिन्दी-कार्य

श्री मेहता जैमिनि जी सन् १९२८ ई० में यहाँ आये और उन्होंने अनेक व्याख्यान अँग्रेजी और हिन्दी में दिये जिसका वहाँ की जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसके पश्चात पं० गिरजादयाल जी ने वहाँ प्रचार किया। सन् १९३४ ई० में पं० अयोध्याप्रसाद जी का आगमन हुआ उनके व्याख्यानों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। "लगभग डेढ़ हजार मनुष्य आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए। छगुआनस, प्रिंसेज टाउन, सेंट जोसेफ आदि नगरों में आर्यसमाज की स्थापना हुई। छगुआनस को प्रचार का केन्द्र बनाया गया। यहाँ समाज मन्दिर भी बना। नवदीक्षित आर्यों ने इस मंदिर के निर्माण में जिस त्याग और तत्परता का परिचय दिया वह आर्यसमाज के प्रति उनके प्रेम का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है।"[२] पं० अयोध्या प्रसाद जी के स्वदेश चले आने के पश्चात् योग्य प्रचारक के अभाव से आर्यसमाज की उन्नति में बाधा पहुँची।

१—वही, पृष्ठ २५९

२—नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, विदेशों में वैदिक धर्म प्रचार, ले० भवानी दयाल सन्यासी, पृष्ठ २५८

आर्यसमाज द्वारा हिन्दी का भी कुछ कार्य हुआ है। ट्रिनिडाड के पंडित रामेश्वर मिश्र जी वैदिक सभ्यता के प्रेमी हैं "आपकी पुत्री कुमारी सूर्यदेवी जी ट्रिनिडाड में हिंदी-प्रचार का सराहनीय उद्योग कर रही हैं।"[1]

ब्रिटिश गायना

प्रारम्भिक दशा और संस्थायें

दक्षिण अमेरिका के उत्तर में यह प्रदेश डच गायना के पश्चिम में है। इसकी राजधानी और बन्दरगाह जार्जटाउन है। यहाँ भी भारतीय मजदूर के रूप में आये और अपनी संस्कृति और सभ्यता से हाथ धो बैठे। यहाँ आर्यसमाज की स्थापना २५ अप्रैल सन् १९२८ ई० में हुई। इसके अतिरिक्त सात अन्य स्थानों पर भी आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी है।

हिन्दी-कार्य

पं० चन्द्र शेखर जी और लक्ष्मणप्रसाद जी यहाँ आर्यसमाज के प्रचार का कार्य करते रहे हैं। इन सज्जनों ने हिन्दुओं में हिन्दी-प्रचार का भी कार्य किया। मेहता जैमिनि जी जब प्रचारार्थ आये थे तो उन्होंने एक नागरी पाठशाला का उद्घाटन भी किया था। भाई परमानन्द जी के भी अनेक व्याख्यान हुए जिससे जनता में कुछ जागृति उत्पन्न हुई। पं० गिरजादयाल जी यहाँ बराबर प्रचार करते रहे हैं।

इसके अतिरिक्त वर्मा, बैंकाक, सिंगापुर, बगदाद, ईराक एवं अन्य अनेक स्थानों पर आर्य समाज स्थापित हैं और वहाँ धर्म-प्रचार तथा अधिवेशन आदि होते रहते हैं परन्तु हिन्दी का कोई विशेष कार्य न होने से उनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

लंदन

संसार के सबसे बड़े नगर लन्दन में यद्यपि अनेक प्रचारक गये थे परन्तु नियमानुसार आर्यसमाज स्थापित न हो सका। गत ८ नवम्बर सन् १९५४ ई० को प्रसिद्ध आर्य प्रचारक ब्रह्मचारी उषर्बुध जी के प्रयत्न से कैक्सटन (caxton) हाल में एक सार्वजनिक सभा के पश्चात नियमानुसार आर्यसमाज की स्थापना हुई है।[2] आर्य समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिये तो अभी धन जन और समय की आवश्यकता है अतः हिन्दी प्रचार की आशा अभी करना उचित नहीं।

१—विदेशों में आर्यसमाज, प्र० सार्वदेशिक सभा, पृष्ठ ६५

२—आर्यमित्र ५ दिसंबर सन् १९५४, पृष्ठ ९।

९

आर्यसमाज और हिन्दी-प्रसार

हण्टर कमीशन और हिन्दी-प्रसार हेतु स्वामी जी के प्रयत्न

स्वामी जी ने हिन्दी प्रचारार्थ जो कार्य किया है उसका विवरण द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है। उन्होंने हिन्दी में व्याख्यान देने, पुस्तकें लिखने, आर्यसमाज के सदस्यों को हिन्दी पठन-पाठन अनिवार्य करने एवं हिन्दी-समाचार पत्रों को प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। सन् १८८२ ई० में भारतीय स्कूलों में भाषा पढ़ाने के निश्चयार्थ कलकत्ते में एक कमीशन बैठा। इसके अध्यक्ष मिस्टर डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर थे। "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" में दिये हुये विवरण के अनुसार मुल्तान आर्यसमाज के मंत्री मास्टर दयाराम ने स्वामी जी के पास १९ मार्च सन् १८८२ ई० को एक पत्र भेजा था। इस पत्र में मंत्री जी ने स्वामी जी से प्रार्थना की थी कि वे अन्य भारतवर्षीय समाजों की पाठशालाओं में आर्यभाषा पढ़ाई जाने के विषय में कमीशन के पास पत्र भेजने की प्रेरणा करें। स्वामी जी ने मंत्री जी के पत्र के पृष्ठ पर निम्नलिखित लेख लिखकर फर्रुखाबाद भेजा जिससे उक्त समाज द्वारा अन्य सभी आर्यसमाजों को सूचना दी जा सके।

"यह बात बहुत उत्तम है क्योंकि अभी कलकत्ते में इस विषय की सभा हो रही है। इसलिये जहाँ तक बने वहाँ शीघ्र संस्कृत और मध्य देश की भाषा के प्रचार के वास्ते, बहुत प्रधान पुरुषों की सही कराके कलकत्ते की सभा में भेज दीजिये और भिजवा दीजिये। और मेरठ और देहरादून के पूर्व २ समाजों में पत्र इस विषय के शीघ्रतर भेज दीजिये।"[1]

मध्य देश की भाषा से स्वामी जी का अर्थ हिन्दी से है। वे केवल इतने लेख से ही शान्त नहीं हो गये अपितु फर्रुखाबाद के एक विशिष्ट व्यक्ति बाबू दुर्गाप्रसाद जी को उन्होंने पुनः लिखा :—

"........दूसरी अति शोक करने की बात है कि आजकल सर्वत्र अपनी आर्यभाषा के राज-कार्य में प्रवृत्ति होने के अर्थ (भाषा के प्रचारार्थ जो कमीशन हुआ है) उसमें पंजाब हाथा आदि से जो मेमोरियल भेजे गये हैं। परन्तु मध्यप्रान्त, फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस

१—'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन', पृष्ठ ३१८।

आदि स्थानों से नहीं भेजे गये। ऐसा ज्ञात हुआ है। और गत दिवस नैनीताल की सभा की ओर से एक इसी विषय में पत्र आया था। उसके अवलोकन से निश्चय हुआ कि पश्चिमोत्तर देश से मेमोरियल नहीं गये और हमको लिखा है कि आप इस विषय में प्रयत्न कीजिये। अब कहिये हम अकेले सर्वत्र कैसे घूम सकते हैं। जो यही एक काम हो तो कुछ चिन्ता नहीं। इसलिये आपको अति उचित है कि मध्य देश में सर्वत्र पत्र भेजकर बनारस आदि स्थानों से और जहाँ जहाँ परिचय हो सब नगर व ग्रामों से मेमोरियल भिजवाइये। यह काम एक के करने का नहीं। और अवसर चूके वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य सिद्ध हुआ तो आशा है कि मुख्य सुधार की एक नींव पड़ जावेगी! आप स्वयं बुद्धिमान हैं। इसलिये विशेष लिखना आवश्यक नहीं........."[1]

उपर्युक्त पत्र से ज्ञात होता है कि स्वामी जी आर्यसमाजियों के प्रमाद से खिन्न थे और स्वयं व्याख्यान, शास्त्रार्थ, वेद-भाष्य आदि कार्यों में संलग्न होते हुये भी हिन्दी-प्रचार-हेतु सतर्क थे और एतदर्थ आर्य सदस्यों को चेतावनी भी देते रहते थे।

हण्टर कमीशन और आर्यसमाजों के प्रयत्न

मेरठ, मुलतान, लाहौर, फर्रुखाबाद, लखनऊ एवं तत्कालीन अन्य अनेक आर्यसमाजों ने कमीशन के अध्यक्ष हंटर महोदय के पास पत्र भेजे और कमीशन द्वारा प्रकाशित प्रश्नावलियों के उत्तर भी दिये। आर्यसमाज की ओर से सदैव यही पक्ष लिया गया कि भारतवर्ष के विद्यालयों में शिक्षा-माध्यम का अधिकार एक मात्र हिंदी भाषा को ही है। लखनऊ आर्यसमाज की ओर से हंटर महोदय को एक विस्तृत पत्र लिखा गया। १९ जुलाई सन् १८८२ ई० के पत्र में जौनपुर के कलक्टर मिस्टर जी० ई० वार्ड ने पत्र प्राप्ति की स्वीकृति दी और आर्यसमाज के विषय में विशेष रूप से जानना चाहा एवं विभिन्न कक्षाओं में पढ़ाने योग्य पुस्तकों की सूची भी मांगी। प्रत्युत्तर में उन्हें आर्यसमाज के संस्थापक का नाम और उसका उद्देश्य बताया गया और विभिन्न कक्षाओं की ७१ पाठ्य पुस्तकों के नाम भी भेजे गये। हंटर महोदय को लिखे गये विस्तृत पत्र में हिंदी को शिक्षा-माध्यम बनाने के हेतु निम्नलिखित महत्व पूर्ण बात भी लिखी थी :

"The first thing which naturally suggests itself in answering these questions is the consideration of the language which is to be adopted as the medium of instruction. our conviction is that no language is more fitted to impart primary education to a people than their own vernacular and we believe this conviction of ours is not unfounded, for no lauguage can be so easily imparted or acquired or turned to so much account in the daily concern of life. Instructions in such a language takes its roots more easily in the minds

१—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३५५

of men as being sown on a soil more congenial to its growth. Further it is attended with less cost and has the advantage of being generally acceptable."[1]

अर्थात् "इन प्रश्नों के उत्तर देने में स्वभावतः यह विचारणीय है कि शिक्षा-माध्यम क्या बनाया जाय। हमारा दृढ़ विश्वास है कि देश-भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा प्रारम्भिक शिक्षा देने के योग्य नहीं है। हमारा यह विश्वास निराधार नहीं है क्योंकि अन्य कोई भी भाषा न सरलता से सिखाई जा सकती है न ग्रहण की जा सकती है और न ही प्रतिदिन के व्यवहार में लाई जा सकती है। देश-भाषा में निर्देश मनुष्यों के मस्तिष्क में शीघ्र ही जड़ जमा लेती है क्योंकि विचार ऐसी ही अनुकूल स्थिति में पनप सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह अल्पव्यय साध्य और सर्वमान्य है।"

उत्तर भारत में स्थापित निम्नलिखित आर्यसमाजों के नाम भी कमीशन के पास भेजे गये थे जिससे आर्यसमाज की व्यापकता और सामूहिक प्रयत्न का प्रभाव पड़े :

पेशावर, झेलम, रावलपिंडी, गुजरात, मुलतान, गुजरांवाला, गुरदासपुर, लाहौर, अमृतसर, फीरोजपुर, शिमला, सहारनपुर, रुड़की, देहरादून, आगरा, मेरठ, फर्रुखाबाद, मुरादाबाद, कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ, दानापुर, बम्बई, अजमेर, नरसिंहपुर, बदायूं, बिलासपुर, मथुरा, सीतापुर।[2]

इस प्रकार आर्यसमाज अपनी स्थापना के प्रारंभिक काल से ही हिन्दी प्रसारार्थ कटिबद्ध रहा। व्यक्तिगत रूप से कार्य करने के अतिरिक्त राजकीय क्षेत्रों में भी एतदर्थ आन्दोलन किया एवं अन्य भारतीय हिन्दी-प्रचार संस्थाओं को भी सहायता दी।

आर्यसमाज द्वारा दक्षिण में हिन्दी-प्रसार

स्वामी श्रद्धानंद जी द्वारा दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रसार का प्रयत्न

दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रसार का कार्य सर्वप्रथम महात्मा गांधी जी की प्रेरणा और योजना द्वारा प्रारम्भ हुआ। पूज्य महात्मा जी ने दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की स्थापना सन् १९१८ ई० में की। तब से दिन प्रतिदिन उन्नति करते हुये आज सभा वर्तमान उत्कर्ष को प्राप्त हुई है।

आर्यसमाज ने जो हिन्दी-प्रचार कार्य दक्षिण भारत में किया उसका श्रीगणेश पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रोत्साहन द्वारा सन् १९२० ई० में हुआ। स्वामी जी का मुख्य उद्देश्य वैदिक-धर्म-प्रचार अस्पृश्यता-निवारण और हिन्दी-भाषा का प्रचार करना था। स्वामी जी का कथन था कि 'हिन्दी-प्रचार वैदिक धर्म को सर्वसाधारण में फैलाने का पहला साधन है। इसलिये मैं धर्मप्रचार के साथ इस पर भी अधिक बल दे रहा हूँ।"[3]

१—आर्यसमाज गणेशगंज लखनऊ का इतिहास, पृष्ठ २८

२—वही, पृष्ठ ३५

३—स्वामी श्रद्धानन्द' ले० सत्यदेव विद्यालंकार पृष्ठ ५६६-६७

हिन्दी और वैदिक धर्म प्रचारार्थ स्वामी जी ने एक स्थायी और निरंतर कार्य संचालित रखने की योजना बनाई। इस हेतु उन्होंने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से दस सहस्त्र रुपयों की अपील की और गुरुकुल के दो स्नातकों श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और श्री देवेश्वर सिद्धान्तालंकार को मद्रास भेजा उक्त दोनों सुयोग्य स्नातकों ने दो वर्ष तक वैदिक धर्म और हिन्दी का प्रचार किया एवं "दयानन्द ब्रह्मचर्य आश्रम" नामक एक संस्था भी स्थापित की। मैसूर में स्वामी जी ने पंडित भीमसेन जी विद्यालंकार और पंडित गोपालदत्त शास्त्री को प्रचारार्थ भेजा इसके अतिरिक्त वे गुरुकुल के स्नातकों और उपस्नातकों को दक्षिण भारत में हिन्दीभाषा और वैदिकधर्म प्रचारार्थ सदैव ही प्रेरित करते रहते थे फलतः पंडित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति और पंडित केशवदेव जी ज्ञानी ने मद्रास प्रान्त में इस शुभ कार्य हेतु पर्याप्त काल तक सपत्नीक निवास किया। सन् १९२४ ई० में स्वामी जी ने स्वयं मद्रास प्रान्त का दौरा किया और कालीकट, मंगलौर, मदुरा, वेजवाडा, गुडीवाडा आदि स्थानों पर व्याख्यान दिया जिसका वहाँ की जनता पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा।

आर्य प्रचारकों द्वारा दक्षिण के विभिन्न स्थानों में हिन्दी-प्रसार

केरल हिन्दी महाविद्यालय कोट्टयम के प्रधानाचार्य श्री पंडित नारायणदेव जी के पत्र से ज्ञात हुआ कि केरल प्रान्त में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की ओर से सर्वप्रथम हिन्दी-प्रचार का कार्य सन् १९२३ ई० में प्रारम्भ हुआ और उसी समय केरल देशीय श्री एम० के० अमोदान अण्णी जी ने हिन्दी का प्रचार किया जो आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्था महाविद्यालय ज्वालापुर से हिन्दी और संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करके आये थे। उन्होंने आर्यसमाज का महासंदेश अपने प्रान्तवासियों को सुनाया और अनेक वर्षों तक हिन्दी का प्रचार किया। सन् १९५१ ई० में अण्णी जी के देहान्त के पश्चात उनके योग्य शिष्य विद्याभास्कर पंडित पद्मनाथ जी शास्त्री ने तीन वर्ष तक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से कोट्टयम में वैदिक धर्म और हिन्दी का प्रचार किया। आर्य प्रादेशिक सभा की ओर से भी कालीकट तथा त्रिवेन्ड्रम में आर्यभाषा तथा आर्यसमाज का प्रचार हुआ। कालीकट में श्री बुद्धसिंह जी अब भी कार्य कर रहे हैं।

सन् १९३४ ई० में उत्तर भारत के लाहौर नगर से लौटकर पंडित नारायण देव जी कोट्टयम आये उसी वर्ष "श्री श्रद्धानन्द हिन्दी महाविद्यालय" की स्थापना हुई (यह संस्था अभी चल रही है) इस संस्था ने अद्यावधि प्राथमिक से लेकर विशारद तक साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के लिये सैकड़ों विद्यार्थियों को तैयार कराया। और यहाँ के उत्तीर्ण विद्यार्थी केरल के विभिन्न विद्यालयों और महाविद्यालयों में शिक्षण कार्य कर रहे हैं। पंडित नारायणदत्तजी सिद्धान्त भूषण ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से कई वर्ष तक चेंगनूर और कोट्टयम में हिन्दी भाषा का प्रचार एवं आर्यसमाज के सिद्धान्तों का उपदेश दिया। इन स्थानों के महा विद्यालयों में उन्होंने शिक्षण का कार्य भी किया। तत्पश्चात् केरल प्रान्तीय हिंदी-प्रचार सभा की ओर से हिंदी-प्रचार संगठन कर्ता के रूप में कार्य करने लगे। श्री इन्द्रदेव जी चेंगनूर केन्द्र में आर्यसमाज और हिन्दी-प्रचार का कार्य कर रहे हैं।

पंडित चन्द्रकान्त जी मुदालियर आर्यसमाज के प्रसिद्ध कार्यकर्ता और हिन्दी के

प्रचारक हैं। आपने दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय लाहौर में अध्ययन किया तत्पश्चात प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ एवं वैयाकरण पंडित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के आश्रम में रहकर संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य का विशेष अध्ययन किया। मुदालियर जी के सूचनानुसार मद्रास में आर्य समाज के दो विद्यालय चल रहे हैं जिनमें प्रारम्भ से हिन्दी पढ़ाई जाती है। इसके अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा की भी व्यवस्था है। पंडित सोमदेव जी सिद्धान्तभूषण हिन्दू कालेज नगरकोल में हिन्दी के प्राध्यापक हैं और हिन्दी एवं आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। श्री अनन्तकृष्ण सिद्धान्त भूषण और मंजुनाथ जी बंगलोर में हिन्दी-प्रचार का कार्य कर रहे हैं। श्री गोविन्दप्रसाद जी सिद्धान्तभूषण की अध्यक्षता में हुबली में एक हिन्दी-विद्यालय चल रहा है।

श्री चन्द्रकान्त जी ने हिन्दी शिष्टमंडल के साथ तथा दक्षिण में भ्रमण किया और हिन्दी प्रचारार्थ यथेष्ट श्रम किया। शिष्ट-मंडल में श्री चन्द्रवली पांडे, कुमारी कंचनलता, पं० रामनारायण मिश्र बाबा राघवदास आदि सम्मान्य व्यक्ति सम्मिलित थे।[1]

मद्रास, आन्ध्र, कर्नाटक, केरल आदि दक्षिण प्रदेशों में उत्तर भारत की भाँति प्रत्येक नगर में आर्यसमाज की स्थापना और साप्ताहिक संगठन न होने के कारण दक्षिण की कोई प्रतिनिधि सभा न बन सकी। समय समय पर कतिपय प्रचारक गये और जागृति उत्पन्न करके लौट आये। कुछ प्रचारक वहाँ अनेक वर्षों के लिये बस भी गये परन्तु सामूहिक संगठन का अभाव बना ही रहा। वहाँ के निवासी जब तक हिन्दी-भाषा और आर्यसमाज के सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट होकर स्वावलम्बन और आत्म निर्भरता का पाठ नहीं पढ़ते तब तक सामूहिक संगठन संभव नहीं। दक्षिण के जो विद्यार्थी उत्तर भारत में अध्ययन के हेतु आये और आर्यसमाज के सम्पर्क में रहे उन्होंने अवश्यमेव कुछ कार्य किया है परन्तु उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। इसके अतिरिक्त अनेक कार्यकर्ता दक्षिण में आर्यसमाज के सामूहिक संगठन का अभाव देखकर "दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार सभा" में सम्मिलित हो गये और इस प्रकार हिंदी-प्रचार का कार्य संचालित रक्खा। अतः आर्यसमाज ने जो कुछ भी कार्य किया वह अनुपेक्षणीय नहीं है और विशेषता यह है कि आर्य प्रचारकों ने हिंदी को उर्दू का वस्त्र पहना कर कभी हिंदुस्तानी रूप नहीं दिया और हिंदी की शुद्धता में आँच नहीं आने दी।

आर्यसमाज और पंजाब में हिन्दी-प्रसार

आर्यसमाज के पूर्व पंजाब में हिन्दी की दशा

भाषा और इतिहास की दृष्टि से अन्य प्रान्तों की अपेक्षा पंजाब का विशेष महत्व है। अंग्रेजों के पूर्व सभी विदेशी जातियां पंजाब से होकर भारत में प्रविष्ट हुईं। कुछ मुसलमान शासकों ने तो भारत पर समय समय पर आक्रमण करने के हेतु पंजाब को अपने अधिकार में रक्खा जिससे आक्रमण काल में पंजाब में उलझना न पड़े। अतः यह स्पष्ट है

१—श्री चन्द्रकान्त जी मुदालियर के पत्र के आधार पर

कि पंजाब जिसने अद्यावधि विदेशी आक्रमणकारियों की चोट सही कितने ही अंशों में उनसे प्रभावित हुआ। पंजाबियों की वेशभूषा और भाषा अधिकांश में मुसलमानो से प्रभावित है। वहाँ के हिंदू अपनी संस्कृति और सभ्यता भूलते जा रहे थे और उन्होंने नमाज पढ़ना और रोजा रखना प्रारंभ कर दिया था। प्रत्येक हिंदू अनिवार्य रूप से उर्दू पढ़ता था क्योंकि अंग्रेजी शासनकाल में भी अंग्रेजी के अतिरिक्त न्यायालयों एवं अन्य कार्यालयों में उर्दू में ही कार्य संचालन होता था। अतः जीविकोपार्जन हेतु पुरुषों को उर्दू पढ़ना आवश्यक ही था। स्त्रियों में और धार्मिक क्षेत्र में हिंदी का प्रचलन था परन्तु जीविका का सम्बन्ध इन क्षेत्रों से न होने के कारण समाज में हिंदी तिरस्कृत सी ही थी। इस प्रकार पंजाब में हिंदी के विरुद्ध वातावरण छाया हुआ था। श्री रघुनन्दन शास्त्री ने लिखा है।

"हिंदी की अपील केवल भावुकता के नाम पर है। वह देश, धर्म और संस्कृति के नाम पर ही भीख माँगती सी दिखाई देती है। आजकल के पश्चिमी रंग में रंगे हुये साधारण कारोबार में उसका कोई काम नहीं पड़ता। उसके ज्ञान के बिना जीवन-यात्रा में कोई कमी प्रतीत नहीं होती। न तो यह पंजाबी के समान हमें "माँ के दूध" के साथ मिलती है और न अंग्रेजी के समान "प्रभुभाषा" होने के कारण यह हमें अनिवार्य रूप में पढ़नी पड़ती है। उर्दू के समान इसे राजाश्रय भी प्राप्त नहीं। स्थिति यह है कि पंजाब का शिक्षित उत्तम वर्ग इससे यों ही उपरत है और साधारण मध्य वर्ग इससे अनभिज्ञ। यहाँ का व्यापारी-वर्ग अपनी स्थानीय व्यापारी लिपि का प्रयोग करता है और हिन्दी के प्रति पूर्ण उदासीन है। देश भक्ति में अग्रगण्य कांग्रेस (पंजाब प्रान्तीय) तो भूलकर भी हिन्दी का नाम नहीं लेती। ऐसी अवस्था में यह कहना अनुचित न होगा कि पंजाब में हिन्दी का प्रासाद धर्म-प्रेम तथा भावुकता की बालुकामय नींव पर अवस्थित है जो जीवन की ठोस आवश्यकताओं की हलकी सी आँधी से भी कंपायमान हो उठता है।"[1]

क्या पंजाब अहिन्दी प्रान्त है

कुछ विद्वानों का मत है कि पंजाब अहिंदी प्रान्त नहीं है क्योंकि प्राचीनकाल से पंजाब की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही रही है और उसका प्रयोग श्री गुरु नानक देव, श्री गुरु तेगबहादुर और श्री गुरु गोविन्द सिंह एवं अनेक पंजाब के प्रसिद्ध कवि बराबर करते आये हैं।"········इसके अतिरिक्त आधुनिक पंजाब के दक्षिण पूर्वी भाग करनाल, रोहतक, हिसार, अम्बाला आदि जिलों और कलसिया पटियाला, नाभा एवं झींद आदि रियासतों के पूर्वी भागों की तो साधारण बोलचाल की भाषा भी एक प्रकार से हिन्दी ही है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदानों में भी हिन्दी ही बोली जाती है········"[2] इतना होते हुये भी मुसलमानों के आधिक्य से पंजाब में उर्दू की

१--"पंजाब में हिन्दी की प्रगति" ले० श्री रघुनन्दन शास्त्री एम. ए. एम. ओ. एल पृष्ठ ५१-५२

२—वही, पृष्ठ ६-७

प्रमुखता रही है। सिक्खों के प्रयत्न से कुछ क्षेत्र में पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि ने भी अपना स्थान बनाया अँग्रेजी तो राजभाषा ही थी। अतः हिंदी को जो गौणता प्राप्त है उसे दृष्टि में रखते हुये पंजाब को हिन्दी भाषी प्रान्त कहना कठिन है।

श्री रघुनन्दन शास्त्री ने स्वीकार किया है और लिखा है "अब हमें यह देखना है कि जब से हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का उद्योग आरम्भ हुआ तब से अब तक पंजाब में हिन्दी की क्या दशा रही। भारतवर्ष में इसका सर्वप्रथम उद्योग एक ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने और दूसरी ओर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने आरम्भ किया था। पंजाब में भी इसका श्री गणेश स्वामी जी के द्वारा ही हुआ।"[3]

अतः यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज ने ही पंजाब में हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। यद्यपि अन्य संस्थाओं ने भी हिन्दी प्रचारार्थ आर्यसमाज का अनुगमन किया परन्तु आर्यसमाज के कार्य स्रोत अनेक होने के कारण पंजाब में हिंदी को व्यापकत्व इसी संस्था द्वारा प्राप्त हुआ।

पंजाब में आर्यसमाज द्वारा हिन्दी-कार्य

पंजाब में आर्यसमाज द्वारा हिन्दी-प्रचार के अनेक रूप हैं। आर्यसमाज के उपनियम में प्रत्येक सदस्य के लिये हिन्दी का पठन और लेखन अनिवार्य किये जाने पर यहाँ के आर्यों ने इस नियम का स्वागत किया एवं एतदर्थ उन्होंने तन, मन, धन से हिन्दी की सेवा की। प्रत्येक आर्यसमाज अपना कार्य हिन्दी में करने लगा हिन्दी में भाषण, लेखन और शास्त्रार्थ होने लगे समस्त प्रान्त में एक लहर सी दौड़ गई उर्दू प्रधान प्रान्त में आर्यसमाज ने हिन्दी प्रचारार्थ विशिष्ट स्थान बना लिया।

हिन्दी-प्रचार क्षेत्र में आर्यसमाज की त्रिमूर्ति

आर्यसमाज के कतिपय सुप्रसिद्ध नेताओं ने हिन्दी प्रचारार्थ बड़ा परिश्रम किया और उन्होंने पंजाब के उर्दू वातावरण पर भीषण प्रहार किया।

(१) स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की स्थापना तो की ही जिसमें प्रारम्भ से ही उच्च शिक्षा हिन्दी में दी जाती है परन्तु इसके अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक अपूर्व कार्य किये। "सद्धर्म प्रचारक" नामक उर्दू साप्ताहिक जिसके वे संचालक एवं सम्पादक थे उसे हिन्दी में प्रकाशित करने लगे और आर्थिक हानि सहने पर भी उसे पुनः उर्दू में नहीं निकाला। स्वामी श्रद्धानन्द जी के इन कार्यों से प्रभावित होकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने उन्हें भागलपुर के चतुर्थ सम्मेलन का सभापति मनोनीत किया। सन् १९१९ ई० में कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन के स्वामी श्रद्धानन्द जी स्वागताध्यक्ष थे। उस समय उन्होंने अपना स्वागत-भाषण हिन्दी में ही पढ़ा। पंजाब में उस समय हिन्दी में भाषण पढ़ना बड़े साहस का काम था परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जैसे कर्मठ और साहसी व्यक्ति का ही यह कार्य था जिससे हिन्दी का पौधा पंजाब की भूमि पर पनप सका।

३—वही, पृष्ठ ७

(२) लाला हंसराज

द्वितीय प्रभावशाली और त्यागी व्यक्ति महात्मा हंसराज जी थे जो दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज के जन्मदाता और अवैतनिक आचार्य थे और जिन्होंने पंजाब में हिंदी की जड़ जमाने में स्तुत्य प्रयत्न किया। पंजाब के हिंदी विरोधी वातावरण और सरकार के असहयोग के होते हुये भी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, उन्होंने स्कूल में हिन्दी को प्रथम भाषा नियत किया। इसके अतिरिक्त डी० ए० वी कालेज के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये हिन्दी सीखना अनिवार्य कर दिया। महात्मा जी पंजाब के आर्य प्रादेशिक सभा के प्रधान थे उन्होंने सभा के कार्यालय का कार्य हिन्दी में ही करवाया। वे प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अबोहर के सभापति भी थे।

(३) लाला देवराज

तृतीय सुप्रसिद्ध व्यक्ति लाला देवराज जी का वर्णन जालंधर कन्या महाविद्यालय के सम्बन्ध में किया जा चुका है। महाविद्यालय द्वारा तो हिंदी की सेवा हुई ही परन्तु लाला जी ने पंजाब हिंदी-प्रचार की शैशवावस्था में दर्जनों बालकोपयोगी पुस्तकों की रचनायें कीं क्योंकि विद्यालय में पढ़ाने के हेतु पाठ्य पुस्तकों का नितान्ताभाव था। लाला जी की पुस्तकें यद्यपि उच्चकोटि की साहित्यिक नहीं हैं परन्तु उनके नाटक, प्रहसन, गल्प, कविता पुस्तक एवं उपन्यास के महत्व की हिन्दी के उस प्रारंभिक काल में अवहेलना नहीं की जा सकती। लाला जी की कितनी ही पुस्तकों के तीस तीस संस्करण छप चुके हैं।

पंजाब के हिंदी-क्षेत्र के इस प्रसिद्ध त्रिमूर्ति के अतिरिक्त भी कितने ही आर्यसमाजियों ने हिन्दी की उन्नति के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न किये। इनमें लाला लाजपतराय सर बख्शी टेकचंद डा० गोकुलचंद नारंग, भाई परमानन्द, पंडित आर्यमुनि, पंडित आत्माराम, अमृतसरी, आचार्य रामदेव, पंडित चमूपति, श्री संतराम जी, पंडित भगवद्दत्त जी, कविराज जयगोपाल जी पंडित पं० विश्वबंधु शास्त्री, श्री भीमसेन विद्यालंकार, श्रीमती शन्नो देवी जी, श्री सुदर्शन जी आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

पंजाब के आर्यसमाजों और उनकी शिक्षा संस्थाओं ने हिंदी की उन्नति और प्रचार-हेतु जो कार्य किया है उसका वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है।

अन्य प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार के कार्य

अन्य अहिंदी प्रांत बम्बई, आसाम, बंगाल, गुजरात उड़ीसा आदि में अधिकांश लोग हिन्दी बोलते और समझते हैं। मराठी, गुजराती, बंगाली आदि आर्य भाषाओं के अंतर्गत होने से हिंदी के अत्यंत निकट हैं अतः उक्त-भाषा-प्रान्त-निवासी हिंदी को सरलता से ग्रहण कर सकते हैं। इन प्रांतों में स्थापित आर्यसमाजों में उपदेशादि प्रचार कार्य अधिकतर हिंदी में ही होते हैं। आर्यसमाज के अन्तर्गत शिक्षा संस्थाओं में बालक बालिकाओं को हिंदी पढ़ाई जाती है।

आसाम में हिन्दी प्रचार और पूज्य बापू का पत्र

आसाम-प्रान्त हिंदी से कुछ दूर हो जाता है परन्तु वहाँ भी आर्यप्रचारकों का ध्यान

प्रारंभ से ही रहा है। "अलंकार" के जुलाई सन् १९३४ के अंक में श्री पंडित धर्मवीर जी वेदालंकार का जो श्रद्धानन्द ट्रस्ट की ओर से बिहार में सेवाकार्य करने गये थे निम्न उद्धरण छपा है :—

मैं आसाम भ्रमण में राष्ट्र-भाषा-प्रसार कार्य से पूज्य बापू जी के साथ में था। गोहाटी में राष्ट्रभाषा प्रेमी भाइयों की एक बैठक पूज्य बापू जी की संरक्षता में हुई थी वहाँ यह निश्चय हुआ कि एक बहन और एक भाई को (आसाम प्रान्त के) हिंदी प्रान्त में हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिये भेजा जाय"

"पूज्य बापू जी की इच्छा है कि आपके गुरुकुल में इस आसामी युवक के हिंदी पढ़ाने का प्रबंध हो तो बहुत अच्छा होगा"

"बहन के बारे में मैंने विद्यावती सेठ जी को लिखा है।"

श्रीधर्म वीर जी के उद्धरण के पश्चात् सम्पादक ने अपनी टिप्पणी में लिखा था कि हिंदी की उच्च शिक्षा के लिये गांधी जी ने गुरुकुल को याद किया है। क्या यह गुरु-कुलों का सौभाग्य नहीं है ?

वास्तव में उस समय व्यापक रूप से समस्त भारत में हिंदी का प्रचार करने वाली संस्था आर्यसमाज ही थी और हिन्दी-माध्मय द्वारा उच्च शिक्षा देने का श्रेय उस सयय गुरुकुल को ही था अत: महात्मा जी को इस संस्था से आशा करना स्वाभाविक ही था।

"अलंकार के उसी अंक में "राष्ट्र भाषा प्रचार के लिए स्नातकों की आवश्यकता" शीर्षक से एक लेख भी छपा है जिसमें महात्मा गाँधी द्वारा भेजे गये निम्नलिखित पत्र का हवाला दिया है जो उन्होंने गुरुकुल के आचार्य श्री देवशर्मा "अभय" के नाम से भेजा था।

"भाई अभय

गुरुकुल कांगड़ी में ऐसे त्यागी भाषा प्रेमी विद्यार्थी नहीं मिल सकते हैं जो भाषा प्रचार को कम से कम ५ वर्ष दें ? उद्देश्य यह है कि ऐसे प्रचारकों के मार्फत आसाम इत्यादि प्रान्तों में भाषा शिक्षणालय चलाये जायँ। सेवकों को मामूली वेतन दिया जायगा। ऐसे यदि तैयार हों तो उनका परिचय बाबा राघवदास को कराया जाय। राघवदास जी इस कार्य को बना रहे हैं।"

भारत के सर्वश्रेष्ठ राजनैतिक नेता महात्मा गाँधी का आर्यसमाज और उसके प्रसिद्ध नेताओं से हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में पत्र व्यवहार यह सिद्ध करते हैं कि उस समय आर्यसमाज ही एक शिरोमणि संस्था थी जो हिन्दी प्रचार में समर्थ थी और वही संस्था यथाशक्ति देश के विभिन्न भागों में हिन्दी प्रचार का कार्य कर रही थी।

न्यायालय और हिन्दी

महात्मा मुंशीराम का प्रयत्न

३ मई सन् १९१३ ई० के "सद्धर्म प्रचारक" में महात्मा मुंशीराम (पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने संयुक्त प्रान्त के भूतपूर्व लाट सर एंटनी मैकडानल्ड को ससम्मान स्मरण

किया था जिनकी कृपा से आर्यभाषा तथा देवनागरी अक्षरों को न्यायालयों में कुछ स्थान मिला था। यद्यपि संयुक्त प्रान्त में देवनागरी अक्षरों में लिखित प्रार्थना पत्रादि लिये जाते थे तथा समन जारी होने की प्रथा भी प्रचलित कर दी गई थी परन्तु न्यायालय के अहलकारों ने मनमानी की और हिन्दी में छपे फार्म के अवशिष्ट स्थानों को उर्दू में भरने लगे। इस पर महात्मा मुंशीराम जी ने उक्त पत्र में लिखा था "यदि संयुक्तप्रान्त के विविध स्थानों से इस प्रकार के बहुत से सरकारी पत्र मेरे पास पहुँच जावें, जिनमें आर्यभाषा तथा देवनागरी लिपि के साथ ऐसी निर्दयता का बर्ताव किया गया हो तो मैं इस विषय को इस प्रान्त की कानूनी कौंसिल में पहुँचाने का प्रयत्न करूँगा। मुझे यह देखकर बड़ा शोक होता है कि बेचारी देवनागरी, जिन भारत भूषणों को अपना एकमात्र सहारा समझती है, उनकी सहानुभूति अपनी मातृभाषा के साथ कथन मात्र ही प्रतीत होती है।"

महात्मा मुंशीराम जी के उक्त लेख से यह स्पष्ट है कि न्यायालयों में हिन्दी प्रचलित करने के हेतु वे कितने प्रयत्नशील और उत्सुक थे। उन्होंने आर्यसमाज के साथ इस दिशा में यथा संभव कार्य किया। "राय साहब बाबू मदनमोहन सेठ एम. ए. जज, पं० विष्णुलाल शर्मा जज और बा० मुरारीलाल जज ऐसे ही हिन्दी प्रेमी हैं........."[1]

श्री मदनमोहन सेठ और न्यायालय में हिन्दी का प्रयोग

राय साहब बाबू मदनमोहन सेठ ने जो पुराने आर्यसमाजी थे और जिन्हें हिन्दी में कार्य करने की प्रेरणा आर्यसमाज के ही सम्पर्क से मिली, इस दिशा में बड़ी निर्भीकता और साहस से काम किया यहाँ तक कि उनके विरुद्ध एक आन्दोलन सा खड़ा हो गया।

जिस समय श्री मदनमोहन सेठ गोरखपुर में मुंसिफ नियुक्त हुए वे सदा हिन्दी के देवनागरी अक्षरों में ही साक्षियों के बयान लिखा करते थे। बदायूँ जिले के बिसौली नामक स्थान पर स्थानांतरित होने पर भी वे हिन्दी में ही बयान लिखते रहे। बदायूँ के डिस्ट्रिक्ट जज ने इस विषय को आगे बढ़ाया और तत्कालीन चीफ सिक्रेटरी महोदय को इसके स्पष्टीकरण के हेतु लिखा। अंडर सिक्रेटरी श्री स्लोन महोदय ने इस विषय को हाईकोर्ट द्वारा निर्णयार्थ भेज दिया। हाईकोर्ट के सहायक रजिस्ट्रार ने सन् १९१६ के पत्र संख्या २२१।१३२ के अनुसार बदायूँ के डिस्ट्रिक्ट जज को लिखा कि वे मुन्सिफ महोदय को एक चेतावनी सी दे दें जिससे वे भविष्य में न्यायालय के किसी साधारण कार्य-संचालन में परिवर्तन करने के पूर्व हाईकोर्ट की स्वीकृत ले लिया करें।

उक्त पत्र व्यवहार के फलस्वरूप श्री सी० वाई० चिंतामणि महोदय ने २ फरवरी सन् १९१७ ई० को कौंसिल में गवर्नमेंट से हिन्दी में बयान लिखने की अवैधानिकता पर प्रश्न किये और असन्तोषप्रद उत्तर मिलने पर एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसका आशय यह था कि भविष्य में वे ही व्यक्ति साधारण जज नियुक्त किये जायँ जो हिन्दी और उर्दू अर्थात् नागरी और फारसी दोनों ही लिपि लिख और पढ़ सकें। श्री चिन्तामणि

१—नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, लेख "राष्ट्रभाषा हिन्दी और आर्यसमाज" ले० पं० रामनारायण मिश्र, पृष्ठ १७०

महोदय के प्रस्ताव का मुसलमान सदस्यों ने विरोध किया और हिन्दी की निन्दा की। चीफ सिक्रेटरी मिस्टर बर्न ने भी उनका साथ दिया फलतः प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका।

हिंदी के विषय में यह असन्तोष जनक एवं अनिश्चित स्थिति सन् १९२२ ई० तक चलती रही जब तक कि राय सीताराम (पश्चात सर सीताराम) महोदय ने प्रश्न पूछ कर इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। श्री सीताराम जी के प्रश्न के उत्तर में कि क्या न्याय विभाग के अफसरों को अपनी इच्छानुसार हिन्दी अथवा उर्दू में बयान लिखने पर कोई रोक है? आनरेबुल सर मुहम्मद अली खान (होम मेम्बर) ने उत्तर दिया कि इस प्रकार की कोई रोक नहीं है।[1]

श्री प्रकाशवीर शास्त्री और हिन्दी

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता, उत्तर प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्तमान प्रधान एवं संसद सदस्य श्रीप्रकाशवीर शास्त्री ने व्यक्तिगत रूप से हिन्दी भाषा और लिपि के प्रसार हेतु स्तुत्य प्रयत्न किया है। देवनागरी को देश की सामान्य लिपि स्वीकार कराने के विषय में संसद में प्रस्ताव प्रस्तुत करने का उनका कार्य सराहनीय है। देश के चुने हुये विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों के सम्मुख इस प्रकार का प्रस्ताव प्रथम वार ही प्रस्तुत हुआ। विद्वान् वक्ता ने स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, श्री कृष्णस्वामी अय्यर महात्मा गाँधी, श्री नेहरू आदि नेताओं के लेखों एवं भाषणों के उद्धरण द्वारा देवनागरी लिपि की लोकप्रियता, ग्रहणशीलता एवं शुद्धता पर प्रकाश डाला और इसकी उपयोगिता सिद्ध की। यद्यपि समयाभाव वश इस प्रस्ताव पर अन्तिम रूप से विचार न हो सका परन्तु संसद भवन में इस प्रकार के प्रस्ताव और अधिकांश सदस्यों की इस विषय में सुरुचि हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के परिचायक हैं।

यह प्रस्ताव १७ मार्च सन् १९६१ को प्रस्तुत किया गया था।[2]

इसके अतिरिक्त शास्त्री महोदय ने दो और महत्वपूर्ण कार्य किये। अनेक संसद-सदस्य हिंदी जानते हुए भी हिंदी में भाषण देना आत्महीनता समझते थे शास्त्री जी ने इस विषय में नेतृत्व किया और उन्हें भी हिंदी में भाषण देने के लिये उत्साहित किया। दूसरा कार्य ११३ संसद सदस्यों से व्रत-पत्र भरवाना था। इसके अनुसार सदस्यों ने अनिवार्य परिस्थितियों को छोड़कर हिंदी में ही भाषण देने की प्रतिज्ञा की।

आर्यसमाज और हिन्दी-प्रसार के अन्य साधन

आर्यसमाज द्वारा हिंदी के आंदोलन

आर्यसमाज ने हिंदी में व्याख्यान और भजन द्वारा केवल समाज सुधार का ही काम नहीं किया अपितु हिन्दी के प्रचार, उन्नयन और साहित्य वृद्धि की ओर भी स्तुत्य

१—संयुक्त प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा का विवरण खंड ११ पृष्ठ ५ तिथि दिसम्बर, १९२२ ई० (श्री मदनमोहन जी सेठ द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर)।

२—आर्यमित्र २६ मार्च सन् १९६१ ई० पृष्ठ ७

प्रयत्न किया और समयानुसार विदेशी राज्य द्वारा हिंदी की अवहेलना पर आंदोलन भी किया। स्थानीय क्षेत्रों में हिंदी की उपेक्षा के समय वहाँ के आर्यसमाजों ने आन्दोलन किया और हिन्दी की मान-रक्षा की। पंजाब में जब डाक विभाग के अधिकारियों ने पत्रों में हिंदी में लिखे पतों के विरुद्ध आवाज उठाई और उन पत्रों के बँटने के उत्तरदायित्व से हाथ खींच लिया तो आर्यसमाज ने जनता में आन्दोलन किया और ऐसी निस्सार आज्ञाओं के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार करवा कर भी अधिकारियों के पास भेजा जिसके फलस्वरूप डाक विभाग को हिन्दी पठित व्यक्ति को रखकर हिन्दी-लिखित पत्रों को बांटने का प्रबन्ध करवाना पड़ा। श्री रामनारायण मिश्र जी ने इस विषय में लिखा है कि "हिंन्दी में लिखे पते वाले पत्र और मनीआर्डर आदि पंजाब के डाकघरों में नहीं लिये जाते थे। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने प्राँतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के द्वारा इसके विरुद्ध बड़ा भारी आन्दोलन किया था, जो अन्त में सफल हुआ और सरकार को यह आदेश निकालना पड़ा कि प्रत्येक डाकघर में हिंदी जानने वाला कम से कम एक कर्मचारी अवश्य नियुक्त हो।"[1]

हिन्दी ग्रंथ रचना का पुरस्कार एवं अन्य हिन्दी कार्य

समयानुसार हिंदी-प्रचारार्थ सुव्यवस्थित और ठोस कार्य करने के हेतु आर्यसमाज ने अनेक योजनायें निर्धारित कीं जिनमें अजमेर अर्ध शताब्दी के अवसर पर आर्यभाषा सम्मेलन में आर्य सिद्धान्तों से सबन्धित ग्रंथ-रचना पर लेखकों को पुरस्कार देने के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया :—

"इस सम्मेलन की सम्मति में वैदिक सिद्धान्त सम्बन्धी आर्यभाषा के किसी सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ पर 'दयानन्द पारितोषिक' नामक एक पारितोषिक प्रतिवर्ष दिया जाया करे। इसके लिये सार्वदेशिक सभा की अध्यक्षता में एक निधि स्थापित की जाय। इसके नियमादि का निर्णय उक्त सभा पर ही छोड़ा जाय।"[2]

इसके अतिरिक्त उच्च कोटि के मासिक और दैनिक पत्र प्रकाशित करने, देशी राज्यों में राज-काज संबंधी समस्त कार्य हिन्दी में करने, आर्यसमाजों और आर्य परिवारों में सदैव हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रयोग करने और स्वामी जी एवं अन्य आर्य विद्वानों के ग्रंथों के सुन्दर संस्करण प्रकाशित करने के सम्बन्ध में भी प्रस्ताव स्वीकृत हुये। उपर्युक्त अनेक प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर आर्यसमाज को प्राप्त हुआ।

आर्यसमाज के अंतर्गत हिन्दी प्रसार संस्थायें

संस्थानुसार हिंदी प्रसार का जो कार्य आर्यसमाज ने किया है उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ आर्यसमाज और उसकी संस्थाओं की संख्या देने से उसके व्यापक हिंदी-प्रसार-कार्य का आभास मिल जायगा जिसमें आर्यसमाज संलग्न है।

१—नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १७१

२—"सार्वदेशिक" नवम्बर सन् १९३३ ई०, पृष्ठ ३६७ ३६८

"आर्य समाजों की संख्या	२५००	
बालक गुरुकुल और महाविद्यालय	३०	
कन्या गुरुकुल और महाविद्यालय	१५	
बालक स्कूल और पाठशालायें	१५००	(इसमें ३०० हरिजन स्कूल भी सम्मिलित हैं)
कन्या स्कूल और पाठशालायें	१०००	
कालेज	१०"[1]	

इस तालिका में भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में फैली हुई संस्थायें सम्मिलित हैं और आर्यसमाज द्वारा सामूहिक हिंदी-प्रसार के प्रमाण स्वरूप हैं। जो संस्थायें अहिंदी प्रान्तों में हैं वहाँ प्रान्तीय भाषा के साथ ही हिंदी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती हैं।

जनगणना और हिन्दी

सन् १९४१ ई० की जनगणना के सम्बन्ध में सार्वदेशिक सभा ने ८ विज्ञप्तियां निकालीं २ और ४ विशेष रूप से हिंदी से सम्बन्धित हैं। इनमें निम्नलिखित विषय वर्णित है :

(२) इस विज्ञप्ति के द्वारा कोष्ठकों की पूर्ति का प्रकार बतलाया गया कि धर्म के कोष्ठक में "वैदिक धर्म" फिरके के कोष्ठक में 'आर्य' जात के कोष्ठक में 'कुछ नहीं' तथा भाषा के खाने में हिंदी लिखी जाय....."[2]

"(४) ....आर्य समाजों के मार्ग प्रदर्शन के लिये यह विज्ञप्ति निकालकर उन्हें बतलाया गया कि धर्म के कोष्ठक में "वैदिक धर्म" नस्ल कबीला जात के कोष्ठक में 'आर्य' और 'भाषा' के कोष्ठक में हिंदी लिखाई जानी चाहिये....."[3]

सन् १९४१ ई० की जन गणना के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो गई थी जिनके विषय में आर्यसमाज ने सरकार से पत्र व्यवहार किया और भ्रांतियों के निराकरणार्थ यथासाध्य प्रयत्न किया जिससे हिंदी का पक्ष पोषण हुआ। "अधिकतर प्रान्तों में सरकार की ओर से यह निश्चय किया गया था कि हिंदी और उर्दू बोलने वालों की भाषा "हिन्दुस्तानी' लिखी जाय। इस सभा (सार्वदेशिक सभा) की ओर से सरकार से निवेदन किया गया कि हिन्दी बोलने वालों को हिन्दी लिखने की आज्ञा दे। संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश), बिहार और मध्यप्रदेश ये तीनों प्रान्त हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त हैं। इन प्रान्तों में 'हिन्दुस्तानी' अंकित किये जाने के विरुद्ध घोर आन्दोलन खड़ा हुआ और इस आन्दोलन का नेतृत्व आर्यसमाज ने किया। फलतः हिन्दुस्तानी लिखाये जाने की आज्ञायें प्रान्तीय सरकारों ने वापस ले ली और लोगों को 'भाषा' अंकित कराने की स्वतंत्रता मिल गई। इस अवसर पर सभा ने विज्ञप्ति संख्या ७ निकाली। इसमें प्रेरणा की गई थी कि :—

१—नारायण अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ १५८
२—आर्य डाइरेक्टरी पृष्ठ ३१
३—वही, पृष्ठ ३२

"प्रश्न संख्या १८ (मातृ भाषा) के उत्तर में अपनी मातृभाषा लिखवानी चाहिये। जो हिन्दी जानते और बोलते हों उन्हें 'हिन्दी' भाषा अवश्य लिखानी चाहिये। प्रश्न सं० १९ (अन्य भाषा) के कोष्ठक में जिनकी मातृभाषा बंगाली, मराठी, तामिल इत्यादि थीं उन्हें 'हिन्दी' लिखाने की प्रबल प्रेरणा की गई। साथ ही प्रश्न संख्या २० (लिपि) के उत्तर में देवनागरी वा हिन्दी लिखाने का निर्देश किया गया...."[1]

आर्यसमाजी विद्वान् और मंगलाप्रसाद पारितोषिक

आर्यसमाजी और आर्यसमाज की छत्रछाया में शिक्षित विद्वानों द्वारा हिन्दी-साहित्य के विभिन्न विषयों पर लिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थों का विवरण देना इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है परन्तु मंगलाप्रसाद पारितोषिक हिन्दी साहित्य का एक प्रमुख पुरस्कार है अतः आर्य विद्वानों द्वारा पुरस्कार प्राप्त ग्रंथों का उल्लेख करना अनुचित न होगा।

लेखक	ग्रन्थ	संवत्
श्री पद्म सिंह शर्मा	बिहारी सतसई	१९७९
प्रो० सुधाकर	मनोविज्ञान	१९८२
प्रो० सत्यकेतु विद्यालंकार	मौर्य साम्राज्य का इतिहास	१९८६
पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय	आस्तिकवाद	१९८७
श्री जयचन्द्र विद्यालंकार	भारतीय इतिहास की रूपरेखा	१९९०
श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल	शिक्षा मनोविज्ञान	१९९१[2]

१—आर्य डाइरेक्टरी, पृष्ठ ३२

२—हिन्दी सेवी संसार, प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ ५०४-५०५

परिशिष्ट क

पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज का हिंदी-कार्य

लेखक—श्री सत्यपाल जी

पूर्वीय अफ्रीका का ब्रिटिश एम्पायर का भाग १८९० अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में प्रारम्भ किया गया था इस देश को ब्रिटिश के नीचे आये कुल ५० वर्ष हुये हैं उससे पहिले यह बसा हुआ भाग नहीं था कहीं-कहीं भारतीय व्यापारियों और अरब व्यापारियों के व्यापार केन्द्र थे तब संस्कृति या धर्म-प्रचार का इतना बड़ा प्रश्न नहीं था तब भी उस युग के भारतीय जगह जगह व्यापार के साथ परोपकार के काम करते ही रहते थे उस युग के उनके बनवाये हुये कुएँ धर्मशालाएँ और उद्यान उनकी परोपकार वृत्तियों का प्रदर्शन करते ही हैं।

१९ शताब्दी के अन्त में यहाँ पर अंग्रेजों ने रेल प्रारम्भ की पहिले गोरी लेबर (सफेद मजदूर) दक्षिणी अफ्रीका से लाई गई पर वह असफल हुई तब भारतीय मजदूरों के साथ ही भारतीय क्लर्क व्यापारी इस देश को भरने लगे। उनमें ही देश से प्रेरणा लेकर आये हुये आर्यसमाजी भी आये और आते ही उन्होंने सत्संग प्रारम्भ कर दिये काम के बाद सारा समय भजनों को गा कर बाजार फिरने प्रातः सायं सत्संग और संध्या करने में व्यतीत होने से नया युग प्रारम्भ हुआ। १९०३ में आर्य सत्संगों का लिखित विवरण अब भी उपलब्ध है उनसे पता लगता है कि तब के आर्य क्या भावनाएँ रखते थे।

१—सारे अफ्रीका खंड को आर्य बनाना।

२—इस देश में आर्य भाषा को ही मुख्य भाषा बनाना।

३—इन कौलियों को भारत का हिस्सा बनाना।

कुछ दिनों में अनुभव हुआ कि हमें अपने विचारों को क्रियात्मक रूप में लाने के लिये विद्वानों को देश से बुलाना चाहिये।

उस समय आये हुये भारतीयों में हिन्दी के लिये लगन होने पर भी वे उर्दू ही जानते थे। इसलिए हिन्दी सीखने के लिये जगह-जगह प्रयत्न किये गये और इसी काम को अधिक उत्तेजन देने के लिये माननीय महोपदेशक पूर्णानन्द जी को १९०९ में देश से बुलाया गया उन्होंने आते ही हर एक आर्य को हिन्दी के साथ संस्कृत भी पढ़नी चाहिये यह दृष्टि दी साथ ही मुम्बासा नैरोबी और कम्पाला में हिन्दी संस्कृत सिखाने के लिये

सायंकाल की पाठशालाएँ प्रचलित कर दीं जगह-जगह लघु सिद्धान्त कौमुदी और गुरुकुल कांगड़ी की पाठावलियों के पाठ प्रारम्भ हुए।

उस समय तक भी अफ्रीकन तो पास आते ही नहीं थे वे डर के मारे जंगलों में रहते थे। रेल के किनारे २ हजारों भारतीय ही भारतीय दीखते थे वे ही व्यापारी थे वे ही दफ्तरों में क्लर्क ठेकेदार गवर्नमेंट औफिसर थे कहीं कहीं अंग्रेज दिखाई पड़ता था इस प्रकार इस भारतीय अफ्रीका में देश की सब प्रवृत्तियों के दर्शन होते थे केनिया युगांडा रेलवे के एक मुख्य क्लर्क बाबू बदरीनाथ के लड़के श्री उत्तमचन्द्र ने प्रौढ़ स्त्रियों और कन्याओं को हिन्दी सिखाने का एक क्रान्तिकारी आंदोलन शुरू किया आंदोलन तो चला ही क्योंकि वह इस काम में सारा समय देता था पर इसका विरोध भी उतना ही भयंकर हुवा उस विरोध को जीतने का श्रेय आर्यसमाज को प्राप्त हुवा आर्य समाज नैरोबी ने उस प्रवृत्ति को पाठशाला के रूप में प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही समय में अफ्रीका में सबसे पहली कन्या पाठशाला बन गई जो इस समय महान् वृक्ष का रूप धारण कर चुकी है जिसमें इस समय १४०० कन्याएें पढ़ती हैं। इसी के अनुकरण में बाद में दूसरी भी पाठशालाऐं खुलीं जिनसे स्त्री शिक्षा का प्रश्न इस देश में सदा के लिये हल हो गया। नैरोबी की पाठशाला का प्रारम्भ १९०८ में हुआ, किन्तु वस्तुत: दृढ़ रूप १९१८ से बना। वही समय पाठशाला के प्रारम्भ का माना जाता है।

श्री पं० पूर्णानन्द जी १ वर्ष रह कर देश चले गये समय २ पर दूसरे विद्वान भी आये पर उनकी पाठशालाएँ समय पाकर काल के ग्रास में चली गईं। उसका कारण यह हुवा कि धीरे २ जन संख्या बढ़ने से जो गवर्नमेंट का कलेवर कोर्ट और अदालत के रूप में बढ़ा उसमें सारे के सारे अफसर पंजाब से आये थे उन्होंने पोलीस और कोर्ट की भाषा उर्दू कर दी इस प्रकार बिना प्रयत्न के ही उर्दू को गवर्नमेंट में स्थान मिल गया और आगे चल कर उसे ही शिक्षा विभाग में स्थान मिला।

तब आर्यसमाजियों ने अपने लड़के देश में हिन्दी पढ़ाने को भेजने शुरू कर दिये। कई क्लर्क भी हिंदी का उच्च ज्ञान प्राप्त करने को नौकरियाँ छोड़कर देश चले गये जिनमें कुछ अच्छे विद्वान होकर फिर इस देश में आये और इस देशों को बड़े वरद सिद्ध हुवे इनमें श्री पं० ईश्वरदास जी विशारद का नाम स्मरणीय है इस समय वह किसुमु में हिन्दी प्रचार का काम संभाले हुवे हैं। देश में जो बालक गये थे उनमें से कुछ योग्य हो कर वहीं रह गये कुछ आये और आर्य स्वप्नों को पूर्ण करने में लग गये।

देश में (भारत में) १९१२ से १४ तक का समय पंजाब में आर्यसमाज को संदेह की दृष्टि से देखने का था इसी युग में अनेक रियासतों में आ० स० पर मुकदमें चले और सी० आई० डी० की दुदृष्टि आर्यसमाज पर रही। उसी की आवृत्ति इस देश में भी हुई।

हिन्दी, आर्यसमाज और सुधार वृत्ति को गवर्नमेंट के अफसर अपना शत्रु समझते थे। १९१० के पास जो यहाँ पर शिक्षा विभाग खुला उसने इसी दृष्टि को प्रधान रख कर उर्दू को ही स्थान दिया और तभी यह अतृप्त वासना कि हमारी भाषा हिन्दी है

उग्र रूप में हो चली, शिक्षा विभाग में बालक कम जाते थे और १९१३ में हिन्दी को भी स्थान देने का वचन दिया गया (जो कभी पूरा नहीं हुआ) १९१४ से १९१८ के महायुद्ध का इतिहास विनाश का इतिहास है मुम्बासा समाज उसके मेंबरों और रजिस्टरों के सहित साथ बन्द कर दी गई उसके कुछ मेम्बर फाँसी हुवे और कुछ लम्बी कैद भोग लड़ाई के बाद छूटे। नैरोवी को संदेह से देखा गया पर हो कुछ न सका क्योंकि आ० समाज के विरुद्ध गवाही देने वाले आफीसर हीन आचरणों के सिद्ध हुवे जिससे उनकी रिपोर्ट कूड़े में फेंक दी गई।

युद्ध के बाद १९२१ में आर्यवीर नाम का पत्र

(प्रथम पत्र) आर्यसमाज नैरोवी की ओर से प्रारम्भ हुआ जो कुल दो वर्ष की आयु भोग कर अकाल का शिकार हुआ फिर भी साइक्लोस्टाइल की सहायता से प्रचार पत्रिकाएँ कभी निकलती ही रहीं। हिन्दी के प्रश्न को फिर उठाया जो प्रस्तावों, विरोधों और दूसरे प्रकार के आन्दोलनों के बाद १९४५ में सफल हुआ और अब शिक्षा विभाग ने हिन्दी को स्वीकार कर लिया है और सब बड़ो-बड़ी जगहों में हिन्दी का प्रबन्ध हो चुका है।

सन् १९३६ में आ० स० नैरोवी ने बच्चों को हिन्दी सिखाने के लिए सायंकाल पाठशाला खोली जो सदा भरी रही है १९४३ में इस पाठशाला को वार्धा की हि० प्र० सभा की परीक्षाओं का केन्द्र बना दिया गया और तब से आज तक इसमें ५०० तक विद्यार्थी पास हो चुके हैं परीक्षा देने वालों की संख्या तो इससे भी अधिक है। (यह पाठशाला पं० सत्यपाल जी ही चला रहे हैं अपने व्यय पर।)

हैदराबाद सत्याग्रह के दिनों में प्रचार पत्रिकाएँ हिन्दी में छप कर बांटी जाती रही हैं।

१९४६ में प्रतिनिधि पत्र को जन्म दिया गया जो ५ वर्ष चला कर बन्द करना पड़ा।

इस समय दारासलाम जन्जिवार कम्पाला जिन्जा और नैरोवी और मुम्बासा में हिन्दी के केन्द्र आर्यसमाज की ओर से खुले हुये हैं।

१—मुम्बासा में जो केन्द्र श्री अनन्त शास्त्री ने खोला है वह अंग्रेजों और अफ्रीकनों को भी हिंदी सिखाने में सफल हुआ है पहिले वहाँ हिंदी पढ़ाई जाती थी बाद में उसे रा० भा० वार्धा की परीक्षाओं के पास कराने का केन्द्र बनाया गया और अब वहाँ पर उसके साथ-साथ पंजाब की रत्न भूषण प्रभाकर आदि परीक्षाऐं भी दिलाई जाती हैं।

२—नैरोवी में राष्ट्रभाषा वार्धा की परीक्षाओं के साथ २ आर्या स्त्री समाज की ओर से रत्न भूषण प्रभाकर आदि की परीक्षाओं का भी उपक्रम चल रहा है। राष्ट्र भाषा प्रचार परिषद् की परीक्षाएं पं० सत्यपाल जी दिलाते हैं।

३—रसेटों में केवल राष्ट्र भाषा की परीक्षाऐं दी जाती हैं।

४—कम्पाला में भी रा० भा० वार्धा की परीक्षाएें दिलाई जाती हैं इस समाज की अपनी कन्या शाला है जिसमें अन्य विषयों के साथ हिंदी भी पढ़ाई जाती है।

५—मुआन्जा टटोमा में ही हिंदी पाठशालाएें चलती हैं आ० स० दारासलाम की रात्रि शाला १०० से अधिक सीखने वालों को ५ वर्ष से हिंदी सिखा रही है। इनकी कन्या-शाला भी है जहाँ हिंदी पढ़ाई जाती है।

जंजिवार समाज ने 'मधुकरी' पत्रिका चलाई जो ३ वर्ष चल कर वन्द हो गई है। हिंदी का प्रबंध है इनकी शाला भी चलती है।

इस प्रकार कन्याशालाओं, रात्रि-शालाओं, परीक्षा के केन्द्रों द्वारा हिंदी का पूजन हो रहा है भगवान् हमारे इस स्वप्न को पूरा करें कि इस देश की भाषा हिंदी बने।

प्रेस चलाने का यत्न करने पर भी सफलता नहीं मिली है। फिर भी प्रचारार्थ देश से पत्रिकाएें (पैम्फ्लट) मंगा कर बाँटे जाते हैं जो सस्ते पड़ते हैं।

यह देश अब भी नये देश हैं आबादी कम है और अंग्रेजी प्रभाव के बढ़ने से हमारे प्रयत्न बहुत कुछ सफल नहीं होते हैं।

नोट—सन् १९२४ में आर्य युवक सभा और आर्य वीर दल की ओर से एक रात्रिपाटशाला अफ्रीकनों के लिए खोली गई थी, जिसमें लगभग २०० अफ्रीकी छात्र हिंदी पढ़ते थे और "आर्यसमाजी ढंग की संध्या" भी करते थे। किंतु सरकार की संदेह दृष्टि के कारण वह अधिक दिन न चल सकी।

परिशिष्ट ख

पूर्वी अफ्रीका में हिन्दी प्रचार

लेखक—श्री उषबुध आर्य

१९ वीं शताब्दी के अन्त में जब "ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कपम्नी" ने पूर्वी अफ्रीका का विकास प्रारम्भ किया तदर्थ ब्रिटेन की जनबल की न्यूनता को भारतीयों से पूरा किया गया। भारतीयों को मजदूर से लेकर रेलवे इंजीनियर तक के रूपों में इस देश में लाया गया। यहाँ वे सदैव अंग्रेजी के व्यवहार क्षेत्र में रहने से अपनी भाषा, संस्कृति आदि से दूर पड़ गए। प्रारम्भ में सरकारी नौकरी के रूप में आने वाले व्यक्ति पंजाब प्रांत के थे जिनमें मूलत: उर्दू भाषा प्रचलित थी।

आने वालों में कुछ संख्या आर्यसमाजियों की भी थी। किंतु उन दिनों हिंदी प्रचार का प्रबल पक्ष पोषक होते हुए भी आर्यसमाज का साहित्यादि उर्दू में ही था गिने चुने विद्वान हिंदी के पंडित थे। सामान्य आर्यसमाजी हिंदी सीखने आदि का प्रयत्न तो करते ही थे। अस्तु।

इस देश में हिंदी के प्रचार और प्रसार का श्रेय आर्यसमाज को है। सन् १९१० में आर्यसमाज के एक विद्वान् पं० पूर्णानन्द जी इस देश में आए। पूर्वी अफ्रीका के केनिया, युगांडा, टाँगानिका और जंजीबारद्वीप इन चारों देशों में उन्होंने भ्रमण किया और नैरोबी में एक हिंदी पाठशाला भी चलाई, जिसमें वे ही शिक्षण देते थे सब बच्चों बूढ़ों को। उस समय वे एक वर्ष पश्चात ही भारत लौट गए। किंतु पीछे फिर २,३ बार आए। उनकी प्रेरणा से आर्यसमाज नैरोवी ने आर्य कन्या पाठशाला सन् १९१८ में खोली, यह पूर्वी अफ्रीका में पहली शिक्षण संस्था थी जिसका शिक्षण माध्यम हिंदी था। इस समय छात्राओं की संख्या-दृष्ट्या यह पूर्वी अफ्रीका की सबसे बड़ी कन्या पाठशाला है।

श्री पं० पूर्णानन्द जी के अतिरिक्त और भी आर्यसमाज के जितने विद्वान् और प्रचारक इस देश में आए सभी हिंदी-प्रचारक का प्रयत्न करते रहे हिंदी के अध्ययन की प्रेरणा के रूप में श्री पं० महाराणी शंकर जी (सन्........ ......में) आए। आपका प्रयत्न सराहनीय रहा। इस समय पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज की ओर से ४-५ कन्या पाठशालाएं चल रही हैं जिनके शिक्षण का माध्यम हिंदी है।

यहाँ हिंदी-प्रचार के लिए श्री पं० सत्यपाल जी सिद्धांतालंकार के त्याग का वर्णन

आवश्यक है। सन् १९२९ में वे यहाँ आए आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में। पुनः सन् ३१ में लौट गए और कांग्रेस आन्दोलन में सन् ३५ तक जेल में रहे। सन् ३६ में पुनः यहां आए, तब से यहीं पर हैं। पं० सत्यपाल जी का हिंदी प्रचार में एक महत्वपूर्ण हाथ रहा है। मांसाहारी अफ्रीकियों की रिजर्वों (सुरक्षित बसतियों) में वे महीनों शाक और फलमात्र खा कर रहे हैं (केवल हिंदी शिक्षण के लिए) केनिया की ब्रिटिश सरकार अफ्रीकनों के सम्पर्क में आने वाले भारतीयों को कितनी संदेह दृष्टि से देखती है, इसका अनुभव केनिया में आने पर ही हो सकता है। सरकार की कोप दृष्टि की चिन्ता उन्होंने न की। तो भी जोमो-कैनियाटा के केस से कुछ दिन पूर्व उन्हें विवश कर 'अफ्रीकन रिजर्व' से निकाल दिया गया।

नैरोबी में पं० सत्यपाल जी स्वतंत्र और वैयक्तिक रूप से हिंदी शिक्षण केन्द्र चलाते हैं जिसमें अब तक हजारों विद्यार्थी हिंदी पढ़े हैं। राष्ट्र भाषा प्रचार समिति वर्धा की परीक्षाएँ भी पं० जी ने प्रारम्भ कराई हैं। आर्य स्त्री समाज नैरोबी की ओर से पंजाब की रत्न, भूषण, प्रभाकर परीक्षाओं के लिए भी केन्द्र चल रहा है। गत वर्ष से पंजाब विश्व-विद्यालय ने अपने परीक्षा केन्द्र पूर्वी अफ्रीका में खोल दिये हैं। सारे पू० अफ्रीका में १० वीं कक्षा से ऊपर का कोई विद्यालय नहीं है, विश्वविद्यालय तो कहां ?

उधर मुम्बासा में पिछले कुछ वर्षों से श्री अनन्त शास्त्री जी (कई भाषाओं के विद्वान्) अच्छा कार्य कर रहे हैं, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति तथा पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षाएँ दिलाते हैं। केनिया के शिक्षा-विभाग ने गत वर्ष से हिंदी भाषा को ऐच्छिक विषय घोषित कर दिया है। इसी प्रकार गुजराती भाषा भी ऐच्छिक है। यहां की भारतीय जनता में गुजरातियों की संख्या अधिक होने से गुजराती भाषा को जो महत्व प्राप्त है वह हिंदी को नहीं। भारतीय जनता की रुचि अर्थपरायण होने से तथा सरकारी प्रोत्साहन न होने से हिंदी प्रचार का मार्ग बाधापूर्ण है।

———

सहायक ग्रन्थों की सूची

(हिन्दी)

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संस्करण
१.	अकबरी दरबार के हिंदी कवि	डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल	प्रथम संस्करण
२.	अद्वैतवाद	पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय	१९२६ ई०
३.	अनुराग रत्न	पं० नाथू राम "शंकर" शर्मा	द्वितीय संस्करण
४.	आत्म कथा	महात्मा नारायण स्वामी	प्रथम संस्करण
५.	आत्म दर्शन	महात्मा नारायण स्वामी	द्वितीय संस्करण
६.	आदिम सत्यार्थ प्रकाश	स्वामी श्रद्धानन्द	प्रथम संस्करण
७.	आधुनिक काव्य धारा	डॉ० केसरी नारायण शुक्ल	२००० वि०
८.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	१९४८ ई०
९.	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डॉ० श्री कृष्ण लाल	१९४२ ई०
१०.	आर्य डाइरेक्टरी	प्रकाशक सार्वदेशिक सभा	प्रथम संस्करण
११.	आर्य धर्म	डॉ० मुंशीराम शर्मा	१९३७ ई०
१२.	आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास	....	प्रथम संस्करण
१३.	आर्यमत मार्तंड	पं० रुद्रदत्त शर्मा	....
१४.	आर्यसमाज	पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय	१९९३ वि०
१५.	आर्यसमाज का इतिहास प्रथम भाग	पं० नरदेव शास्त्री	प्रथम संस्करण
१६.	आर्य समाज का इतिहास द्वितीय भाग	" "	" "
१७.	आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग	पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति	" "
१८.	आर्य समाज का इतिहास	पं० हरिश्चंद्र	१९४१ ई०
१९.	आर्य समाज गणेशगंज लखनऊ का इतिहास	पं० माधवराम पंड्या	प्रथम संस्करण

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संस्करण
२०.	आर्य सिद्धान्त विमर्श	प्रकाशक सार्वदैशिक सभा	प्रथम संस्करण
२१.	आर्याभिविनय	स्वामी दयानंद प्र० वैदिक यंत्रालय	आठवीं आवृत्ति
२२.	आर्योद्देश्यरत्नमाला	स्वामी दयानंद	सोलहवीं आवृत्ति
२३.	इतिहास प्रवेश	पं० जयचन्द्र विद्यालंकार	चतुर्थ संस्करण
२४.	उन्नति की ओर	डॉ० युद्धवीर सिंह	१९३८ ई०
२५.	उपदेश मंजरी	प्र० श्याम लाल वर्मा आर्य पुस्तकालय बरेली	पांचवाँ संस्करण
२६.	उरु ज्योति	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल	१९५३ ई०
२७.	ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका	स्वामी दयानंद प्र० वैदिक यंत्रालय	छठी आवृत्ति
२८.	ऋषि दयानंद के ग्रन्थों का इतिहास	श्री युधिष्ठिर मीमांसक	प्रथम संस्करण
२९.	ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन	संपादक पं० भगवद्दत्त	१९५५ ई०
३०.	ऋषि दयानंद स्वरचित जन्म चरित्र	" "	चतुर्थ संस्करण
३१.	कंठी जनेऊ का विवाह	पं० रुद्रदत्त शर्मा	१९८१ वि०
३२.	कर्म रहस्य	महात्मा नारायण स्वामी	१९३८ ई०
३३.	कल्याण मार्ग का पथिक	स्वामी श्रद्धानन्द	प्रथम संस्करण
३४.	गुरुदत्त लेखावली	अनु० पं० संतराम और पं० भगवद्दत	प्रथम संस्करण
३५.	गोकरुणानिधि	स्वामी दयानंद प्र० राजपाल एंड संस	...
३६.	जीवन चक्र	पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय	प्रथम संस्करण
३७.	जीवात्मा	" "	१९३३
३८.	तुम्हारी भाषा क्या है	" "	१९५०
३९.	तुलनात्मक भाषा शास्त्र अथवा विज्ञान	डॉ० मंगल देव शास्त्री	चतुर्थ संस्करण
४०.	दयानन्दायन	ठा० गदाधर सिंह	प्रथम संस्करण
४१.	दक्षिण अफ्रीका में धर्मोदय	श्री नरदेव वेदालंकार	प्रथम संस्करण
४२.	दिव्य दयानन्द	संपादक पूर्णचन्द्र एडवोकेट और नारायण गोस्वामी वैद्य	१९९० वि०
४३.	नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ	संपादक श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री; श्री धर्मदेव, श्री विश्वम्भर सहाय	प्रथम संस्करण

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संस्करण
४४.	नीराजना	पं० वागीश्वर विद्यालंकार	,, ,,
४५.	पंच महायज्ञ विधि	स्वामी दयानंद, प्र० रामलाल कपूर ट्रस्ट	पाँचवा संस्करण
४६.	पंजाब में हिन्दी की प्रगति	पं० रघुनन्दन शास्त्री	प्रथम संस्करण
४७.	पदमावत	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल	,, ,,
४८.	पद्मसिंह शर्मा के पत्र	संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० हरिशंकर शर्मा	,, ,,
४९.	पद्म पराग	पद्मसिंह शर्मा	,, ,,
५०.	पुष्पाँजलि	प्र० राजपाल एंड संस	१९५१ ई०
५१.	पुरुषार्थ प्रकाश	स्वामी नित्यानंद और स्वामी विश्वेश्वरानंद	१९९० वि०
५२.	प्रकाश भजन सत्संग	श्री प्रकाश चन्द्र	२०१० वि०
५३.	प्रथमजा	डा० मुंशीराम शर्मा	प्रथम संस्करण
५४.	प्रवासी की आत्मकथा	श्री भवानी दयाल सन्यासी	,, ,,
५५.	प्राकृत विमर्श	डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल	,, ,,
५६.	भजन भास्कर	संग्रहीता पं० हरिशंकर शर्मा	तृतीय संस्करण
५७.	फर्रुखाबाद का इतिहास	पं० गणेश प्रसाद शर्मा	प्रथम संस्करण
५८.	भारत का साँस्कृतिक इतिहास	श्री हरिदत्त वेदालंकार	द्वितीय संस्करण
५९.	भारतीय साधना और सूर साहित्य	डा० मुंशीराम शर्मा	प्रथम संस्करण
६०.	भारतेन्दु ग्रंथावली (खण्ड १)	सं० श्री ब्रजरत्न दास	,, ,,
६१.	,, ,, (खण्ड २)	,, ,,	द्वितीय संस्करण
६२.	,, ,, (खण्ड ३)	,, ,,	प्रथम संस्करण
६३.	(पं) भीमसेन जी और आर्यसमाज	पं० सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी	,, ,,
६४.	भ्रमोच्छेदन	स्वामी दयानंद वैदिक यंत्रालय	चतुर्थ संस्करण
६५.	महर्षि दयादन्द	पं० अखिलेश शर्मा	प्रथम संस्करण
६६.	महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित (भाग १)	ले० श्री देवेन्द्र नाथ अनु० पं० घासीराम	द्वितीय संस्करण
६७.	महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन चरित (भाग २)	पं० घासीराम	तृतीय संस्करण
६८.	महात्मा हंसराज	पं० खुशहालचंद (श्री आनंद स्वामी)	प्रथम संस्करण

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संस्करण
६९.	मृत्यु और परलोक	महात्मा नारायण स्वामी	१९४८ ई०
७०.	यम पितृ परिचय	पं० प्रियरत्न जी आर्ष	१९३६ ई०
७१.	योग रहस्य	पं० नारायण स्वामी	....
७२.	रस रत्नाकर	पं० हरिशंकर	प्रथम संस्करण
७३.	रसज्ञ रंजन	पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी	....
७४.	लाला देवराज	श्री सत्यदेव विद्यालंकार	प्रथम संस्करण
७५.	वरुण की नौका	पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति	
७६.	वक्रोक्ति जीवित	व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर	प्रथम संस्करण
७७.	विचार धारा	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	,, ,,
७८.	विदेशों में आर्य समाज	प्र० सार्वदेशिक सभा	,, ,,
७९.	विदेशों में एक साल	स्वामी स्वतंत्रानन्द जी	प्रथम संस्करण
८०.	वेद रहस्य	श्री नारायण स्वामी	,, ,,
८१.	वैदिक इतिहासार्थ निर्णय	पं० शिव शंकर शर्मा	,, ,,
८२.	वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग	पं० भगवद्दत	१९३५ ई०
८३.	वैदिक वाङमय का इतिहास प्रथम भाग का द्वितीय खंड (वेदों के भाष्य कार)	,,	१९३१ ई०
८४.	वैदिक वाङमय का इतिहास द्वितीय भाग (ब्राह्मण और आरण्यक)	,,	१९२७ ई०
८५.	वैदिक विनय	आचार्य देवशर्मा	प्रथम संस्करण
८६.	वैदिक वैजयन्ती	श्री मदनमोहन सेठ	,, ,,
८७.	वैदिक सम्पति	पं० रघुनन्दन शर्मा	चतुर्थ संस्करण
८८.	व्यवहार भानु	स्वामी दयानंद प्र० राजपाल एंड संस	१९५१ ई०
८९.	शंकर सर्वस्व	पं० हरिशंकर शर्मा	प्रथम संस्करण
९०.	श्री मद्दयानंद प्रकाश	स्वामी सत्यानंद	चतुर्थ संस्करण
९१.	संस्कृत वाक्य प्रबोध	स्वामी दयानंद (आर्य साहित्य मंडल)	प्रथम संस्करण
९२.	सन्ध्या संगीत	डॉ० मुंशीराम शर्मा	
९३.	संस्कार विधि	स्वामी दयानंद (वैदिक यंत्रालय)	१९ वीं आवृति
९४.	समाचार पत्रों का इतिहास	पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेई	प्रथम संस्करण
९५.	सत्यार्थप्रकाश	स्वामी दयानन्द	२२ वीं आवृति

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संस्करण
९६.	सामान्य भाषा विज्ञान	डॉ० बाबूराम सक्सेना	तृतीय संस्करण
९७.	सार्वदैशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का सत्ताइस वर्षीय इतिहास	प्रकाशक सार्वदेशिक सभा	१९९६ वि०
९८.	स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी	पं० रुद्रदत्त शर्मा प्रकाशक आर्य साहित्य सदन पैंतखेड़ा खंदौली आगरा	
९९.	स्वाध्याय सुमन	स्वामी वेदानन्द	तृतीय संस्करण
१००.	स्वामी विरजानंद का जीवन चरित्र	श्री देवेन्द्रनाथ	प्रथम संस्करण
१०१.	स्वामी श्रद्धानन्द	पं० सत्यदेव विद्यालंकार	" "
१०२.	हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी	पं० पद्म सिंह शर्मा	द्वितीय संस्करण
१०३.	हिन्दी काव्यालंकार सूत्र	व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर	१९५४
१०४.	हिन्दी भाषा का इतिहास	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	द्वितीय संस्करण
१०५.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल	२००९ वि०
१०६.	हिन्दी सेवी संसार	श्री प्रेमनारायण टंडन	१९५१ ई०

अंगरेजी

1.	Bankim, Tilak and Dayananda	Arvinda Ghosh	II Edition
2.	Ram krishna His Life & sayings	Collected works of F. Max Muller	
3.	Dayananda Commemoration Volume	Edited by Har Bilas Sharda	1933
4.	India what can it Teach us (Lecture III)	F. Max Muller	
5.	Life of Swami Dayananda	H. B. Sharda	I Edition
6.✓	The Arya Samaj	Lala Lajpat Rai	1932
7.	The Rise and Growth of Hindi Journalism	Sri R. R. Bhatnager	I Edition

निम्नलिखित पत्र पत्रिकाओं की उपलब्ध संचिकायें

१. आर्यमित्र
२. जलविद सखा
३. पांचाल पंडिता
४. वेदवाणी
५. वेदोदय
६. श्रद्धा
७. सद्धर्म प्रचारक
८. सार्वदेशिक
९. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका

————

नामानुक्रमणिका

(क) लेखक और विशिष्ट व्यक्ति

अ

अकबर—२३०
अनन्तकृष्ण—२५६
अभयदेव स्वामी—१२२
अमर लाल—२१
अमीचंद—१९५
अमीचंद विद्यालंकार—२३९
अमीर खुसरो—२३०
अम्बिकादत्त व्यास—८३
अम्बिका प्रसाद वाजपेई—१४५,१४९,१५३,
अयोध्याप्रसाद—२४९,२५०
अयोध्या सिंह उपाध्याय—१९१
अरविन्द घोष—८
अली मरदान खाँ—३१
अल्काट कर्नल—७,१०,१६५
अहमद हुसेन मौलवी—६४

आ

आजाद मौलाना—२३०
आत्माराम अमृतसरी—१५५,२५९
आत्माराम विश्वनाथ—२४७
आर्यमुनि पं०—१६९,२५९
आरण्डेल मिसेज—१४६
आशुतोष मुकर्जी—१५८

इ

इंशाअल्ला खाँ—१२
इन्द्रदेव—२५५
इन्द्र विद्यावाचस्पति—१५६,१५७,१६९,
१७८,२३०

ई

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर—६,९७
ईश्वरचन्द्र शास्त्री—१७१
ईश्वरदत्त—२४१,२४३
ईश्वरदास—२४२,२६७

उ

उव्वट—४५
उषर्बुध ब्रह्मचारी—१६०,२४०,२५१,२७०

ए

एंटनी मैकडानल—२६०
एण्ड्रूज साधु—२३८
एनी बीसेंट—८

ओ

ओ३म् प्रकाश पुरुषार्थी—१६०

क

कंचनलता कुमारी—२५६
कृपाराम पण्डित—१४९
कृष्णा स्वामी अय्यर—२६२
कल्याण राय—१४७
कालेलकर काका—१५९
कालूराम—९६
काहन देवी माता—१३०
किशोरीलाल मश्रूवाला—१५९
कुन्तक आचार्य—२२३
कुन्दन सिंह ठाकुर—२४८
केशवचन्द्र सेन—७,८,२६,५१,५२
केशव देव शास्त्री—२५,११८,१५४
कर्षन जी—१५

केसरी नारायण शुक्ल डा०—१९०
क्षेमपाल शर्मा—१४८
क्षेमकरण त्रिवेदी—१६९

ख

खुशहाल चन्द खुरसन्द—१५७,१६८
खेमन लाल—२४५

ग

गंग महाकवि—१२
गंगादत्त पं०—१२०
गंगा प्रसाद उपाध्याय—१५८,१६८,१७२, १७४,१७६,१८२,२६५
गंगाप्रसाद जज—१६८
गंगा सहाय—१४७
गणेश प्रसाद शर्मा—१४६,१८२
गणपति शर्मा—२३१
गदाधर प्रसाद वैद्य—८०,२१७
गदाधर सिंह ठाकुर—२१६
गयाप्रसाद शुक्ल सनेही—१९१
गांधी महात्मा(बापू)—७३,१४३,१५९,२२८, २५४,२५९,२६०, २६२
गार्सां दि तासी—१३,५५
गिरजा दयाल शर्मा—२५०,२५१
गिरधारी सिंह ठाकुर—७९
गिरिधर लाल दयाल दास कोठारी—२६
गुरुदत्त विद्यार्थी—१७३
गोकुलचन्द नारंग डा०—२५९
गोपालदत्त शास्त्री—१७१,२५५
गोपाल शर्मा—१६५
गोपालराव हरि देशमुख—७३
गोपेन्द्र नारायण—२४८,२४९
गोराचाँद—५१
गोबर्धनलाल लाला—२१
गोविन्द प्रसाद—२५६

घ

घासीराम—१४७,१६७

च

चन्द्रकान्त मुदालियर—२५५,२५६
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार—१७९,२३०
चन्द्रगुप्त वेदालंकार—१२२,१५८
चन्द्रबली पांडे—२५६
चन्द्रमणि—१५६,१५७,१७३
चन्द्रशेखर पं०—७३,२५१
चन्द्रशेखर सेन २५
चन्द्रावती—२६५
चतुरसेन शास्त्री—२३०
चमूपति,—१५४,२५९
चम्पत स्वरूप—१५९
चरनदास—१५३
चाँद करण शारदा—१७९
चिम्मनलाल वैश्य—१६५
चिरंजीव भरद्वाज डा०—११०,२४५,२४६
चेतराम—१५६

छ

छुट्टनलाल स्वामी—१५४

ज

जगदेव सिद्धांन्ती—१५९
जगन्नाथ—१६५
जगरानी देवी—२३७,२३८
जयकृष्ण दास राजा—७२,११६
जयगोपाल कविराज—२१६,२५९
जयचन्द्र विद्यालंकार—३,२६५
जयदेव शर्मा—१५७
ज्योति स्वरूप मुन्शी—१८२
ज्वालादत्त—८६,९०,१४७
ज्वालानन्द पुरी—१९
जी० ई० वार्ड—२५३
ज्ञानचन्द लाला—१७०

ट

टेकचन्द बख्शी सर—२५९

ड

डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर—२५२,२५३

त

तारकनाथ दास डा०—२३८

ताराचरण—२४

तिलक लोकमान्य—२६२

तुलसीराम पं०—१४६, १५३, १६८, १८२

तेग बहादुर गुरू—२५७

तेज सिंह महाराजा—२९,६९

द

दयानन्द स्वामी—१,२,३,४,६,९,१०,११,१४ १५,१६, १८,१९, २०—२६, २८,३२—३४,३६,३९, ४१–४६,४८,६१, ६३–७५,७७—१०७, ११६, ११७, १२९, १३९,१४३,१४६,१४७,१४९, १५१, १५९—१६२, १६४ १६५, १६७—१६९, १७१, १७८, १७९, १८१, १८५, १८६ ,१८७, १९९, २०१—२०४, २०६, २१६, २३८, २३९, २४७, २५३, २५८, २६२

दयाराम मास्टर—२५२

दयाल जी—१५

दयावती—२४८

दर्शनानन्द स्वामी—१२५,१४९

दिनेशराम—८६

दीवानचन्द लाला—१७७

दुर्गाप्रसाद—२५२

दुर्गाप्रसाद रईस—६७

देवराज लाला—१३१, १३२, १५०, १५१, १५६,१६८,२५९

देवराज सिद्धान्तालंकार—१५७

देवशर्मा-अभय—१६९,२६०

देवीदयाल—२३७

देवेन्द्रनाथ महर्षि—७,२५,५१

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—५७, ५९, १६६, १६७, १६८

देव स्वामी—४५

ध

धर्मदत्त पं०—१५७

धर्मदेव विद्या वाचस्पति—१७१, १७२, २१०,२५५

धर्मपाल बी० ए०—१५३

धर्मवीर वेदालंकार—२६०

धीरेन्द्र वर्मा डा०—२२०,२२४,२३१,२३३

न

नरेन्द्र डा०—२२२

नन्दकुमार देव शर्मा—१५०

नन्ही वेश्या—३०,७०

नवनीत लाल चतुर्वेदी—२३०

नवलदास—७९

नवलसिंह चौधरी—१८८

नवीनचन्द्र राय—९७

नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ—१२५,१४६, १५३, १७८

नाथूराम शर्माशंकर—१५३, १९९, २००, २०१, २०४, २०५, २०७,२११,२१२

नानक देव गुरू—२५७

नारायण दत्त—२४६,२५५

नारायण देव—२५५

नारायण स्वामी—४१,४४,४५,१६३, १६८, १७१,१७४

नाहर सिंह—२९

नेहरू—२६२

प

पद्मनाथ शास्त्री—२५५

पद्मसिंह शर्मा—१२५, १४९, १५३,२२४, २२९,२३०,२३१,२६५

परमानन्द—१८२

परमानन्द भाई—२३६,२५१,२५९

पी० के० गोडे—१५९
पूर्णानन्द—२४१,२४३,२६६,२६७,२७०
पूर्णानन्द सरस्वती—१९
प्रकाश भजनोपदेशक—१९३,१९५
प्रकाशवीर शास्त्री—२६२
प्रताप नारायण मिश्र—१८४
प्रतापसिंह कर्नल—२९,६९
प्रवीण सिंह—२४१,२४३
प्रियरत्न आर्य—१६९
प्रियव्रत वेदवाचस्पति—१७०
प्रेमचन्द—२२७, २२८,२२९,२३१,

फ

फ्रेडरिक पिनकाट—१४६,१७४

ब

बख्तावर सिंह मुन्शी—१४५
बदरीदत्त शर्मा—१५०
बदरी नारायण चौधरी—१८४
बद्री दास लाला—१३२,१५०
बनारसीदास चतुर्वेदी—२३८
बाबूराम सक्सेना डा०—२२०
बाल शास्त्री—६५
बालकृष्ण—२४१,२४३
बालकृष्णभट्ट—१३७
बालकृष्ण सहाय वकील—१४८
बालमुकुन्द गुप्त—१४९
बुद्धदेव विद्यालंकार—१६९
बुद्ध सिंह—२५५
ब्रजनाथ बी० ए०—१८२
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु—१२७,१६०,१७१
ब्रह्मानन्द आयुर्वेद शिरोमणि—१७०
ब्लैवटस्की मैडम—८,१०,११

भ

भगतराम डा०—२४१,२४३
भगवद्दत पं० —६६,१७१,१८३,२५९
भगवद्दत वेदालंकार—१७३
भगवानदीन पं०—११२
भवानी गिरि—१९
भवानीदयाल सन्यासी—१४८, १५४, १५६, २३७,२४९
भीमसेन पं०—७६,७७, ८३, ८४, ८६, ९० १४७,१७८
भीमसेन वेदांलंकार—१७३
भीमसेन शास्त्री—१२५
भोजदत्त पं०—१९७

म

मंगलदेव शास्त्री डा०—२२१
मंगलानन्द स्वामी—२४५
मुन्शीराम महात्मा—५८,१२०, १५०,१५१ १७८,२६०
मुन्शीराम शर्मा—१७४,१७७,२१८,२२५
मणिलाल बैरिस्टर—२४५.२४७
मणिशंकर—२४१,२४३
मथुरा प्रसाद शिवहरे—११८
मदनमोहन मालवीय—१५२
मदनमोहन सेठ—२६१
महादेव गोविन्द राणाडे—७,११६
महादेवी—१४८,२४९
महाराणी शंकर—२४१,२४३,२४४,२७०
महाबीर प्रसाद द्विवेदी—१५३.१९१,१९३
महीधर—९,४५,४६,४७
महेन्द्रप्रताप राजा—२३८
महेशचन्द्र न्यायरत्न—५१,८३
माताप्रसाद गुप्त—२२३
माताबदल—१५६,
माथुर शर्मा—२४१
माधवाचार्य—२४
मानिक चन्द डा०—२६
माइकेल सेडलर—१५८
मिहिर चन्द धीमान—१५९
मुरारी लाल—२६१
मुसद्दीलाल पं०—१५३
मूलशंकर—१७,१८,२०१,२१७

मेहता जैमिनी—२४६, २४८,२४९, २५०
२५१
मेहरचन्द—२३८
मैथिली शरण गुप्त—१९१
मोनियर विलियम्स—१७३
मोहकम चन्द लाला—२३६

य

यज्ञदत्त विद्यालंकार—१५३
यशवन्त सिंह महाराजा—२९,६९
युद्धवीर सिंह—११८
युद्धिष्ठिर मीमांसक—८५,१७१,१७२
योगानन्द—१९

र

रघुनन्दन शर्मा—१७२
रघुनन्दन शास्त्री—२५७,२५८
रघुबीर डा०—८५,१५९
रघुवीर सिंह शास्त्री—१५९
रल्लाराम गंधीलामल भल्ला—२३७, २३८
रविदत्त—२४१
राधवदास बावा—२५६
राजाराम पं०—१६८
राजेन्द्र प्रसाद डा०—२३१
राधाकृष्ण कौशिक—१५९
राम कृष्ण—७
रामचन्द्र शुक्ल—१२
राम चरित उपाध्याय—१९१
रामजी लाल शर्मा—१८९
रामदेव आचार्य—१२२, २५९
रामनाथ वेदालंकार—१७२
रामनारायण मिश्र—२५६
रामप्रसाद निरंजनी—१२
राममनोहरा नन्द—२४८
राममोहनराय राजा—६,७,९,१२९,१३६
रामरत्न भटनागर—१३८,१३९,१४०,१४१
१४६,१४८
रामविलास शारदा—१६५
रामसहाय आर्योपदेशक—१५६
रामस्वरूप शास्त्री—१८९
रामानन्द शास्त्री—१४८
रामावतार महाशय—२१६
रामेश्वर मिश्र—२५१
रुद्रदत्त संपादकाचार्य—१४७, १४८, १५०
१६४,१८०
रुद्र मित्र—१६०
रोशनलाल वैरिस्टर—१४९

ल

लक्ष्मण नारायण गर्दे—१९१
लक्ष्मण प्रसाद—२५१
लक्ष्मणसिंह राजा—१४,१३७
लक्ष्मण स्वरूप डा०—२६३
लक्ष्मीदत्त पं०—९८
लक्ष्मीदेवी माता—१३५
लछमन दास—३१
ललिता प्रसाद बाबू—१८२
लल्लू लाल—१२
लाजपतराय लाला—८९,१४२,२५९
लाड़ी माई—१३०
लेखराम पं०—७३,१४३,१६६,१८३, २१५,
२३७

व

वंशीधर पाठक—१८२
वजीरचन्द विद्यार्थी—१५१
वसुदेव—१९३
वागीश्वर पं०—१५७,२०९
वामन आचार्य—२२२
वासुदेव शरण अग्रवाल—१७४,२२३
विद्यावती शर्मा—१६०
विद्यावती सेठ—१३४,२६०
विनोबा आचार्य—१५९
विरजानन्द स्वामी—३,२१,३२,१७८, २०३
विलियम वेंटिग लार्ड—१३६
विशुद्धानन्द स्वामी—२४,६५,८४

विश्वनाथ विद्यालंकार—१५६,१७२
विश्व प्रकाश—१५८
विश्वबन्धु शास्त्री—२५९
विश्वम्भर दयाल शर्मा—१५४
विश्वम्भर प्रसाद शर्मा—११८
विश्वेश्वर आचार्य—१२५,२२२,२२३
विश्वेश्वर सिंह—७६
विष्णुदत्त—२४९
विष्णुपंत—५९
विष्णुलाल—२६१
वेदानन्द तीर्थ—१७०
वेदानन्द स्वामी—१६०,१७०

श

शंकरानन्द स्वामी—२३६
शकुन्तला देवी—१३२,१५६
शन्नोदेवी—२५९
शान्तिवीर आर्य—२१५
शिवप्रसाद राजा—१४,६५,८४,९३,१३७
शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ—१५०,१६९
शिवानन्द पुरी—१९
शीतल प्रसाद दुबे—२५०
श्यामजी कृष्ण वर्मा—११६
श्यामसुन्दर लाल बाबू—१८२
श्रद्धानन्द स्वामी—४१,४२,४६,४८,६१,६३,७५
श्रीकृष्णलाल डा०—१९१,२२६
श्रीकृष्ण शर्मा आर्य—२४८,२४९
श्रीनारायण चतुर्वेदी—२२२
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर—१७२

स

संतराम पं०—१३२,१५३,१५५,१७३,२५९
सज्जन सिंह महाराणा—२९,६६,७१,११६
सत्यकाम—१५९
सत्यकेतु विद्यालंकार—२६५
सत्यदेव विद्यालंकार—१६८
सत्य नारायण—१५८
सत्य नारायण कविरत्न—२३०
सत्यपाल महोपदेशक—२४०, २४२, २६६, २६८,२७०,२७१
सत्यव्रत पं०—१५७
सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी—७७,१६५
सत्यव्रत सामश्रमी—९७
सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—२५५
सत्याचरण शास्त्री—२४९
सत्यानन्द स्वामी—१६५
सदासुख लाल मुन्शी—१२
समर्थदान मुन्शी—७६, ७८, ८१, १९४
सरयूप्रसाद डा०—२२५
सर्वंती देवी—२४८
सहजानन्द स्वामी—८१
सायण—९, ४५, ४६, ४७
सावित्री देवी—१५०
सावित्री देवी प्रभाकर—२०५
सीताराम बाबू—१२५
सीताराम सर—२६२
सी० वाई चिन्तामणि—२६१
सुखलाल आर्य मुसाफिर—१९६, १९८
सुदर्शन—१७९, २३०, २५९
सुधाकर प्रोफेसर—२६५
सुधीन्द्र बोस डा०—२३८
सुमंगली देवी—२४५
सूबा बहादुर सिंह डा०—२१६
सूर्यकान्त शास्त्री २२४
सूर्यदेव शर्मा डा०—११९, २०३, २०६, २०८, २१०, २१३, २१५, २१८
सूर्य देवी—२५१
सूर्य प्रसाद—१८२
सैयद अहमद खाँ—५५
सोम देव—२५६
स्काट पादरी—६४
स्वतंत्रानन्द स्वामी—२४१,२४३,२४५,२४६

ह
हंसराज महात्मा—१६८, २३६, २५९,
हरदेवी—१४८
हर विलास शारदा—४, ७३, ७७
हरिदत्त शास्त्री—२२२
हरिशंकर शर्मा—१५०, १५९, २०१, २०२
२०५, २२१, २२९
हरिश्चन्द्र बाबू भारतेन्दु—१४, १५, ६६,
९४, ९६, १३०
१३९, १८४,
१८६, १८७
२५८
हरिश्चन्द्र विद्यालंकार—१७९
हेनरी पिनकाट—१४
हेनरी पोलक—२३८
हैवेल एम० एस०—५६

(ख) ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकायें

अ
अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—२२५
अक्षर दीपिका—१३२
अथर्ववेद—४४, ४५, ४८
अथर्ववेद का भाष्य—१२२
अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र—१६९
अद्वैतवाद—१७७
अनुभ्रमोच्छेदन—८४
अनुरागरत्न—१९९
अबोध निवारण—८३
अर्जुन—१५६
अर्थवेद—४८, १६९
अलंकार—१५६, २६०
अष्टाध्यायी—४८, ६५
अष्टाध्यायी भाष्य—३२, ८५
आ
आज—१४०
आत्म चरित—८३
आत्मदर्शन—१७४
आधुनिक काव्य धारा—१९०
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—२२६
आयुर्वेद—४८
आर्य—१५४
आर्य कुमार—१५४
आर्य कुमार गीता—११८
आर्य गजट—१५७
आर्य जगत—१५७
आर्य जीवन—१५७
आर्य दर्पण—१४१, १४५, १४६
आर्य धर्म—१७७
आर्य धर्मेन्द्र जीवन—१६५
आर्यपत्र—१४७
आर्य पत्रिका—२४७
आर्य पथिक लेखराम—१६८
आर्य प्रकाश—२७
आर्य भूषण—१४१, १४५, १४६
आर्य मत मार्तण्ड—१८०, १८१
आर्य मार्तण्ड—१५६
आर्य मित्र—१४९, १८९
आर्य योग प्रदीप—१६९
आर्य विनय—१४७
आर्य वीर—२४२, २४७, २६८
आर्य शक्ति—१६०
आर्य सन्देश—१५९
आर्य समाचार—१४१, १४७
आर्य समाज—१७९
आर्य समाज का इतिहास—१७८, १७९
आर्य समाज क्या है—१०८, ११२
आर्य सिद्धान्त विमर्श—१७०

आर्याभिविनय—८१, ८२
आर्यावर्त—१४७, १४८
आर्योदय—२४७
आर्योद्देश्यरत्न माला—८३, १८१
आस्तिकवाद—१७६, २६५

इ

इंडियन विजडम—१७३

ई

ईश (उपनिषद)—४९, १६९, १७१
ईश्वर की सत्ता—११२, १८२
ईश्वर भक्त—११२, १८२
ईसाई मत परीक्षा—११२, १८२

उ

उपनिषद—४९
उपनिषद सुधा सागर—१६९
उपनिषदों की भूमिका—१६९
उरु ज्योति—१७४
उषा—१५३

ऋ

ऋग्वेद—४१, ४४, ४५, ४८, १६९
ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—४१, ४३, ४५, ४८, ६५, ९२
ऋभु देवता—१७२
ऋषि दयानन्द के उपकार—१०९
ऋषि दयानन्द चरित—२१६
ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन ६६, १८३, २५२
ऋषि सन्देश—१७७

ऐ

ऐतरेय (उपनिषद) १६९, १७१
ऐतिहासिक दृश्य माला—१३२

ओ

ओंकार निर्णय—१६९

क

कंठी जनेऊ का व्याह—१८०, १८१
कठ उपनिषद ४९, १६९, १७१
कथा विधि—१३२
कर्म भूमि—२२८
कर्मयोग—१७७
कर्म रहस्य—१७४, १७५
कल्याण मार्ग का पथिक—१६३
कवि वचन सुधा—९७
कात्यायनादि सूत्र—१४९
काया कल्प—२२८
कालेज होस्टल—१७९
केन उपनिषद—४९, १६९, १७१, १७७
कैवल्य उपनिषद—४९

ग

गंगा माहात्म्य—११२, १८२
गबन—२२८
गल्प मंजरी २३०
गन्धर्व वेद—४८
गुरुकुल—१२३. १५८
गुरुकुल पत्रिका—१२३, १५८
गुरुकुल समाचार—१५७
गुरुदत्त लेखावली—१७३
गो करुणा निधि—८४, १८१
गोपथ—१६९

च

चन्द छन्द बरनन की महिमा—१२
चन्द्रावली—१२
चमू देवता—१०९
चरक—४८
चाँद—१५३

छ

छन्द—४९
छान्दोग्य (उपनिषद)—४९, १६९

ज

जनसत्ता—१५६
जलविद सखा—१३८, १५६
जागृति—१५९, २४७
जाति निर्णय—१६९

जीवन चक्र—१६८
जीवन ज्योति—१७७
जीवात्मा—१७६
ज्योति—१३४

त

तत्वज्ञान—१७७
तर्क से वेद का अर्थ—१७२
तिमिर नाशक—१४९
तीर्थ यात्रा—२३०
तुम्हारी भाषा क्या है—१८२
तैत्तिरीय (उपनिषद) ४९, १६९, १७१
त्याग की भावना—१२२

थ

थियोसोफिस्ट—१६५

द

दक्षिण अफ्रीका के मेरे अनुभव—२३८
दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास—२३८
दयानन्द की दिन चर्या—१६५
दयानन्द चरित—१६७
दयानन्द चरितामृत—२१६
दयानन्द दिग्विजय—१६५
दयानंद जन्म शताब्दी मथुरा वृत्तान्त—१०८
दयानन्द पत्रिका—१५३
दयानन्द प्रकाश—१६५
दयानन्द शतक—१७७
दयानन्द सिद्धान्त भास्कर—१०८
दयानन्दायन—२१६
दान मीमांसा—१३२
दिग्दर्शन—१३६
दिग्विजय—१४५
दीपक—१७७
दूसरीपाठावली—१३२
देव यज्ञ—१२३

ध

धनुर्वेद—४८
धर्मप्रकाश—१४१
धर्मवीर—१५४, २३७, २३८

न

नवजीवन—१५४
नासिकेतोपाख्यान—१२
निरुक्त—४५, ४९
निरुक्त का मूल वेद में—१०९
निरुक्त भाष्य—१७३
निर्मला—२८८
नीति विवेचन—१७७
नेटाली हिन्दू—२३८
न्याय—४३

प

पंचमहायज्ञ विधि—८०
पत्र कौमुदी—१३२
पद्मावत—२२३
पद्मपराग—२३०
पद्मसिंह शर्मा के पत्र—२३१
परमात्मा का स्वरूप—१७७
परोपकारी—१४९
पर्व पद्धति—१०८
पहली पाठावली—१३२
पांचाल पंडिता—१३२, १५०
पाखंड मूर्ति—१८०
पाठशाला की कन्या—१३२
पुरुषार्थ प्रकाश—१७७
पुष्पलता—२३०
पूर्वमीमांसा—४३, ४५, ६५,
प्रकाश—१५७
प्रथमजा—१७४
प्रवासी की आत्मकथा २३८
प्रश्न (उपनिषद) ४९, १६९, १७१
प्रेम सागर—१२
प्रेमा—२२८

ब

बंगदूत—१३६

बंगाल गजट—१३६
बंगाल हेरल्ड—१३६
बाल विनय—१३२
बालोद्यान संगीत—१३२
बिहारी सतसई—२६५
बिहारी सतसई का भाष्य—२२४
बैताल पचीसी—१२
ब्रजभाषा—२२४
ब्रह्म यज्ञ—१३२
ब्रह्मावर्त—१४९
ब्रह्मर्षि—१५४
ब्रह्मोनिकल मैगजीन—१३६
ब्राह्मण (ग्रंथ) १४४

भ

भजन भास्कर—१०८
भाग्य का राज्य—२३०
भाग्य चक्र—२३०
भारत दुर्दशा—१८६
भारत भगिनी—१४८
भारत मित्र—१३७
भारत वर्ष का इतिहास—१२२
भारत सुदशा प्रवर्तक—९८, १४१, १४६, १६४, १६६
भारती—१३२, १५५
भारतीय इतिहास की रूपरेखा—२६५
भारतीय साधना और सूर साहित्य—२२५
भारतोदय—१५३, २३०
भाषा विज्ञान—२२१
भौतिकी—१२२
भृगु देवता—१२३
भृगु संहिता—४९
भ्रमोच्छेदन—८४
भ्रान्ति निवारण—८३

म

मनुस्मृति—४९
मनोविज्ञान—२६५
मरुत—१२३
महर्षि-दर्शन—१७७
महर्षि श्री स्वामी दयानंद सरस्वती का जीवन चरित—१६५
महात्मा बुद्ध का जीवन चरित्र—१८२
महाभारत—४९
महाभाष्य—४८, ६५
महर्षि देवता—१०९
मांस भक्षण निर्णय—१८२
माण्डूक्य (उपनिषद)—४९, १६९, १७१
माधवनल—१२
मानव धर्म—१८२
मानव पथ—१६०
मायाधारी—१३२
मीमांसा—५०
मीरातुल अखबार—१३६
मुंडक (उपनिषद) ४९, १६९, १७१
मोरिशस का इतिहास—२४७
मौर्य साम्राज्य का इतिहास—२६५
मृत्यु और परलोक—१७४, १७५

य

यजु (वेद)—४४, ४५, ४८
यजुर्वेद भाष्य—६५, ९१, १७१
यम पितृ परिचय—१०८, १६९
योग—४३
योग भाष्य—४९
योग रहस्य—१७१
योग वासिष्ठ—१२
योगेश्वर कृष्ण—१२२

र

रंगभूमि—२२८
रस रत्नाकर—२२१
रसायन—१२२
राजस्थान समाचार—१४९

ल

लाला देवराज—१६८

व

वरुण की नौका—१७०
वर्ण व्यवस्था—११२, १८२
वानर और राक्षस मनुष्य थे—१०९
विचारधारा—२३१, २३३
विदेशों में आर्यसमाज—१०८
विरजानंद का जीवन चरित—१६८
विश्वमित्र—१४०
वेद—४३, ४४, ४५
वेद पथ—१६०
वेद प्रकाश—१४६, १४७
वेद में इतिहास नहीं—१६९
वेद में कृषि—१७२
वेद में चरखा—१७२
वेद में रोग जन्तु—१७२
वेद में लोहे के कारखाने—१७२
वेद रहस्य—४१
वेद वाणी—१६०
वेद विरुद्ध मत खंडन—८१,१८१
वेदान्त—४३, ५०
वेदान्त तत्त्व कौमुदी—१६९
वेदान्त सूत्र—३२
वेदान्तिध्वान्त निवारण—८१, १८१
वेदामृत—१७०
वेदार्थ कोष—१२२, १२३
वेदों में असित शब्द—१०८
वेदोदय—१५८
वैदिक अध्यात्म विद्या—१७२
वैदिक इतिहासार्थ निर्णय—१६९
वैदिक कर्तव्य शास्त्र—१७२
वैदिक जल विद्या—१७२
वैदिक जीवन—१७२
वैदिक ज्योतिष शास्त्र—१६९
वैदिक धर्म—१७०
वैदिक धर्म और आर्य सभ्यता—२३८
वैदिक धर्म की विशेषता—१७२
वैदिक पशु यज्ञ-मीमांसा—१७२
वैदिक प्राण विद्या—१७२
वैदिक मनोविज्ञान—१६९
वैदिक मार्तण्ड—१५५
वैदिक रथ—१०९
वैदिक राज्य पद्धति—१७२
वैदिक वाङ्मय का इतिहास—१७१
वैदिक विनय—१२२, १६९
वैदिक वीर गर्जन—१७२
वैदिक सन्ध्या, रहस्य—१०८
वैदिक सन्देश—१५६, २४९
वैदिक सिद्धान्त—१०८
वैदिक सभ्यता—१७२
वैदिक सम्पत्ति—१७२
वैदिक सूक्ति—१७२
वैदिक सूर्य-विज्ञान—१७२
वैदिक स्वदेश भक्ति—१७०
वैदिक स्वप्न विज्ञान—१२३, १७२
वैदिक स्वराज्य की महिमा—१७२
वैदिक स्वाध्याय मंजरी—१७२
वैशेषिक ४३, ५०
वृहत्तर भारत—१२२
वृहदारण्यक—४९, १६९
व्यवहार भानु—६१, ८४, १८१
व्याकरण—४८

श

शंकर सरोज—१९९
शंकर सर्वस्व—१९९
शंकरानन्द संदर्शन—२३८
शकुन्तला नाटक—१२
शतपथ—४५
शतपथ में एक पथ १२३, १६९
शतपथ बोधामृत १७२
शतपथ ब्राह्मण का भाष्य १२२
शब्दावली—१३२
शिक्षा—४८

शिक्षापत्रीध्वान्त निवारण—८१
शिक्षा मनोविज्ञान—२६५
शिक्षित और किसान—२३८
शहीद श्रद्धानन्द—११८
श्रद्धा—१२३, १५५
श्री १०८ महर्षि स्वामी दयानन्द का जीवन चरितम्—१६५
श्वेताश्वर उपनिषद—४९, १६८, १६९

स

संत वाणी—१३२
संस्कार विधि—३७, ८२, ११६
संस्कृत वाक्य प्रबोध—८३
सांख्य—४३, ५०
सिंहासन वतीसी—१२
सत्य प्रकाश—११२, १८२
सत्यवादी—१५६, १५७
सत्य सनातन धर्म—१५४
सत्य सागर—८०
सत्याग्रही गांधी—२३८
सत्यार्थ प्रकाश—२६, ३४, ३७, ५०, ५८, ६६, ६८, ७२, ७६, ७८, ७९, ९६, ९७, १००, १०४, १०८, १०९, ११६ १४९, २१२, २१४, २१७, २३७, २४८, २४९,
सद्धर्म प्रचारक—१२०, १५०, १५२, १८८ २५८, २६०
सन्ध्या संगीत—२१८
सन्ध्योपासन—११२, १८२
समाचार दर्पण—१३६
सम्राट—१५९
सरस्वती—२३०
सर्व मेघ यज्ञ—१७२
साम (वेद)—३३, ५०
सामवेद—१६८
सामान्य भाषा विज्ञान—२२०
सार्वदेशिक—१५७
सावित्री नाटक—१३२
सुप्रभात सुधा—२३०
सुदर्शन सुमन—२३०
सुप्रभात—२३०
सुबोध कन्या—१३२
सुश्रुत—४८
सूरसागर—२३०
सूर सौरभ—२२६
सेवा सदन—२२८
सोम सरोवर—१२२
स्वर्ग—१२३
स्वर्ग में महासभा—१६४, १८०
स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी—१६४, १८०
स्वाध्याय संग्रह—१७७
स्वाध्याय सुमन—१७०
स्वामी दयानन्द—१६५, २०३
स्वामी श्रद्धानन्द—१६८

ह

हमारी कारावास कहानी—२३८
हरिजन सेवक—१४०
हरिश्चन्द्र चन्द्रिका—९७, १३७
हरिश्चन्द्र मैगजीन—१३७
हिन्दी—१५६, २३७, २३८
हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी—२३१
हिन्दी काव्यालंकार सूत्र—१२५, २२२
हिन्दी कुसुमांजलि—१२५
हिन्दी तर्क भाषा—१२५
हिन्दी ध्वन्यालोक—१२५, २२२
हिन्दी प्रदीप—१३७
हिन्दी भाषा का इतिहास—२१९
हिन्दी मिलाप—१५८
हिन्दुस्तानी—२४७
हिन्दू मोरिशस—२४७

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	३४	अत्काट	अल्काट
१९	१२	आबू पर्वत	आबू पर्वत पर
२२	१६	कर्नल बुक	कर्नल ब्रुक
४५	२९	उध्वट	उव्वट
४७	१ पाद टिप्पणी,	प्रावृत्ति	आवृत्ति
४७	२५	एत छेशीय	एतद्देशीय
४८	१९	अक्	ऋक्
४८	५ पाद टिप्पणी	भगवहत	भगवद्दत
८३	१०—११	आत्म चरित्र	आत्म चरित
९९	१२—१३	स्थुलाकार	स्थूलाकार
१०८	२२	निर्माण अर्ध	निर्वाण अर्द्ध
१०९	२१	निशक्त	निरुक्त
११०	९	Nonvating	Nonvoting
११२	७	गंगा महात्म्य	गंगा माहात्म्य
११२	३०	आर्य मार्तन्ड	आर्य मार्तण्ड
११४	२७	विज्ञाप्तियाँ	विज्ञप्तियाँ
११९	४	सिद्धान्त शात्री	सिद्धान्त शास्त्री
१२३	२	सृमु देवता	ऋभु देवता
१३७	२५	पेश किये	फेंक दिये
१४२	१५	गुरकुल	गुरुकुल
१४६	८	दुर्दशा समर्थक	दुर्दशा प्रमर्दक
१४८	११ पाद टिप्पणी,	वी मदयानन्दाद्व	श्री मद्दयानन्दाब्द
१५५	१	वदिक मार्तंड	वैदिक मार्तंड
१७७	१९	पुरूष	पुरुष
१८६	२८	स्वामी दवानन्द	स्वामी दयानन्द
१८७	८	स्वामी दयान्द	स्वामी दयानन्द
१९१	२१	यथातत्य	यथातथ्य

२२८	८	प्रमाता	प्रमाण
२३१	२	अपति	अर्पित
२३८	११	नेपाली हिंदू	नेटाली हिंदू
२३८	३०	एंडूज	एंड्रूज
२४०	१७	उपर्बुध	उषर्बुध
२४०	१ पाद टिप्पणी	उपर्बुध	उषर्बुध
२४९	२४	मेहता जेमनी	मेहता जैमनि